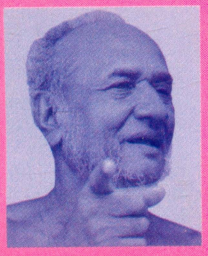
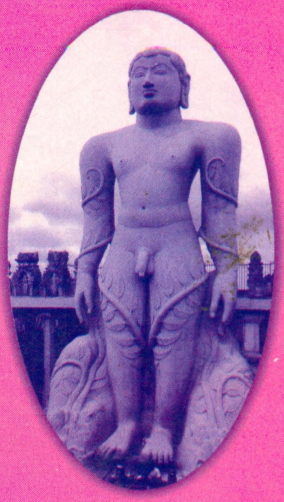
जैन विद्या के विविध आयाम

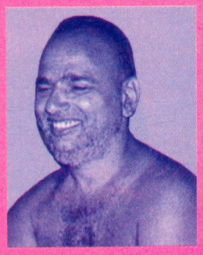
जैन विद्वत् सम्मेलन में विद्वानों
द्वारा प्रस्तुत शोध आलेखों का सार-संक्षेप

प्रेरक मार्गदर्शन

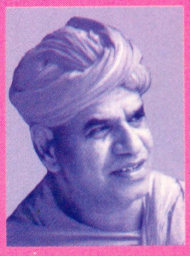




पावन सान्निध्य



कुशल नेतृत्व



श्रीक्षेत्र श्रवणबेलगोला (कर्नाटक) में

अखिल भारतीय जैन विद्वत् सम्मेलन

All India Jaina Scholar Conference
at Shri Shravanbelgola (Karnataka)

28 से 31 दिसम्बर, 2005 एवं 1 जनवरी, 2006

प्रकाशक एवं आयोजक

गोम्मटेश्वर भगवान् श्री बाहुबली स्वामी
महामस्तकाभिषेक महोत्सव समिति, २००६
श्रवणबेलगोला - 573135, जिला - हासन (कर्नाटक)

अखिल भारतीय जैन विद्वत् सम्मेलन

आयोजन समिति

परामर्शक मण्डल

पं. नीरज जैन, सतना पं. नरेन्द्र प्रकाश जैन, फिरोजाबाद
पं. मल्लिनाथ शास्त्री, चेन्नई प्रो. हम्पा नागरज्जैया, बैंगलोर
प्रो. एस.पी. पाटिल, सांगली

अध्यक्ष

प्रो. राजाराम जैन, नोएडा (उ.प्र.)

निर्देशक

प्रो. प्रेम सुमन जैन, उदयपुर

संयोजक

प्रो. फूलचन्द जैन प्रेमी,
प्रोफेसर एवं अध्यक्ष जैनदर्शन विभाग
सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी

सदस्य

पं. वृषभदास शास्त्री, श्रवणबेलगोला
(स्थानीय समन्वयक)

डॉ. अनेकान्त कुमार जैन, नई दिल्ली

सम्पर्क सूत्र

प्रो. फूलचन्द्र जैन प्रेमी, बी-23/45 पी-6, अनेकान्त भवन, शारदानगर कॉलोनी, खोजवां,
वाराणसी

जैन विद्या के विविध आयाम

(अखिल भारतीय जैन विद्वत् सम्मेलन में विद्वानों द्वारा प्रस्तुत शोध आलेखों का सार-संक्षेप)

संपादन

प्रो० फूलचन्द जैन प्रेमी, वाराणसी

संयोजक

अखिल भारतीय जैन विद्वत् सम्मेलन

प्रकाशक/आयोजक

गोम्मटेश्वर बाहुबली स्वामी महामस्तकाभिषेक महोत्सव समिति-२००६

श्रवणबेलगोल-५७३१३५, जिला-हासन (कर्नाटक)

दो शब्द

गोम्मटेश्वर भगवान् बाहुबली स्वामी के भव्य महामस्तकाभिषेक महोत्सव की पूर्व वेला में आयोजित पञ्चदिवसीय अखिल भारतीय जैन विद्वत्सम्मेलन में आयोजन समिति की ओर से आप सभी का हार्दिक स्वागत करते हुए अपार प्रसन्नता का अनुभव हो रहा है। इस शीत ऋतु में यात्रा के अनेक कष्टों को सहते हुए आप सभी मनीषी इस सम्मेलन को पूर्ण सफल बनाने हेतु दूर-दूर से पधारे, यह सब आप लोगों का जैनविद्या और इस पावन क्षेत्र के प्रति गहरे अनुराग को प्रकट कर रहा है। महामस्तकाभिषेक के पुनीत अवसर पर विद्वत्सम्मेलन के आयोजनों की प्राचीन परम्परा रही है। इसी परम्परा की शृङ्खला में इस सम्मेलन का आयोजन अनेक दृष्टियों से महत्त्वपूर्ण है। जैनविद्या के विविध आयामों के विकास हेतु देश के कोने-कोने से पधारे शताधिक जैन मनीषियों, विशाल श्रमण संघों एवं श्रावक समुदाय का ऐसा अद्भुत मिलन बहुत दुर्लभता से हुआ है। हम सभी इसका लाभ उठाते हुए परस्पर एक दूसरे के द्वारा किये जा रहे अनुसन्धान कार्यों, प्राचीन आचार्यों के मूल ग्रन्थों के सम्पादन/अनुवाद, नयें मौलिक साहित्य सृजन आदि कार्यों की जानकारी प्राप्त कर जैनविद्या एवं अपने आध्यात्मिक विकास हेतु संकल्पबद्ध हो सके तो यह बहुत बड़ी उपलब्धि होगी। जैन आगमों में कहा है--

जेण तच्चं विबुज्झेज्ज, जेण चित्तं णिरुज्झदि।

जेण अत्ता विसुज्झेज्ज तं णाणं जिणसासणे।।

अर्थात् जिनेन्द्रदेव के शासन में उसी को ज्ञान कहा गया है जिससे तत्त्वों का बोध होता है, जिससे चित्त का निरोध होता है तथा जिससे आत्मा विशुद्ध होती है। जिनवाणी का यही सार भी है।

इस सम्मेलन में जहाँ जैनधर्म की प्राणभूत तीर्थङ्कर-परम्परा, अपने देश का भारतवर्ष नाम देने वाले चक्रवर्ती भरत, महायोगी बाहुबली , श्रुतकेवली भद्रबाहु सहित अन्यान्य जैनाचार्यों आदि के महत्त्वपूर्ण योगदान, साहित्य एवं संस्कृति के विविध पक्षों पर शोध आलेखों एवं परिचर्चाओं आदि के माध्यम से इस सम्मेलन में अनेक नये तथ्यों का उद्घाटन होगा - ऐसा विश्वास है।

इस सम्मेलन में सम्माननीय सरस्वती-पुत्रों द्वारा प्रस्तुत होने वाले शोध आलेखों का सार-संक्षेप ***जैन विद्या के विविध आयाम*** के रूप में संकलित कर प्रकाशित किया जा रहा है, ताकि सम्मेलन में शोध आलेख प्रस्तुत करने वाले विद्वान् के आलेख का सार निष्कर्ष रूप में सामने आ सके। इस संकलन को प्रकाशित करने में काफी लम्बा श्रम करना पड़ा। प्रूफ रीडिंग आदि तथा सैद्धान्तिक त्रुटियाँ न रहें--इन सब का विशेष ध्यान रखा गया है, फिर भी कहीं न कहीं त्रुटियाँ शेष रहना सम्भव है, अत: ऐसी कमी कहीं दृष्टिगोचर हो तो कृपया उन पर ध्यान आकर्षण कराने का कष्ट करें, ताकि मूल आलेखों के प्रकाशन के समय उन पर विशेष ध्यान रखा जा सके। अनेक तीर्थङ्करों का परिचय तथा अन्य अनेक विषय अभी अवशिष्ट रह गये हैं, जिनका प्रकाशन सम्बन्धित विशिष्ट विद्वानों के आलेखों द्वारा कराने का भाव है। इस सार संक्षेप के प्रकाशन में सभी विद्वानों, गुरूजनों तथा अन्य अनेक मनीषियों का जो आत्मीय सहयोग, मार्गदर्शन और सौजन्य प्राप्त हुआ उसके प्रति हार्दिक कृतज्ञता ज्ञापित करता हूँ।

प्रो. फूलचन्द जैन 'प्रेमी'

विषय-सूची

पृष्ठसंख्या

१. जैनधर्म में तीर्थङ्कर की अवधारणा और तीर्थङ्कर-परम्परा
- डॉ. देवकुमार जैन, रायपुर १

२. कर्म-सिद्धान्त में तीर्थङ्कर प्रकृति की महत्ता - पं. आनन्दप्रकाश जैन शास्त्री, कोलकाता ३

३. पञ्चकल्याणक : सम्यक् जीवनशैली का दिग्दर्शक
- ब्र. जयकुमार, निशान्त, टीकमगढ़ ६

४. पञ्चकल्याणक प्रतिष्ठाओं का स्वरूप और उपयोगिता : वर्तमान परिप्रेक्ष्य में
- पं. विनोदकुमार जैन. रजवांस ७

५. तीर्थङ्करों के पञ्चकल्याणकों का वैशिष्ट्य: एक विश्लेषण
- डॉ. अनिलकुमार जैन, अहमदाबाद ९

६. चौबीस तीर्थङ्करों के केवलज्ञान प्राप्ति वाले वृक्ष और उनका वैशिष्ट्य
- डॉ. राकेशकुमार गोयल, बोधगया ११

७. तीर्थङ्कर ऋषभदेव और उनका युग - डॉ. अशोककुमार जैन, लाडनूं १३

८. तीर्थङ्कर ऋषभदेव का व्यक्तित्व एवं कर्तृत्व - प्रो. लालचन्द्र जैन, भुवनेश्वर १५

९. तीर्थङ्कर ऋषभदेव का शिक्षा-दर्शन - डॉ. चन्द्रकान्ता जैन, सागर १७

१०. भगवान् ऋषभदेव का मानव सभ्यता को योगदान
- प्रो. नलिन के. शास्त्री, दिल्ली १९

११. भारतीय समाज और संस्कृति के विकास में ऋषभदेव का योगदान
- डॉ. श्रीरंजनसूरिदेव, पटना २०

१२. आदिपुराण में वर्णित भगवान् ऋषभदेव - डॉ. मुमुक्षुशान्ता जैन, लाडनूं २२

१३. Bhagwan Ādinath Cult in Andhra - Dr. G. Jawahar Lal, Rajamundry २७

१४. तीर्थङ्कर अभिनन्दननाथ एवं उनकी पञ्चकल्याणक भूमियाँ
- डॉ. कृष्णा जैन, ग्वालियर २८

१५. तीर्थङ्कर सुमतिनाथ और उनकी पञ्चकल्याणक तीर्थ-भूमियाँ
- श्रीमती डॉ. राका जैन, लखनऊ ३०

१६. तीर्थङ्कर सुपार्श्वनाथ एवं उनकी पञ्चकल्याणक तीर्थ-भूमियाँ
- डॉ. कमलेशकुमार जैन, वाराणसी ३५

१७. तीर्थङ्कर चन्द्रप्रभु विषयक साहित्य और उनका जीवन
- डॉ. ऋषभचन्द्र जैन फौजदार, वैशाली ३७

१८. तीर्थङ्कर शीतलनाथ और उनकी पञ्चकल्याणक भूमिका
- पं. कमलकुमार जैन शास्त्री, कोलकाता ३८

१९. जैन-साहित्य एवं शिल्प में तीर्थङ्कर वासुपूज्य और उनकी पञ्चकल्याणक भूमियाँ
- अनूपचन्द्र जैन, फिरोजाबाद ४०

२०. तीर्थङ्कर विमलनाथ एवं उनकी पञ्चकल्याणक तीर्थ-भूमियाँ
- प्राचार्य निहालचन्द्र जैन, बीना ४२

२१. तीर्थङ्कर अनन्तनाथ और उनके पञ्चकल्याणक
- पं. सिद्धार्थ जैन, सतना ४५

२२. तीर्थङ्कर शान्तिनाथ विषयक साहित्य और उनका पावन चरित
- पं. शिवचरनलाल जैन, मैनपुरी ४७

२३. तीर्थङ्कर कुन्थुनाथ का जीवनचरित और उनकी पञ्चकल्याणक-भूमियाँ
- डॉ. कस्तूरचन्द्र 'सुमन' श्रीमहावीरजी ४९

२४. तीर्थङ्कर अरहनाथ और उनकी पञ्चकल्याणक-भूमियाँ
- डॉ. नरेन्द्रकुमार जैन, सनावद ५२

२५. दिगम्बर जैन-साहित्य में वर्णित तीर्थङ्कर मल्लिनाथचरित एवं उनकी पञ्चकल्याणक-भूमियाँ
- प्राचार्य डॉ. शीतलचंद्र जैन, जयपुर ५५

२६. तीर्थङ्कर नेमिनाथ एवं उनकी ऐतिहासिकता - डॉ. विजयकुमार जैन, लखनऊ ५७

२७. भगवान् नेमिनाथ के पञ्चकल्याणक - पं. पवनकुमार जैन शास्त्री 'दीवान', मोरेना ५९

२८. तीर्थङ्कर नेमिनाथ की जन्म और निर्वाण कल्याणक-भूमियाँ
- ज्ञानमल शाह, अहमदाबाद ६१

२९. प्राकृत-अपभ्रंश साहित्य में नेमिनाथचरित - श्रीमती डॉ. सरोज जैन, उदयपुर ६६

३०. तीर्थङ्कर पार्श्व के कतिपय विचारणीय प्रसंग - डॉ. जिनेन्द्र जैन, लाडनूं ६९

३१. तीर्थङ्कर पार्श्वनाथ सम्बन्धित प्रमुख दिगम्बर जैन तीर्थों और मन्दिरों का वैशिष्ट्य
- पं. लालचन्द्र जैन 'राकेश', गंजबासौदा ७०

३२. तीर्थङ्कर पुष्पदन्त और उनकी पञ्चकल्याणक तीर्थ-भूमियाँ
- डॉ. कमलेशकुमार जैन, जयपुर ७२

३३. तीर्थङ्कर महावीर तथा उनकी पञ्चकल्याणक-भूमियाँ
- डॉ. सुरेन्द्रकुमार जैन, बुरहानपुर ७३

३४. ब्राह्मी लिपि : उद्भव और विकास - डॉ. (श्रीमती) मुन्नी पुष्पा जैन, वाराणसी ७६
३५. श्रमण-परम्परा और श्रुतस्थापना - रतनचन्द्र जैन नेमिनाथकोटि इण्डी ७९
३६. पालि-साहित्य में उल्लिखित जैनधर्म विषयक प्राचीन सन्दर्भ - प्रो. धर्मचन्द्र जैन, कुरुक्षेत्र ८१
३७. जैन एवं बौद्ध-परम्परा में निर्ग्रन्थ विवेचन - डॉ. विजयकुमार जैन, लखनऊ ८२
३८. जिनसेनाचार्यकृत आदिपुराण में प्रतिपादित भरत चक्रवर्ती चरित्र-चित्रण - सुश्री वीणा जैन, लाडनूँ ८४
३९. भरत बाहुबली - सुरेश जैन 'सरल', जबलपुर ८७
४०. गृहविरत भरत और योगीश्वर बाहुबली की आध्यात्मिक पृष्ठभूमि -अध्यात्मरत्नाकर पं. रतनचन्द्र भारिल्ल, जयपुर ८९
४१. गोम्मटेश्वर बाहुबली : एक नया चिन्तन - डॉ. हुकमचन्द्र भारिल्ल, जयपुर ९२
४२. जैन-साहित्य में भगवान् बाहुबली - प्रो. डॉ. पुष्पलता जैन ९४
४३. मध्ययुग के जैन-काव्यों में बाहुबलिचरित - डॉ. प्रेमचन्द्र रावंका, जयपुर ९९
४४. अमरचन्द्रकृत 'पद्मानन्द में भगवान् बाहुबली का चित्रण - डॉ. शेखरचन्द्र जैन, अहमदाबाद १०१
४५. बाहुबली की राजधानी पोदनपुर तक्षशिला - प्रो. प्रेम सुमन जैन, उदयपुर १०५
४६. बाहुबलिचरिउ : एक अप्रकाशित अपभ्रंश रचना - डॉ. कस्तूरचन्द्र सुमन, श्री महावीरजी १०८
४७. श्रीगोम्मटेश्वरस्तुतिमालै - डी. जम्बूकुमारन, पोलल, चैन्नई १०९
४८. *The Images of Bhagwan Bahubali and their Features and Importance* - *Prof. Maruti Nandan Prasad Tiwari, Varanasi* ११०
४९. भगवान् बाहुबली : चित्रकला के परिप्रेक्ष्य में - प्रो. डॉ. विमला जैन विमल, फिरोजाबाद ११२
५०. आचार्य नेमिचन्द्रसिद्धान्त चक्रवर्ती और गोम्मटेश्वर की प्रतिमा - निर्मल जैन, सतना ११४
५१. भरत-बाहुबली की मूर्ति का प्रतिमा वैज्ञानिक अध्ययन - नन्दलाल जैन, रीवा ११५
५२. श्रीगोम्मटेश्वर बाहुबली की मूर्ति और उनका मस्तकाभिषेक - कपूरचन्द्र पाटनी, गुवाहाटी ११६
५३. श्रवणबेलगोला के शिलाशासन - पं. भरतकुमार काला, मुम्बई १२०

५४. श्रवणबेलगोल के अभिलेखों में कतिपय जैनाचार्य
- डॉ. कपूरचन्द्र जैन, खतौली १२३
५५. श्रुतकेवली आचार्य भद्रबाहु और सम्राट् चन्द्रगुप्त मौर्य (प्रथम)
- प्रो. डॉ. राजाराम जैन, नोयडा १२५
५६. Socio-religious Aspects of Bhadra-bahu Chandragupta Maura
- Dr. Devendra Jain, Mumbai १२७
५७. श्रुतकेवली भद्रबाहु और श्रुतसंवर्धन में योगदान
- प्रो. डॉ. भागचन्द्र जैन 'भास्कर', नागपुर १२८
५८. श्रुतकेवली भद्रबाहु का जैन-संस्कृति के संरक्षण में योगदान
- डॉ. कल्पना जैन, नई दिल्ली १२९
५९. श्रुतकेवली भद्रबाहु और उनका समाधि-मरण - डॉ. श्रेयांसकुमार जैन, बड़ौत १३३
६०. ब्रह्म जिनदास विरचित : भद्रबाहु रास - डॉ. प्रेमचन्द्र रावंका, जयपुर १३५
६१. सम्राट् खारवेल का जैन-संस्कृति को अवदान- डॉ. सुदीप जैन, नई दिल्ली १३७
६२. आचार्य गुणधर और उनका कसायपाहुडसुत्त - डॉ. फूलचन्द्र जैन 'प्रेमी', वाराणसी १३८
६३. षट्खण्डागम की धवला टीका का भाषायी विश्लेषण
- प्रो० वृषभप्रसाद जैन, लखनऊ १४१
६४. षट्खण्डागम की धवला टीका के व्याकरणात्मक नियम
- डॉ. उदयचन्द्र जैन, उदयपुर १४२
६५. षट्खण्डागम में नय-सिद्धान्त के प्रयोग - डॉ. अनेकान्तकुमार जैन, नई दिल्ली १४४
६६. आचार्य कुन्दकुन्द और उनकी टीकाकारों की दृष्टि में स्वसमय और परसमय
- डॉ. हुकमचन्द्र भारिल्ल, जयपुर १४५
६७. आचार्य समन्तभद्र और उनका अवदान - डॉ. नेमिचन्द्र जैन, खुरई १५०
६८. आचार्य अमृतचन्द्रसूरि और उनका अवदान - डॉ. राजेन्द्र कुमार बंसल, अमलाई १५२
६९. आचार्य सोमदेवसूरि द्वारा प्रतिपादित अहिंसा - डॉ. जयकुमार जैन, मुजफ्फरनगर १५३
७०. भट्टारक-परम्परा का अवदान - डॉ. सुरेशचन्द्र जैन, नई दिल्ली १५५
७१. जैन-संस्कृति एवं साहित्य के विकास में दक्षिण भारत का योगदान
- रमाकान्त जैन, लखनऊ १५७
७२. जैन दार्शनिक साहित्य के विकास में दक्षिण भारतीय जैन मनीषियों का योगदान
- डॉ. श्रीमती सूरजमुखी जैन, मुजफ्फरनगर १६०

७३. दक्षिण भारत के जैनाचार्यों का आयुर्वेद के विकास में योगदान
- डॉ. हरिश्चन्द्र जैन, जामनगर १६३

७४. दक्षिण भारत के जैनाचार्यों का जैन-न्याय के विकास में योगदान
- पं. शान्ति पाटिल, जयपुर १६४

७५. तमिल जैन-साहित्य को श्रमणों की देन - पं. सिंहचन्द्र जैन शास्त्री, चेन्नई १६७

७६. जैन-संस्कृति का मुकुटमणि कर्णाटक एवं उसकी यशस्विनी कुछ श्राविकाएं
- प्रो. डॉ. श्रीमती विद्यावती जैन, नोयडा १६८

७७. स्वतन्त्रता संग्राम में दक्षिण भारतीय जैन महिलाओं और पुरुषों का योगदान
- डॉ. ज्योति जैन, खतौली १७०

७८. आश्चर्यकारी ग्रन्थ-सिरि-भूवलय - डॉ. महेन्द्रकुमार जैन 'मनुज', इन्दौर १७३

७९. जैन गणित का वैशिष्ट्य - डॉ. अनुपम जैन, इन्दौर १७६

८०. आयुर्वेद के विकास में जैन मनीषियों का योगदान
- आचार्य राजकुमार जैन, इटारसी १७८

८१. जैन ज्योतिष-परम्परा का वैशिष्ट्य - डॉ. जयकुमार एन. उपाध्ये, नई दिल्ली १८२

८२. षट्द्रव्य और उनकी अर्थक्रियाकारित्व - डॉ. दामोदर शास्त्री, नई दिल्ली १८५

८३. जैनदर्शन में षड्द्रव्य और उनका अर्थक्रियाकारित्व
- डॉ. धर्मचन्द्र जैन, जोधपुर १८७

८४. जैन तत्त्वमीमांसा का वैशिष्ट्य - सुश्री डॉ. राजकुमारी जैन, अजमेर १८८

८५. जैनधर्म के मूलतत्त्व और व्यावहारिक वेदान्त - स्वामी ब्रह्मेशानन्दजी, चण्डीगढ़ १९४

८६. जैन समुदाय भारत और विदेशों में : एक जनसंख्यात्मक अध्ययन
- डॉ. प्रकाशचन्द्र जैन, दिल्ली १९५

८७. जैन पत्रकारिता : दशा और दिशा - अखिल बंसल, जयपुर १९७

८८. जैन पुस्तकालयों के विकास के उपाय एवं दिशा-निर्देश
- डॉ. संजीव सर्राफ, वाराणसी २००

८९. Jaina Kings in India - Prof Satya Ranjan Banerjee २०३

जैनधर्म में तीर्थङ्कर की अवधारणा और तीर्थङ्कर-परम्परा

- डॉ. देवकुमार जैन, रायपुर

जैनधर्म में तीर्थङ्कर होते हैं पर ईश्वर नहीं। वह संसार सागर को स्वयं पार करने तथा दूसरों को पार कराने वाले महापुरुष, धर्म तीर्थ के प्रवर्तक, पञ्चकल्याणकों से पूजित प्रत्येक कल्प (चतुर्थकाल) में २४ होते हैं। इस प्रकार त्रिकाल की अपेक्षा अनन्तानन्त तीर्थङ्कर भूतकाल में हो चुके हैं एवं भविष्य में भी होते रहेंगे।

जैन-परम्परा के अनुसार हमारे इस दृश्यमान जगत् में काल का चक्र सदा घूमा करता है। यद्यपि कालचक्र का प्रवाह अनादि और अनन्त है, तथापि जैन-परम्परा में उस कालचक्र के छः विभाग हैं— सुषमा-सुषमा, सुषमा, सुषमा-दुषमा, दुषमा-सुषमा, दुषमा और दुषमा-दुषमा। सुख से दुःख की ओर जाने को अवसर्पिणी काल और दुःख से सुख की ओर जाने को उत्सर्पिणी काल कहते हैं। दोनों कालों की अवधि करोड़ों वर्षों से भी अधिक है। प्रत्येक अवसर्पिणी और उ त्सर्पिणी काल के दुःख-सुख रूप भाग में चौबीस तीर्थङ्करों का जन्म होता है,जो जिन अवस्था को प्राप्त कर जैनधर्म का उपदेश देते हैं। इस समय हम अवसर्पिणी काल के पांचवें विभाग से गुजर रहे हैं। चूँकि चौं विभाग का अन्त हो चुका है इसलिए इस काल में अब कोई तीर्थङ्कर नहीं होगा। इस युग के चौबीस तीर्थङ्करों में से भगवान् ऋषभदेव प्रथम और भगवान् महावीर अन्तिम तीर्थङ्कर हैं।

तीसरे काल विभाग में जब तीन वर्ष आठ माह ग्यारह दिन शेष रहे तब प्रथम तीर्थङ्कर ऋषभदेव का निर्वाण हुआ और चौथे काल विभाग में जब उतना ही काल शेष रहा तब अन्तिम तीर्थङ्कर महावीर का निर्वाण हुआ। दोनों का अन्तराल एक कोटा कोटि सागर (एक करोड़ गुणित एक करोड़) जैन पुराणों के अनुसार कल की सबसे बड़ी इकाई था।

तीर्थङ्करों की जन्मभूमि — सैद्धान्तिक नियमानुसार भरतक्षेत्र के समस्त तीर्थङ्कर अयोध्या में ही जन्म लेते हैं इसलिए उसे शाश्वत तीर्थ कहा जाता है; किन्तु हुण्डावसर्पिणी काल दोष के निमित्त से इस युग के चौबीसों तीर्थङ्कर अलग-अलग स्थानों में जन्में हैं। अतः २४ तीर्थङ्करों की कुल १६ जन्मभूमियाँ हैं।

तीर्थङ्करों का जन्म नाम कर्म की पुण्य प्रकृति से होता है और इसका बंध सोलह कारण भावना भाने से होता है।ऐसे परिणाम केवल मनुष्य भव में ही और यहां भी किसी तीर्थङ्कर अथवा केवली के पाद मूल में ही होना सम्भव है।

जैनधर्म में तीर्थङ्कर की अवधारणा — वीतराग, सर्वज्ञ और हितङ्कर के रूप में सर्वमान्य हैं। वीतरागता की अवस्था में राग, द्वेष और मोह का पूर्णतः अभाव हो जाता है। रागादि विकल्पों से रहित होकर वह सम्यक् दृष्टि भव्य जीव आत्मा में रमण करने लगता है तथा शुक्ल ध्यान, शुद्धोपयोग, उपेक्षा, संयम तथा निश्चय चारित्र के माध्यम से अन्तर्रात्मा का प्रत्यक्ष अनुभव करता है। उसकी चेतना केवलज्ञान रूप शुद्ध चेतना हो जाती है।

उसकी आत्मा के सम्पूर्ण विकारों और घातिया कर्मों का नाश हो जाता है और केवलज्ञान आदि अनन्त चतुष्टय प्रगट हो जाते हैं तथा वह सशरीर परमात्मा व सर्वज्ञ हो जाते हैं।

तीर्थङ्करों के गर्भ में आते ही उनकी माताओं को सोलह स्वप्न आते हैं जिससे यह ज्ञात होता है कि गर्भ में तीर्थङ्कर का ही जीव विकसित हो रहा है। उनके इन्द्रों एवं देव-देवियों एवं मनुष्यों द्वारा पञ्चकल्याणक मनाये जाते हैं। जैन-परम्परा में तीर्थङ्कर भगवान् के ३४ अतिशय एवं १००८ लक्षण सुप्रसिद्ध हैं। ये सभी तीर्थङ्कर क्षत्रिय कुल में ही जन्म लेते हैं।

समवसरण की रचना— सौधर्म इन्द्र की आज्ञा से कुबेर के द्वारा तीर्थङ्करों के योग्य समवसरण की रचना की जाती है जहाँ पर सभी भव्य जीव स्त्री-पुरुष, पशु-पक्षी और देवी-देवता तीर्थङ्करों का उपदेश सुनने के लिए दिव्य ध्वनि खिरने की प्रतीक्षा करते हैं। समवसरण के मध्य गन्धकुटी में तीर्थङ्कर भगवान् विराजमान रहते हैं, और भव्य जीवों को हितकारी उपदेश देते हैं।

दिव्यध्वनि— आचार्य कुन्दकुन्द स्वामी के दंसण-पाहुड ग्रन्थ के अनुसार तीर्थङ्कर केवली के बिना किसी चेष्टा के मेघगर्जना के समान अनक्षरात्मक ॐ ध्वनि खिरती है जो श्रोताओं के कर्ण में प्रवेश करते ही भाषा रूप में परिवर्तित हो जाती है। इसमें मागध देवों के सन्निधान के साथ ही तीर्थङ्करों का अतिशय भी रहता ही है। तीर्थङ्करों की ध्वनि ऐसी स्वाभाविक शक्ति होती है जिससे वह अट्ठारह महाभाषाओं और सात सौ लघुभाषाओं में परिणत हो जाती है। गणधरों की उपस्थिति के बिना तीर्थङ्करों की दिव्य-ध्वनि नहीं खिरती। इसी धर्मचक्रप्रवर्तन को तीर्थ प्रवर्तन कहते हैं और उनके प्रवर्तक महापुरुषों को तीर्थङ्कर कहते है।

जैन-परम्परा में वर्तमान काल के २४ तीर्थङ्करों में से वासुपूज्य, मल्लिनाथ, अरिष्टनेमि, पार्श्वनाथ एवं भगवान् महावीर अविवाहित एवं बाल ब्रह्मचारी थे, जिन्हें पञ्चबालयति के रूप में गौरव प्राप्त है।

इसके साथ ही जम्बूद्वीप का चौथा क्षेत्र जो सुमेरु पर्वत द्वारा पूर्व और पश्चिम दो भागों में विभक्त है, के ५ मेरु सम्बन्धी ५ विदेहक्षेत्रों में बीस तीर्थङ्कर सदा विद्यमान रहते हैं। २४ तीर्थङ्करों के २४ शासनदेव व देवियों का वर्णन भी जैन-परम्परा में विद्यमान है। ये शासनदेव तीर्थङ्करों के समवसरण में सदा रहते हैं तथा सम्यक् दृष्टि होते हैं। जैनधर्मानुसार तीर्थङ्करों की यह महत्त्वपूर्ण परम्परा सदैव चलती रहेगी जिससे भव्य जीवों का कल्याण होता रहेगा।

●

कर्म-सिद्धान्त में तीर्थङ्कर प्रकृति की महत्ता

– पं. आनन्दप्रकाश जैन शास्त्री, कोलकाता

जैनधर्म में ज्ञानावरणादि नामकर्म की पुण्य प्रकृतियों में सबसे अधिक पुण्य और पवित्र यदि कोई प्रकृति है तो वह है तीर्थङ्कर प्रकृति। तीर्थङ्कर प्रकृति की सत्ता वाले जीव के जन्म की सूचना छह माह पूर्व रत्नों की वर्षा से हो जाती है। यह सब पूर्वभव में किये गये पुण्यकर्म तथा चारित्र का फल है। चारित्र की अपार महिमा है जिसके द्वारा यह जीव उन्नति के शिखर पर चढ़ता है।

तीर्थङ्कर प्रकृति की लोकोत्तरता : जो आत्मा रत्नत्रय से समलंकृत है वह लोक की श्रेष्ठ विभूतियों का अधिपति होता हुआ तीर्थङ्कर परमदेव का लोकोत्तर पद प्राप्त करता है तथा स्व-पर का सच्चा उद्धारक बनता है। अकलङ्कस्वामी राजवार्तिक (अ. ६, सूत्र २४) में लिखते है— "इदं तीर्थंकर नामकर्म-अनंतानुपमप्रभाव-मचिंत्यविभूतिविशेषकारणं त्रैलोक्यविजयकरं" अर्थात् यह तीर्थङ्कर नामकर्म अनन्त और अनुपम प्रभाव का कारण होते हुए अचिन्त्य विभूति विशेष का कारण है। यह त्रिलोक को विजय करने वाला कर्म है।

इस तीर्थङ्कर प्रकृति की लोकोत्तरता इससे ही स्पष्ट होती है कि बीस कोड़ाकोड़ी सागर प्रमाण एक उत्सर्पिणी अवसर्पिणी रूप कल्पकाल में केवल दो चौबीसी प्रमाण ही तीर्थङ्कर इस भरतक्षेत्र में होते हैं।

इस तीर्थङ्कर प्रकृति का उदयकाल केवलज्ञान होने पर आता है; किन्तु उसके पूर्व ही गर्भ, जन्म तथा तप कल्याणकों के रूप में भी त्रिभुवन के महान् प्राणी भी उस कर्म की महत्ता से प्रभावित तथा उपकृत होते है।

तीर्थङ्कर प्रकृति बन्धक जीव : जिस तीर्थङ्कर प्रकृति के उदय से देव असुर तथा मानवादि द्वारा वन्दनीय तीर्थङ्कर की पदवीं प्राप्त होती है उस कर्म का बन्ध तीनों प्रकार के सम्यक्त्वी करते हैं।

इसका निष्ठापन तिर्यञ्च को छोड़कर शेष गतियों में होता है। इसका उत्कृष्टपने से अन्तर्मुहूर्त अधिक आठ वर्ष न्यून दो कोटिपूर्व अधिक तेतीस सागर प्रमाण काल पर्यन्त बंध होता है। केवली श्रुतकेवली का सान्निध्य आवश्यक कहा है, क्योंकि "तदन्यत्रतादृग्विशुद्धिविशेषा संभवात्" उनके सान्निध्य के सिवाय वैसी विशुद्धता का अन्यत्र अभाव है।

नरक की प्रथम पृथ्वी में तीर्थङ्कर प्रकृति का बन्ध पर्याप्त तथा अपर्याप्त अवस्था में होता है। दूसरी तथा तीसरी पृथ्वी में इस प्रकृति का बन्ध अपर्याप्त काल में नहीं होता है। कहा भी है— **घम्मे तित्थं बंधति वसामेघाटणपुण्णगो चेव।** — गो.कर्म. १०६

गोम्मटसार में लिखा है कि तीर्थङ्कर प्रकृति का उत्कृष्ट स्थितिबंध अविरति सम्यकत्वी के होता है। "तित्थयरं च मणुस्सो अविरद सम्मो समज्जेइ" इसकी संस्कृत टीका में लिखा है—

"तीर्थङ्कर-उत्कृष्ट-स्थितिकं नरकगति-गमनाभिमुखं-मनुष्यासंयत सम्यग्दृष्टिरेव वध्नाति" (पृ. १३४) उत्कृष्ट स्थिति सहित तीर्थङ्कर प्रकृति को नरकगति जाने के उन्मुख असंयत सम्यक्त्वी मनुष्य बांधता है, कारण

उसके तीव्र संक्लेश भाव रहता है। उत्कृष्ट स्थितिबंध के लिए तीव्र संक्लेश युक्त परिणाम आवश्यक है। नरकगति में गमन के उन्मुख जीव के तीव्र संक्लेश के कारण तीर्थङ्कर रूप शुभ प्रकृति का अल्प अनुभाग बंध होगा, क्योंकि— **सुहंपयडीण विसोही तिव्वो असुहाण संकिलेसेण।। (१६३/कर्म.)** अर्थात् शुभ प्रकृतियों का तीव्र अनुभाग बंध विशुद्ध भावों से होता हैं तथा अशुभ प्रकृतियों का तीव्र अनुभाग बंध संक्लेश से होता है।

अपूर्वकरण गुणस्थान के छट्टे भाग तक शुद्धोपयोगी तथा शुक्लध्यानी मुनिराज के इस तीर्थङ्कर रूप पुण्य प्रकृति का बंध होता है। वहां इसका उत्कृष्ट अनुभाग बंध पड़ेगा। जबकि स्थिति बंध का रूप विपरीत होगा अर्थात् न्यून होगा।

निमित्त कारण : तीर्थङ्कर प्रकृति का बंध करने वाला परम शुभ भावना करता हुआ जगत् के उद्धार के विषय में चिन्तनशील बनता है। वह विचारता है— "श्रेयोमार्गानभिज्ञान जाज्वलददुःख-दाव-स्कंधे च क्रम्पमाणान वराकान उद्धरेयं" अर्थात् मोक्षमार्ग से अपरिचित दुःखरूप दावानल में दग्ध होने के भय से इधर-उधर भ्रमण करने वाले इन दीन जीवों का मैं उद्धार करूँ।

यह भावना अपाय विचय धर्मध्यान सदृश लगती है। इस परम कारुणिक चित्तवृत्ति की प्रबल रूप से जागृति तीर्थङ्कर परमदेव के दर्शन द्वारा उनके समक्ष में होती है। वहां विश्व के उद्धार की भावना को विशेष बल प्राप्त होता है। कारण भावना करने वाला व्यक्ति भावना के मूलस्रोत साधन को समीप लाता है। उससे प्रबल प्रेरणा तथा प्रोत्साहन प्राप्त होता है। तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक में कहा है--

दृग्विशुध्यादयो नाम्नस्तीर्थकृत्वस्य हेतवः।
समस्ता व्यस्तरूपा वा दृग्विशुध्या समन्विताः।। १७/पृ. ४५६।।

दर्शन विशुद्धि आदि तीर्थङ्कर नामकर्म के कारण हैं चाहे वे सभी कारण हों या पृथक्-पृथक् हो; किन्तु उनको दर्शन विशुद्धि समन्वित होना चाहिए। वे इसके आगे कहते है— "सर्वातिशायि तत्पुण्यं त्रैलोक्याधिपतित्वकृत"।।१८।। वह पुण्य तीन लोक का अधिपति बनाता है। वह पुण्य सर्वश्रेष्ठ है।

दर्शनविशुद्धि आदि सोलह भावनाएं पृथक् रूप में तथा समुदाय रूप में तीर्थङ्कर पद की प्राप्ति में कारण हैं, ऐसा भी अनेक स्थलों में उल्लेख आता है। आगम में कहा है कि तीनों सम्यक्त्वों में तीर्थङ्कर प्रकृति का बंध हो सकता है, अतः यह मानना उचित है कि सम्यक्त्व रूप आत्मनिधि के स्वामी होते हुए भी लोकोद्धारिणी शुभराग रूप विशुद्ध भावना का सद्भाव आवश्यक है। उसके बिना क्षायिक सम्यक्त्वी भी तीर्थङ्कर प्रकृति का बंध नहीं कर सकेगा।

तीर्थङ्कर प्रकृति के सद्भाव का प्रभाव : तीर्थङ्कर प्रकृति का उदय केवली अवस्था में होता है "तित्थं केवलिणि" यह आगम का वाक्य है। यह नियम होते हुए भी तीर्थङ्कर भगवान् के गर्भ, जन्म तथा तपकल्याणक रूप कल्याणकत्रय तीर्थङ्कर प्रकृति के सद्भाव मात्र से होते हैं। होनहार तीर्थङ्कर के गर्भकल्याणक के छह माह पूर्व ही विशेष प्रभाव दृष्टिगोचर होने लगता है। भरत तथा ऐरावत क्षेत्र में पञ्चकल्याणक वाले ही तीर्थङ्कर होते हैं। वे देवगति से आते है या नरक से भी चयकर मनुष्यपदवी प्राप्त करते हैं। तिर्यञ्च पर्याय से आकर तीर्थङ्कर

रूप से जन्म नहीं होता है। तिर्यञ्चों में तीर्थङ्कर प्रकृति के सत्त्व का निषेध है। "तिरियेण तित्थसत्तं" यह वाक्य गोम्मटसार कर्मकाण्ड (गा. ३४५) में आया है।

तीर्थङ्कर के गुण : भगवान् के अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त सुख तथा अनन्त वीर्य रूप अनन्त चतुष्ट्य पाये जाते हैं। इस प्रकार दस जन्मातिशय, दस केवलज्ञान के अतिशय, चतुर्दश देवकृत अतिशय, अष्टप्रातिहार्य तथा अनन्त चतुष्ट्य मिलकर तीर्थङ्कर अरहंत के छियालीस गुण माने गये हैं। चार घातिया कर्म के नष्ट होने पर भगवान् यथार्थ में निर्दोष अरहत पदवी के अधिकारी बनते हैं।

पञ्चकल्याणक : सम्यक् जीवन शैली का दिग्दर्शक

– ब्र. जयकुमार 'निशान्त', टीकमगढ़

पञ्चकल्याणक महोत्सव तीर्थङ्कर प्रभु के जीवन का जीवन्त प्रस्तुतीकरण है। तीर्थङ्कर काल के द्रव्य, क्षेत्र एवं भाव को दर्शाने के लिए सम्बन्धित पात्रों द्वारा मञ्चन के माध्यम से जहां बहुमान एवं जीवन शैली के चित्रण का प्रयास किया जाता है, वहीं मन्त्र अनुष्ठान, भक्तियों एवं शास्त्रोक्त क्रिया-विधि द्वारा पाषाण को भगवान् बनाने वाले विज्ञान की प्रक्रिया सम्पादित की जाती है। इस अनुष्ठान क्रिया-विधि में पाषाण एवं धातु बिम्बों में श्रद्धा, समर्पण एवं तपःशक्ति द्वारा अर्हत् गुणों का गुणारोपण किया जाता है।

महापुरुषों की जिन घटनाओं द्वारा जीवमात्र का कल्याणपथ प्रशस्त होता है उसे कल्याणक कहते हैं। कल्याणक गर्भ, जन्म, तप, ज्ञान एवं निर्वाण पाँच होते हैं, यह तीर्थङ्कर भगवान् के जीवन में अन्तिम बार घटित होते हैं। इस प्रकार गर्भ से निर्वाण तक की मङ्गल यात्रा पञ्चकल्याणक कहलाती है। जो भव्य सम्यक्-दर्शन के साथ केवली या श्रुतकेवली के पादमूल में अपायविचय धर्मध्यान की भूमिका में, तीनों लोकों के समस्त जीवों के कल्याण की भावना के साथ दर्शनविशुद्धि आदि सोलहकारण भावना भाते हैं, वह तीर्थङ्कर प्रकृति का बंध करते हैं। तीर्थङ्कर तीनों लोकों के प्राणियों में सबसे अधिक पुण्यशाली, शक्तिशाली, वैभवशाली तथा स्वयम्भू धर्माधिपति एवं मोक्षमागमी होते हैं।

पञ्चकल्याणक अनुष्ठान एवं तीर्थङ्कर के जीवन की समस्त क्रियायें किसी न किसी रूप में श्रावक की जीवन-शैली को परिमार्जित एवं पवित्र करती हैं। सर्वप्रथम जिस नगर में तीर्थङ्कर का गर्भ जन्मकल्याणक होता है, उसे रत्नवृष्टि द्वारा श्रीसम्पन्न किया जाता है। तीर्थङ्कर की आत्मा को धारण करने वाली माता की शारीरिक शक्ति, विशुद्धि एवं पवित्रता के साथ वचनबल, वाक् चातुर्य, मानसिक शक्ति, श्रद्धा, आस्था एवं आन्तरिक आनन्द उत्साह से ओत-प्रोत हो जगत् जननी के गौरव से महिमामण्डित होती है। तीर्थङ्कर माता की सेवा में अष्टकुमारियां, छप्पनकुमारियां सदैव तत्पर रहकर मन, वचन एवं काम का शोधन अनेक विधियों से करके इस योग्य बनाती है कि वह तीर्थङ्कर आत्मा को अपनी कोख में धारण करने का सौभाग्य प्राप्त कर सके।

इसी प्रकार जिस पाषाण खण्ड से प्रतिमा का निर्माण किया जाना है, उसका शोधन विभिन्न क्वाथों से करते हैं। बिम्ब (मूर्ति) निर्माण करने वाला शिल्पी आगमोक्त चर्या, संयम, श्रद्धा, समर्पण, ब्रह्मचर्य पालन एवं निर्लोभता से ही अतिशयकारी बिम्ब का निर्माण हो सकता है, जो इन्द्र-इन्द्राणी मन्त्र अनुष्ठान की क्रिया-विधि में संलग्न होते है उनका बाह्य एवं आन्तरिक सरलीकरण करके शुद्धि की जाती है। रात्रि भोजन त्याग, एकाशन, ब्रह्मचर्य पालन, श्रावकोचित चर्या का पालन करके आचरण शुद्धि करते हैं। तभी कल्याणक सार्थक होते हैं।

इस प्रकार गर्भ से निर्वाण तक के इन पञ्चकल्याणकों की आन्तरिक यात्रा गुणस्थान आरोहण प्रतिमा में मन्त्र ऊर्जा का आरोपण, प्राण-प्रतिष्ठा, सूरिमन्त्र से अतिशय आरोपण अत्यन्त सूक्ष्म प्रक्रिया दर्शाने वाला अत्यन्त मंगलमय धार्मिक अनुष्ठान है, जिससे एक पाषाण भगवत् सत्ता पाकर पूजनीय बन जाता है। उसी प्रकार श्रावक संयम साधना, तप एवं त्याग के साथ गुणस्थान आरोहण करके मुनिधर्म का पालन कर कर्मक्षय करके अर्हन्त अवस्थापूर्वक निर्वाण की प्राप्ति कर सकता है।

पञ्चकल्याणक प्रतिष्ठाओं का स्वरूप और उपयोगिता : वर्तमान परिप्रेक्ष्य में

– पं. विनोदकुमार जैन प्रतिष्ठाचार्य, रजवांस

पञ्चकल्याणक प्रतिष्ठा मूर्ति में मूर्तिमान की स्थापना प्रदान करने का विज्ञान है। जैन शासन में मूर्ति के आलम्बन से मूर्तिमान की पूजा का विधान मिलता है। वीतराग प्रतिमा की उपासना करके उपासक निजात्मा को वीतरागता के पथ पर ले जाने में सक्षम होता है। मूर्तियों में वीतरागता के संस्कार, जिनेन्द्र भगवान् के संस्कार एवं उनके गुणों को आरोपित कर संस्कारित किया जाता है। जिस विधि से पाषाण/धातु एवं प्रतिमा को संस्कारित कर भगवान् का रूप दिया जाता है, वह विधि पञ्चकल्याणक प्रतिष्ठा कहलाती है।

पञ्चकल्याणक की आवश्यकता : गृहस्थों को दान और पूजा मुख्य आवश्यक कहे हैं। पूजा के लिए प्रतिमा एवं जिन मन्दिर की आवश्यकता होती है। गृहस्थी में पापकार्य से उत्पन्न होने वाले पाप की समाप्ति के लिए गृहस्थ को मन्दिर एवं मूर्ति का निर्माण करवाना चाहिए, जिससे उसे कल्पपर्यन्त यज्ञ करवाने का पुण्य प्राप्त होता है एवं गृहस्थ को अपने न्यायोपार्जित धन की सार्थकता के लिए पञ्चकल्याणक प्रतिष्ठा में उसका उपयोग करना चाहिए। जिनबिम्ब प्रतिष्ठा का उद्देश्य धन के सदुपयोग के साथ धर्म की स्थिति एवं वृद्धि भी है। वर्तमान में नगरीय आवास व्यवस्था की अनुकूलता के लिए भी मन्दिरों एवं प्रतिमाओं की प्रतिष्ठा आवश्यक हो गयी है।

पञ्चकल्याणक के मुख्य आधार बिन्दु : पञ्चकल्याणक प्रतिष्ठाविधि में हम तीर्थङ्कर के जीव की अथ से इति अर्थात् गर्भ से मोक्ष तक की यात्रा के पाँच उन विशिष्ट प्रसंगों को प्रस्तुत करते हैं जो उनके जीवन की प्रमुख घटनाएं व प्रभावोत्पादक मोड़ हैं। ये राग से विराग की ओर ले जाते हैं। तीर्थङ्करों के गर्भ, जन्म, तप, ज्ञान और मोक्ष ये पाँच प्रसंग कल्याणक के नाम से जाने जाते हैं, क्योंकि इन पाँच प्रसंगों की तीर्थङ्कर के जीवन में अब पुनरावृत्ति नहीं होगी। अर्थात् गर्भ के बाद गर्भ, जन्म के बाद जन्म, दीक्षा के बाद दीक्षा, ज्ञान के बाद इसरा ज्ञान एवं मोक्ष के बाद पुन: मोक्ष नहीं होगा। पुन: संसार भी नहीं होगा। इन पाँच प्रसंगों के बाद उनका कल्याण हो जाता है एवं इन प्रसंगों को देखने एवं करवाने वालों का भी कल्याण हो जाता है।

पञ्चकल्याणक की क्रियाओं की दिशा एवं समय : आचार्यों ने पञ्चकल्याणक प्रतिष्ठा को निर्दोष बनाने के लिए उसकी प्रत्येक क्रिया की दिशा एवं समय का निर्धारण किया है। जैसे— मण्डप का मुख्य द्वार उत्तर या पूर्व में, मुख्य वेदी और उत्तर वेदी पूर्व या उत्तर दिशा में ही नियमानुसार होना चाहिए। मुख्य बेदी के सामने ध्वज स्थापन, वेदी के उत्तर में हवनकुण्ड, पाण्डुक शिला, वेदी के पीछे आचार्य और इन्द्र की स्थिति समीप मेंस्नान एवं सामायिक का स्थान, वेदी के आगे पूर्व दिशा में दीक्षावन, समवशरण एवं ताण्डव नृत्य का स्थान, वेदी के दक्षिण में राजगृह एवं आहारगृह एवं मार्ग के समीप दानशाला बनाने का निर्देश है।

गर्भावस्था का काल नव महीना, नव दिन या, नव प्रहर होना चाहिए। गर्भकल्याणक की क्रिया अर्द्ध रात्रि

में, जन्मकल्याणक प्रातःकाल दीक्षाकल्याणक और ज्ञानकल्याणक दोपहर में एवं मोक्षकल्याणक सूर्योदय के समय करना चाहिए। गर्भकल्याणक की क्रिया को छोड़कर पञ्चकल्याणक की सभी क्रियायें दिन में ही सम्पन्न करना चाहिए। पञ्चकल्याणक प्रतिष्ठा में यन्त्र और भक्तियों के प्रभाव से ही तीर्थङ्कर के पूर्ण जीवनवृत्त को पाँच दिन में पूर्ण कर लिया जाता है। प्रतिष्ठा कार्यों में मुहूर्त की सिद्धि के लिए तिथि, वार, नक्षत्र, योग और करण की शुद्धि कर लेना चाहिए। इसमें लग्न शुद्धि अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। जिनमन्दिर, जिनबिम्ब, पञ्चकल्याणक का मण्डप, हवनकुण्ड, ध्वज, ध्वजदण्ड, पाण्डुकशिला कलश, दीपक आदि सभी वास्तु शास्त्रानुसार होना चाहिए।

प्रतिष्ठा महोत्सव का समाज के धर्म विमुख लोगों पर भी प्रभाव पड़ता है— अर्थ, काम, भाव और भव सभी धर्ममय हो जाता है, ये महोत्सव मनोरंजन के प्रतीक नहीं अपितु जन-मन के प्रेरणास्रोत एवं धर्मनीति के पोषक होते हैं। ऐसे समय में अनेक लोग व्रतनियम धारण कर लेते हैं। पञ्चकल्याणक प्रतिष्ठा महोत्सव अनादिकाल से होते आये हैं। मूर्ति निर्माण और उसकी प्रतिष्ठा के आधार को छोड़कर और कोई दूसरा आधार ऐसा नहीं है जिसके द्वारा धर्म की परम्परा चल सके। पं. आशाधर जी ने इस पञ्चमकाल के लिए स्पष्ट लिखा है कि इस पञ्चमकाल में धर्म की परम्परा धर्म के आधार पर ही चलेगी। ऐसा वर्तमान में देखा भी जा रहा है। अतः सब जगह चैत्यालय पाये जाते हैं।

पूर्व में प्रतिष्ठाएं, संस्कृत पूजा पद्धति से सम्पन्न होती थी, परन्तु वर्तमान में वैज्ञानिक साधनों एवं आधुनिकता के कारण प्रतिष्ठा कार्य हिन्दी पद्य एवं संगीतमय शैली में करायी जाने लगी हैं। संगीत की अधिकता के कारण भक्ति, आराधना, मन्त्र, जाप एवं प्रतिष्ठा की मूल क्रियाएं छूट या दब जाती हैं। आज पञ्चकल्याणक सुविधानुसार जैसा समाज चाहती है वैसा प्रतिष्ठाचार्य करवाने को तैयार रहता है। धार्मिक अनुष्ठान का मंच राजनैतिक मंच बन जाता है। पात्रों का चयन योग्य-अयोग्य के आधार पर नहीं, वरन् धन के आधार से होने लगा है जिससे प्रतिष्ठा निर्दोष नहीं पाती है। प्रतिष्ठाकार्य गुरु शुक्र के अस्त एवं दक्षिणायन में करना प्रारम्भ हो गया एवं कार्यक्रम को रोचक बनाने के लिए आगम का आधार छोड़कर मनमानी क्रियाएं जोड़ते जा रहे हैं, जो चिन्ता का विषय है। आज व्यक्ति बाह्य प्रदर्शन के लिए प्रतिष्ठा कार्यों में भाग लेता है उसे कैसेट बनवाने, फोटो खिचवाने एवं हाथी की सवारी में ज्यादा रुचि रहती है। मुख्य पात्रों की भूमिका निभाने वाले भी प्रतिष्ठा के स्वरूप, विज्ञान को नहीं समझ पाते हैं। पञ्चकल्याणक की बहुलता के कारण प्रतिष्ठा महोत्सवों की प्रभावना से लोगों की श्रद्धा कम होती जा रही है।

नगरों की आवास-व्यवस्था के कारण मन्दिरों के निर्माण की आवश्यकता बढ़ रही है जो उचित है; किन्तु प्रतिमाओं की प्रतिष्ठा के अनुपात में पुजारियों का निर्माण नहीं हो पा रहा है फिर भी मन्दिरों में भीड़ देखकर धर्म के उत्थान एवं विकास का आभास होने लगा है। पञ्चकल्याणक के स्वरूप में आने वाली विकृतियों में सुधार की सम्भावनाओं से हमें निरन्तर महोत्सवों को आगम का आधार देकर उनके उद्देश्य एवं उपयोगिता को समझना चाहिए।

तीर्थङ्करों के पञ्च-कल्याणकों का वैशिष्ट्य—एक विश्लेषण

– डॉ. अनिल कुमार जैन, अहमदाबाद

भरत क्षेत्र के आर्यखण्ड में उत्सर्पिणी और अवसर्पिणी के क्रम में कालचक्र निरन्तर चलता रहता है। प्रत्येक उत्सर्पिणी तथा अवसर्पिणी-काल को छह भागों (आरों) में विभक्त किया गया है। प्रत्येक चौथे भाग (काल) में ६३ शलाका (विशिष्ट) पुरुष जन्म लेते हैं, इनमें २४ तीर्थङ्कर भी सम्मिलित हैं। संसार से पार होने के कारण को तीर्थ कहते हैं और जो धर्म तीर्थ का प्रवर्तन करते हैं वे तीर्थङ्कर कहलाते हैं। प्रत्येक तीर्थङ्कर विशिष्ट पुण्यशाली होते हैं। इनके जीवन में पाँच प्रमुख घटनायें घटित होती हैं जिन्हें पञ्च-कल्याणक कहते हैं। इन घटनाओं को देखकर भव्य जीव संसार से पार हो जाते हैं। ये पाँच कल्याणक हैं — (१) गर्भ कल्याणक, (२) जन्म कल्याणक, (३) तप-कल्याणक, (४) ज्ञान-कल्याणक और (५) मोक्ष-कल्याणक।

तीर्थङ्कर भगवान् के गर्भ में आने से छह माह पूर्व से लेकर उनके जन्म होने तक निरन्तर रत्नों की वर्षा होती रहती है। यह तीर्थङ्कर के प्रबल पुण्य का ही प्रताप है कि उनके आगमन के साथ ही उनके जन्मस्थान के समस्त लोगों का दुःख-दारिद्र दूर हो जाता है। गर्भ में आने से पूर्व माता को सोलह शुभ स्वप्न दिखते हैं जो कि तीर्थङ्कर के गर्भ में आने की सूचना देते हैं। जन्म के समय इन्द्र का आसन कम्पायमान होता है। वह सभी देवी-देवताओं के साथ भगवान् का जन्मोत्सव मनाने के लिए उनके जन्मस्थान पर आता है। वह समारोहपूर्वक बालक-तीर्थङ्कर को मेरु पर्वत पर स्थित पाण्डुक शिला पर ले जाता है तथा फिर भगवान् के जन्माभिषेक का कार्य सम्पन्न करता है। तीर्थङ्कर के जन्म के साथ ही दस अतिशय प्रकट होते हैं, वे हैं— अत्यन्त सुन्दर शरीर, अति सुगन्धमय शरीर, पसेव रहित शरीर, मल-मूत्र न होना, हित-मित वचन बोलना, अतुल्य बल, दूध के समान सफेद खून, शरीर के १००८ शुभ लक्षण, समचतुरस्र संस्थान (सुडौल शरीर), वज्र-वृषभ नाराच संहनन (हाड़, वेष्टन और कीलों का वज्रमय होना)।

प्रत्येक तीर्थङ्कर क्षत्रिय राजा या राजकुमार होते हैं। इनमें से कुछ समय राज्य करने के पश्चात् किसी एक दिन किसी निमित्त को देखकर वे संसार की असारता का चिन्तवन करने लगते हैं और संसार से विरक्त हो जाते हैं। वे जंगल में जाते हैं और जैनेश्वरी दीक्षा लेकर तपस्या आदि चर्या में निमग्न हो जाते हैं। जब वे तप द्वारा चार घातिया कर्मों को नष्ट कर देते हैं तब उन्हें केवलज्ञान की प्राप्ति होती है। केवलज्ञान की प्राप्ति के साथ ही तीर्थङ्कर के जन्म के दस अतिशयों सहित कुल ३४ अतिशय प्रगट हो जाते हैं जिनमें १४ अतिशय देवकृत होते हैं। इन चौतीस अतिशयों के साथ ही अनन्त चतुष्टय- अनन्तदर्शन, अनन्तज्ञान, अनन्तवीर्य और अनन्तसुख तथा आठ प्रातिहार्य (अशोक वृक्ष, छविदार सिंहासन, सिर पर तीन छत्र, भामण्डल, दिव्य ध्वनि, पुष्प वृष्टि, चँवर डोलना तथा दुन्दुभि बाजों का बजना) भी प्रगट होजाते हैं। साथ ही तीर्थङ्कर १८ दोषों से रहित भी होते हैं, ये दोष हैं — जन्म, जरा, तृष्णा, क्षुधा, विस्मय, आरत, खेद, रोग, शोक, मद, मोह, भय, निद्रा, चिन्ता और स्वेद आदि। जब तीर्थङ्कर को केवलज्ञान की प्राप्ति होती है, तभी इन्द्र का सिंहासन कम्पायमान होता है। सौधर्मेन्द्र की आज्ञा से कुबेर समवसरण की रचना करता है। समवसरण बहुत ही भव्य एवं विशाल होता है।

–क्रमशः–

इसमें बारह कक्ष होते हैं। अलग-अलग कक्ष में अलग-अलग वर्ग के जीव बैठते हैं तथा भगवान् का धर्मोपदेश सुनते हैं। ये वर्ग इस प्रकार से हैं— गणधर और मुनि, कल्पवासी देवियाँ, आर्यिकायें और श्राविकायें, ज्योतिषी देवियाँ, व्यन्तर देवियाँ, भवनवासी देवियाँ, भवनवासी देव, व्यन्तर देव, ज्योतिषी देव, कल्पवासी देव, मनुष्य, तिर्यञ्च। गणधर की उपस्थिति में तीर्थङ्कर की ध्वनि खिरती है जो कि ओंकार रूप होती है।

तीर्थङ्कर भगवान् घोर तपस्या द्वारा चार अघातिया कर्मों को भी नष्ट कर देते हैं और मोक्ष प्राप्त करते हैं। इन्द्र व देवता भगवान् का मोक्ष कल्याणक मनाने के लिए एकत्रित होते हैं। भगवान् का पार्थिव शरीर कम्फूर की तरह उड़ जाता है। तब इन्द्र भगवान् के कृत्रिम पार्थिव शरीर की रचना करता है और फिर उसका अग्नि-संस्कार किया जाता है।

तीर्थङ्करों के जो पाँच कल्याणक होते हैं तथा जो अतिशय होते हैं, यह सब उनके प्रबल पुण्य का प्रताप ही है। ऐसे तीर्थङ्कर स्वयं तो मोक्षरूपी लक्ष्मी को प्राप्त करते ही हैं, अपने दिव्य उपदेशों से भव्य प्राणियों को भी संसार से पार लगाने में सहायक होते हैं।

●

चौबीस तीर्थङ्करों के केवलज्ञान प्राप्ति वाले वृक्ष और उनका वैशिष्ट्य

— डॉ. राकेश कुमार गोयल, बोधगया

सारांशिका— संकलित प्रस्तुत लेख में अनादिकाल से या वैदिक युग (५००० बी.सी.) से ही वर्तमान २४ तीर्थङ्करों के केवली वृक्ष एवं चिह्नों से पता चलता है कि भारतभूमि की प्राकृतिक सम्पदा स्थानिक (हिंस्म) है, जो प्राणी जगत् के स्वास्थ्य एवं आर्थिक दृष्टि से भगवान् ऋषभदेव एवं भगवान् महावीर के काल से वर्तमान एवं भविष्य तक लाभ होता रहेगा।

हमारी संस्कृति प्रकृति (जीव-निर्जीव) का मान करती है। इसलिए हमारे देश में पारसनाथ, गिरनार, नन्दा देवी, वैष्णो देवी जैसे मनोरम पर्वतीय क्षेत्र गंगा, यमुना, नर्मदा, ऋजुबला, कृष्णा आदि अन्य नदियों तथा वन्य वृक्षों जैसे वट, पीपल, शाल, चम्पा, कदम्ब, चन्दन आदि पौधों के साथ-साथ सभी जीव-जन्तुओं एवं पशु-पक्षियों को पवित्र एवं पूज्य माना जाता है। ऋषियों की तपोभूमि एवं मन्दिरों के निकट के वन एवं पशु-पक्षी भी आश्रमों की भाँति सुरक्षित बच सके। प्रकृति के प्रति मान-सम्मान एवं आस्थाओं के अध्ययन से स्पष्ट हो जाता है कि अनेक पर्वतों, नदियों, वन वृक्षों तथा वन्य-प्राणियों, जानवरों को आस्था और विश्वास ने बचाया है। अदृश्य रूप से स्वस्थ मानव कल्याण की भावनाओं को दर्शाता है।

जिन वनों में ऋषि-मुनियों के आश्रम होते थे अथवा आज जहाँ भी कोई साधु-महन्त जिस वृक्ष के नीचे या वन में ध्यान मग्न होते हैं या आश्रम बना लेते हैं वहाँ एक ओर तो प्राकृतिक वनस्पतियों को कम क्षति पहुँचाती थी, दूसरी ओर नानाप्रकार के औषधीय पेड़-पौधे तथा वन्य प्राणियों को स्वतन्त्र विचरण को संरक्षित निर्भयता देकर शोभा बढ़ाते हैं। भारत के अनेक प्रान्तों में पवित्र वनों के नाम से आज भी अनेक सुन्दर वन बचे हुए हैं जिनके विभिन्न नाम हैं— जैसे पारसनाथ का मधुवन, गुजरात का गिर फारेस्ट, बंगाल का सुन्दर वन, राजगृह का आम्रकुञ्ज, वेणुवन इत्यादि इन पवित्र वनों के प्रति स्थानीय जन-जातियों एवं ग्रामीणों की आस्था बहुत ही प्रबल हैं। इन वनों से सूखी लकड़ी निकालना या मिट्टी खोदना तक वर्जित है एवं वर्षा ऋतु में जंगलों में घूमने से मना करना, क्योंकि नव अंकुरित पौधों को नष्ट होने से बचाना है तथा ऐसा करने से देवी-देवताओं का प्रकोप झेलना पड़ सकता है। अत: आज तक इन आस्थाओं से छोटे-छोटे अनेक वन क्षेत्रों एवं वृक्षों तथा वन्य प्राणियों की रक्षा हो सकती है अन्यथा बड़, पीपल आदि विशाल उपयोगी वृक्ष कभी के हाथियों को खिलाकर नष्ट कर दिये जाते।

सर्वप्रथम १९७० में भारतीय सर्वेक्षण तथा वन अनुसन्धानशाला ने मिलकर १०० विरले पौधों की एक सूची बनायी जिसमें चौबीस तीर्थङ्करों के केवली वृक्षों को सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण पाये गये (ऊँत १)। १९८० में १३४ वृक्षों एवं पौधों पर S.K.Jain (Ex. Director, Botanical Survey of India, Kolkata) एवं Arjul Shastri ने एक सचित्र पुस्तक भी प्रकाशित की। तदुपरान्त जैन एवं उनके सहकर्मियों की लिखी कई पुस्तकों एवं शोध-पत्रों का प्रकाशन हुआ जिनमें संकटग्रस्त पौधों की सूचियाँ सचित्र एवं संरक्षण की स्थिति का विवरण है।

भारत के १६००० पुष्पी पौधों में से लगभग एक तिहाई अर्थात् ५००० जातियाँ ऐसी हैं जो केवल भारत में ही पायी जाती हैं, वे स्थानिक (Endemic) हैं और भारत के बाहर किसी भी देश में नहीं मिलती। इनमें से लगभग ३००० बिरली हैं और कुछ तो लुप्तप्राय हैं। भारत के कई वन क्षेत्र संरक्षित घोषित कर दिये गये हैं जिन्हें Biosphear Zone कहते हैं। इस तरह भारत में १३ Biosphear Zone नीलगिरि पर्वत (Silent Valley), तमिलनाडु, कान्हा-किसली, मण्डला (मध्य प्रदेश), नन्दा देवी (उत्तर प्रदेश) आदि की प्राकृतिक सम्पदा को सुरक्षित रख पर्यावरण को शुद्ध रखने का अथक् प्रयास जारी है।

जैन संस्कृति में सदा से ही समूचे प्राकृतिक वनों, वन्य जीव-जन्तुओं के प्रति आदर भावना रही है एवं इस समय भी बनी है जो तीर्थङ्करों के चिह्न एवं केवलज्ञान-प्राप्ति के वृक्ष उपदेशक एवं प्रेरणा स्वरूप आज भी हैं तथा ऋषि-मुनियों द्वारा प्राकृतिक वन-सम्पदा के संरक्षण का सबसे अच्छा माध्यम था एवं अभी है। इनको धर्म, आस्था, रीति-रिवाज एवं तीज-त्योहारों से जोड़ देने का, नदियों को पावन मानना, सूचक था इनको गन्दगी से बचाने का।

हमारे लोक-साहित्य में वृक्षों और जीव-जन्तुओं के पूजन तथा सुन्दरता की महिमा का आशय था— बारम्बार हमें स्मरण कराने का कि ये सभी आदरणीय हैं, इनका संरक्षण कराने का कि ये सभी आदरणीय हैं, इनका संरक्षण न केवल हमारा धर्म है, ये हमारे हित में हैं, क्योंकि प्रकृति ही प्राण-वायु के साथ-साथ भोजन, ईंधन, औषधि, छाया तथा वर्षा का योग देकर खुशहाल बनाती हैं।

जैन तीर्थङ्करों के भी चिह्न बैल, हाथी, घोड़ा, बन्दर, चकवा, मगरमच्छ, गैंडा, भैंसा, सुअर, सेही, हिरण, बकरा, मछली, कछुआ, सर्प, सिंह एवं उनके केवली ज्ञान-प्राप्ति वाले वृक्षों के बारे में वर्णन मिलता है जो कि आज के युग में उपर्युक्त रीति-रिवाजों से 'अहिंसा परमोधर्म:' के मूल मन्त्र से सुरक्षित है जो सिर्फ भारतभूमि की ही जलवायु में प्रथम तीर्थङ्कर श्री आदिनाथ (वैदिक युग) से लेकर आज तक जीवित बच रहे हैं एवं समस्त प्राणियों को जीवनदान देकर अन्योन्याश्रित हैं।

वैदिककाल से (५००० बी.सी.) ही तपस्या के क्रम में सभी तीर्थङ्करों के विशुद्ध ज्ञान (केवलज्ञान) की प्राप्ति किसी न किसी वृक्ष की छाया में प्राप्त हुई थी, उन्हें जैनधर्म में केवली वृक्ष (Enlightenment Tree) कहा जाता है (Table 1)।

जैनधर्म आचार्यों व उपाध्यायों का मानना है कि केवली वृक्षों में तीर्थङ्करों के अंश विद्यमान रहते हैं जिनकी सेवा, दर्शन या अर्चना से सम्बन्धित तीर्थङ्करों की कृपा प्राप्त होती है। अत: सर्वमंगलमय जीवन के लिए प्राकृतिक वन-सम्पदा, जीव-जन्तुओं को सुरक्षित रखने के लिए जैनधर्म स्थलों पर केवली वृक्षों के रोपण से उस स्थल की आध्यात्मिक शक्ति में वृद्धि कर समस्त प्राणी जगत् को स्वस्थ, प्रसन्न एवं धन-धान्य व अहोभागी बना सकते हैं।

चूँकि सभी २४ तीर्थङ्करों का एक चक्र (विशिष्ट काल अवधि) में क्रमश: अवतरित होते हैं अत: केवली वृक्षों को एक चक्र की परिधि पर क्रम से रोपित करने से समस्त जगत् के प्राणियों को वर्तमान एवं भविष्य में भी नवजीवन प्रदान करने में सहायक होते रहेंगे ।

तीर्थङ्कर ऋषभदेव और उनका युग

– डॉ. अशोककुमार जैन, लाडनूं

भगवान् ऋषभदेव विश्व संस्कृति के आदिपुरुष हैं। श्रमण और वैदिक-परम्परा में ही नहीं विश्व की अन्य संस्कृतियों में भी उनकी यशोगाथा वर्णित है। जैन वाङ्मय में वे आद्य तीर्थङ्कर के रूप में उपास्य रहे हैं तो वैदिक-साहित्य में उनके विविध रूप प्राप्त होते हैं। बौद्ध-साहित्य में भी उनका ज्योतिर्धर व्यक्तित्व के रूप में उल्लेख है।

ऋषभदेव के हिरण्यगर्भ, स्वयम्भू, विधाता, प्रजापति, इक्ष्वाकु, पुरुदेव, केशी, वृषभदेव, आदिनाथ इत्यादि नाम पाये जाते हैं। ऋग्वेद में ऋषभ को पूर्वज्ञान का प्रतिपादक और दुःखों का नाशक कहा है। ऋषभ स्वयं आदिपुरुष थे, जिन्होंने सर्वप्रथम मर्त्यदशा में अमरत्व की उपलब्धि की थी। श्रीमद्भागवत में बाईस अवतारों में आठवें अवतार के रूप में वर्णन करते हुए लिखा है—

अष्टमे मरुदेव्यां तु नाभेर्जात उरूक्रमः।
दर्शयन् वर्त्म धीराणां, सर्वाश्रम नमस्कृतम्।।

– (श्रीमद्भागवत, १.३.१३)

अर्थात् आठवीं बार नाभिराजा की मरुदेवी नामक पत्नी के गर्भ से ऋषभ ने अवतार ग्रहण किया और सभी आश्रम जिसे नमस्कार करते हैं, ऐसे परमहंस धर्म का उन्होंने उपदेश दिया।

स्मृति, पुराणों एवं बौद्ध-साहित्य में ऋषभदेव का वर्णन है। जैन-परम्परा में वे वर्तमान अवसर्पिणी कालचक्र में सर्वप्रथम तीर्थङ्कर हैं। उन्होंने ही सर्वप्रथम पारिवारिक प्रथा, समाजव्यवस्था, शासन-पद्धति, समाज नीति और राजनीति की स्थापना की और मानव जाति को एक नया प्रकाश दिया।

वे कर्मभूमि के आद्य विधाता के रूप में विश्रुत हैं। उन्होंने असि, मषि, कृषि, विद्या, वाणिज्य और शिल्प रूप षट्कर्मों का उपदेश देकर श्रम की संस्कृति को विकसित किया। समाजव्यवस्था में कर्मणा-व्यवस्था का निर्धारण किया। विवाह-प्रथा का प्रचलन कर मर्यादित समाज-व्यवस्था का सूत्रपात किया। शासन के रूप में प्रजा का सन्ततिवत् परिपालन किया तथा मात्स्य न्याय प्रचलित न हो, इस हेतु शासन-व्यवस्था को सुदृढ़ किया। इस हेतु उन्होंने हरि, अकम्पन, काश्यप और सोमप्रभ नामक क्षत्रियों को महामाण्डलिक राजा बनाया। इनके अधीन चार हजार राजा नियुक्त किये। ऋषभदेव ने हरि से हरिवंश, अकम्पन से नाथवंश, काश्यप से उग्रवंश और सोमप्रभ से सोमवंश तथा कुरुवंश की स्थापना की।

तीर्थङ्कर ऋषभदेव ने सामाजिक एवं राजनीतिक व्यवस्थाओं के साथ मानव पर्याय को सार्थक बनाने की दिशा में वैराग्य पथ की ओर प्रस्थान कर भोग से योगमार्ग की प्रवृत्ति का सूत्रपात किया। दान की विधि द्वारा श्रमण और श्रावकों में पारस्परिकता के सम्बन्ध की स्थापना में प्रबल निमित्त बने। साधना से आत्मज्ञान तथा आत्मज्ञान से परमात्मा बनने का मार्ग स्वयं तथा जन-जन को प्रशस्त कराया। सर्वज्ञ, सर्वदर्शी और अर्हन्त

परमात्मा बनने के बाद अपनी दिव्यध्वनि के द्वारा आत्मकल्याणकारी धर्म का प्रथम उपदेश दिया और अन्त में कर्म-निरोध कर अष्टापद (कैलाश) पर्वत से माघ कृष्ण चतुर्दशी को निर्वाण प्राप्त किया।

इस प्रकार हम पाते हैं कि भगवान् ऋषभदेव का सर्वाङ्गीण व्यक्तित्व एवं कृतित्व जन-जन के लिए प्रेरणा-प्रद है। वे विश्व संस्कृति के विराट् व्यक्तित्व एवं 'सत्यं शिवं सुन्दरम्' के समन्वित स्वरूप वाले हैं। प्रस्तुत लेख में शास्त्रीय सन्दर्भों के आलोक में तीर्थङ्कर ऋषभदेव के व्यक्तित्व एवं कृतित्व को प्रस्तुत करने का प्रयास किया गया है।

तीर्थङ्कर ऋषभदेव का व्यक्तित्व एवं कर्तृत्व

– प्रो. लालचन्द जैन, भुवनेश्वर

तीर्थङ्कर ऋषभदेव जैनधर्म-संस्कृति के आ ा उन्नायक महापुरुष हैं। संसार में सर्वोत्तम जैनधर्म के प्रथम तीर्थङ्कर के रूप में अर्चनीय, वन्दनीय और स्तवनीय तीर्थङ्कर ऋषभदेव का बाह्य और आन्तरिक व्यक्तित्व अद्‌भुत और अपूर्व है। वे इस युग के युगपुरुष के रूप में विश्रुत हैं। तीर्थङ्कर ऋषभदेव किसी समाज, देश एवं काल विशेष तक सीमित नहीं थे। वे श्रमण और श्रमणेतरों के परम पूज्य एवं विश्व वन्दनीय थे। यही कारण है कि उक्त दोनों संस्कृतियों में मान्य अलग-अलग भारतीय दर्पणरूपी साहित्य में उनका अनोखा जीवन प्रतिबिम्बित हो रहा है। आचार्य जिनसेनकृत आदिपुराण, पुन्नाट संघी आचार्य जिनसेनकृत 'हरिवंशपुराण', आ. रविषेणकृत 'पद्मपुराण', आचार्य यतिवृषभकृत 'तिलोयपण्णत्ति' और आ. हेमचन्द्रकृत 'त्रिषष्ठिशलाकापुरुषचरित' प्रमुख और 'मार्कण्डेयपुराण', 'कूर्मपुराण', 'अग्निपुराण', 'वायुपुराण', 'लिंगपुराण', विष्णुपुराण', 'वराहपुराण', 'ब्रह्माण्डपुराण', 'स्कन्धपुराण', 'श्रीमत् भागवतपुराण' और 'यजुर्वेद' में उनका विस्तृत विवरण उपलब्ध होने से सिद्ध है कि वे सर्वमान्य और सर्वपूज्य थे। उनके धर्मोपदेश विश्वव्यापी थे।

तीर्थङ्कर ऋषभदेव १४वें कुलकर और अयोध्या के राजा नाभिराय तथा रानी मरुदेवी के नन्दन तथा युगपुरुष थे। सुषमा-दुषमा नामक काल के ८४ लाख पूर्व तीन वर्ष और आद माह शेष रहने पर आषाढ़ कृष्णा द्वितीया के दिन उत्तराषाढ़ नक्षत्र में उनका गर्भावतरण हुआ था। देवों ने आकर गर्भावतरण महोत्सव मनाया था। १८ कोड़ाकोड़ी सागर काल के अन्तराल के पश्चात् स्वर्ग और मोक्ष के सुखों के प्रदायक चारित्र रूप धर्म के उपदेश देने वाले तथा वृषभदेव, वृषभस्वामी, ऋषभनाथ, पुरुदेव, पुराणपुरुष, विधाता, विश्वकर्मा, सृष्टा, गौतम, काश्यप, मनु, आदिनाथ के नाम से जाने जाते थे। उन्होंने चैत्र कृष्णा नवमी को जन्म लेकर कुमारावस्था के २० लाख पूर्व वर्ष व्यतीत किये। तत्पश्चात् यशस्वती और सुनन्दा के साथ उनका विवाह हुआ था। उनके प्रथम चक्रवर्ती भरत आदि १०० पुत्र और दो पुत्रियाँ ब्राह्मी एवं सुन्दरी थी। ब्राह्मी को अक्षर वाली रूप लिपि में और सुन्दरी को गणित वि ा की शिक्षा देकर उन्हें पारङ्गत किया था। शेष पुत्रों को भी शिक्षा देकर कुशल शिक्षक के रूप में वे प्रसिद्ध हुए।

वे केवल विचक्षण गुरु ही नहीं थे, बल्कि व्याकरणशास्त्र, छन्दशास्त्र, अलङ्कार संग्रह, अर्थशास्त्र, गन्धर्वशास्त्र, चित्रकलाशास्त्र, विश्वकर्म, वास्तुशास्त्र आदि के प्रणेता भी थे।

भोगभूमि और कल्पवृक्ष के समाप्त होने पर भगवान् ऋषभदेव ने कर्मभूमि की सृष्टि की थी। उन्होंने असि, मषि, कृषि, वि ा, वाणिज्य और शिल्प रूप छहकर्मों के द्वारा जीविकोपार्जन करने का उपाय जनता को बतला कर कर्मभूमि का प्रारम्भ किया था। स्वस्थ समाज की संरचना के उद्देश्य से उन्होनें क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र रूप तीन वर्णों की स्थापना कर्म के अनुसार की थी। उनके अधिकारों की रक्षा के लिए उन्होंने विवाह के नियम, न्याय-व्यवस्था और दण्ड-व्यवस्था का निर्माण किया था।

शासक के रूप में उन्होंने ६३ लाख पूर्व वर्षों तक सुराज्य किया था। नीलाञ्जना नामक अप्सरा नर्तकी की अचानक मृत्यु के निमित्त से सांसारिक सुख-भोगादिक को विनाशशील मानकर वे विरक्त हो गये थे। चैत्र कृष्णा नवमी के दिन दिगम्बर रूप जिन दीक्षा लेकर वे मुनि तथा मनःपर्यय उत्पन्न हो जाने से चार ज्ञान के धारक बन गये थे। उन्होंने ६ माह तक लगातार घोर तप किया। इसके पश्चात् भावी मुनियों के लिए आदर्श उपस्थित करते हुए ईर्यापथ से ६ माह तक आहार के लिए विहार करते रहे। हस्तिनापुर के राजा और श्रेयांश कुमार के द्वारा विधिवत् इक्षुरस का आहार पाणिपात्र में लेकर मुनियों के लिए आहार लेने की विधि का प्रवर्तन किया था। इसके पश्चात् उन्होंने एक हजार वर्षों तक कठोर तप किया। पुरिमताल नामक नगर के शकट नामक उ ाान में एक वटवृक्ष के नीचे धर्मध्यान और शुक्लध्यान करके उन्होंने घातिया कर्मों को नष्ट कर दिया था। फाल्गुन माह की कृष्ण एकादशी और उत्तराषाढ़ नक्षत्र में उन्हें केवलज्ञान की प्राप्ति हुई थी। अनन्त चतुष्टय को प्राप्त कर वे सर्वज्ञ, केवली, जिन आदि कहलाने लगे। देवों और मनुष्यों ने केवलज्ञान महोत्सव मंगाया। समवशरण के मध्य में स्थित सिंहासन पर विराजमान होकर उन्होंने धर्मोपदेश दिया था। उनकी दिव्यध्वनि को सुनकर अनेक लोग, मुनि-आर्यिका रूप में दीक्षित हुए थे। अनेक लोगों ने श्रावक और श्राविका के व्रत ग्रहण किये थे। जीवादि ७ तत्त्वों, ६ द्रव्यों, मोक्ष और मोक्षमार्ग का उपदेश एक हजार और १४ दिन तक काशी, अवन्ति, कुरु, कौशल, अंग, बंग, कलिंग, आन्ध्र, मद्र, पांचाल, मालव, विदर्भ आदि देशों में देते हुए वे कैलास पर्वत पर पहुँचे। वहाँ पर अघातिया कर्मों का समूल क्षय कर माघ कृष्ण चतुर्दशी को अनेक मुनियों के साथ ८४ लाख पूर्व वर्ष की आयु पूरी कर वे मुक्त हो गये थे। उनके मोक्ष की प्राप्ति होने पर मनुष्यों और देवों ने निर्वाण महोत्सव मनाया था।

भगवान् ऋषभदेव का तीर्थ ५० लाख करोड़ वर्षों तक मनुष्यों के लिए प्रकाशस्तम्भ रहा।

उनका विशाल संघ चार भागों में विभाजित था। उस संघ में ८४ गणधर, ४७५० पूर्वधर, ४७५० श्रुतधारी शिक्षक, ९ अवधिज्ञानी मुनि, २० हजार केवलज्ञानी, २६०० विक्रियाधारी, २०७५० विपुलमती और २०७५० असंख्यात गुणों के धारक मुनि थे। दूसरा संघ आर्यिकाओं का था जिसमें ५० हजार आर्यिकायें थे। तीसरा संघ श्रावकों का था, जिसमें ३ लाख श्रावक थे और चौथा संघ ५० लाख श्राविकाओं का था।

इस प्रकार सिद्ध है कि तीर्थङ्कर ऋषभदेव ने मानव के कल्याणार्थ प्रवृत्ति और निवृत्ति रूप अनेक सूत्रों का आविष्कार किया था। आध्यात्मिक उपदेश देकर मनुष्यों को जीने और मृत्यु महोत्सव की कला सिखलायी थी जो आज भी प्रासंगिक है। अत: उनके चरणों में मैं नतमस्तक हूँ।

●

तीर्थङ्कर ऋषभदेव का शिक्षा-दर्शन

– डॉ. चन्द्रकान्ता जैन, सागर

युगादि शिक्षक तीर्थङ्कर ऋषभदेव का चरित्र एवं व्यक्तित्व दोनों ही लोकातिशयी हैं। उनका जीवनचरित अनेक जैन पुराणों और काव्यों में ग्रन्थित है। वैदिक-साहित्य में भी उनका बहुचर्चित उल्लेख है। इन युगादि पुरुष का मानव जाति के समुन्नयन में प्रमुख योगदान रहा है। उन्होंने युग के आदि में जनता को एक सार्वकालिक, सार्वभौमिक एवं सर्वोपयोगी शिक्षा प्रदान की जो समय की शिला पर आज भी उतनी ही प्रासंगिक है।

तीर्थङ्कर ऋषभदेव द्वारा प्रतिपादित शिक्षा-दर्शन के अनुसार प्रत्येक जीव की आत्मा अनन्त चतुष्टय अर्थात् अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन, अनन्त सुख एवं अनन्त वीर्य से सम्पन्न है; किन्तु अनादिकाल से वह ज्ञानावरणादि अष्ट कर्मों से घिरा (आवृत) होने के कारण उसका उपरोक्त स्वरूप प्रकट नहीं हो पाता।

अर्थात् ज्ञान मनुष्य में स्वभाव सिद्ध है, कोई भी ज्ञान बाहर से नहीं आता। समस्त ज्ञान, चाहे वह लौकिक हो या आध्यात्मिक, सब मनुष्य के अन्दर है। बहुधा वह प्रकाशित न होकर ढँका रहता है और जब वह आवरण शक्ति के पुरुषार्थ से धीरे-धीरे हटता जाता है, तो हम कहते है कि 'हम सीख रहे हैं'। वास्तव में हम जो कहते हैं कि मनुष्य 'जानता है' यथार्थ में मानस शास्त्रसंगत भाषा में हमें कहना चाहिए कि वह 'आविष्कार करता है', 'अनावृत' या 'प्रकट' करता है। मनुष्य जो कुछ सीखता है वह वास्तव में आविष्कार करना ही है और आविष्कार का अर्थ है - मनुष्य का अपनी अनन्तज्ञान स्वरूप आत्मा के ऊपर से आवरण को हटा लेना। ज्यों-ज्यों इस आविष्कार (अनावरण) की क्रिया बढ़ती जाती है, त्यों-त्यों हमारे ज्ञान की वृद्धि होती जाती है। जिस मनुष्य का यह आवरण उठता जा रहा है, वह अन्य की अपेक्षा अधिक ज्ञानी है, और जिस पर यह आवरण तह पर तह पड़ा हुआ है, वह अज्ञानी है जिसका यह आवरण पूरा हट जाता है, वह सर्वज्ञ, सर्वदर्शी हो जाता है। चकमक् पत्थर के टुकड़े में अग्नि के समान ज्ञान, हमारी आत्मा में निहित है और सुझाव या उद्दीपक कारण रूप शिक्षा ही वह घर्षण है जो उस ज्ञानाग्नि को प्रकाशित कर देता है।

इस तरह प्रत्येक व्यक्ति विविध प्रतिभाएं लेकर जन्म लेता है, इनमें से कुछ प्रकट होती है और कुछ प्रसुप्त। शिक्षा प्रकट प्रतिभा को व्यवस्थित एवं विकसित तथा प्रसुप्त प्रतिभा को जागृति प्रदान करती है।

अर्थात् मनुष्य की अन्तर्निहित पूर्णता को अभिव्यक्त करना ही शिक्षा है और इसके लिए उसे सम्यक् दर्शन, सम्यक् ज्ञान और सम्यक् चारित्र रूप रत्नत्रय धारण करने की आवश्यकता होती है।

इस तरह शिक्षा आजीवन चलने वाली वह प्रक्रिया है, जो व्यक्ति का भावात्मक, ज्ञानात्मक तथा चारित्रात्मक विकास करती हुई कर्मबन्धन (आवरण) से मुक्ति दिलाती है।

जैनदर्शन के सम्यक् दर्शन में व्यक्ति का भावात्मक, सम्यक् ज्ञान में ज्ञानात्मक तथा सम्यक् चारित्र में चारित्रिक विकास (क्रियात्मक पक्ष) की बात निहित है। इन तीनों पक्षों के विकास का लक्ष्य व्यक्ति को कर्मबन्धन (आवरण) से मुक्ति दिलाकर मोक्ष या निर्वाण की प्राप्ति कराना है, जो कि व्यक्ति के परम या

पूर्ण विकास की अवस्था है।

इस तरह तीर्थङ्कर ऋषभदेव द्वारा प्रणीत शिक्षा-दर्शन में शिक्षा की अत्यन्त व्यापक अवधारणा समाविष्ट है जिसमें शिक्षा से तात्पर्य मात्र साक्षरता से नहीं अपितु समीचीन ज्ञान व अवबोध से है। इसका उद्देश्य सम्यक् दर्शन, सम्यक् ज्ञान और सम्यक् चारित्र द्वारा व्यक्तित्व का समग्र विकास करना है। शिक्षा का स्वरूप आजीवन ही है (अत्यन्त व्यापक मोक्ष प्राप्ति तक अनेक जीवनों में विस्तृत)

इसमें शिक्षा के औपचारिक और अनौपचारिक दोनों रूपों की मान्यता है। शिक्षा का स्वरूप बहुआयामी है। शिक्षण प्रणालियां अत्यन्त समृद्ध और आज भी प्रासंगिक हैं तथा सार्वकालिक, सार्वभौमिक महत्ता रखती हैं। इसमें आत्मानुशासन को ही सर्वोपरि माना है। इसमें स्त्री-पुरुष सभी को शिक्षा प्राप्ति का समान अधिकार है। भगवान् ऋषभदेव के अनुसार जीव शुद्धि, विकास और परिमार्जन के लिए सभी समान रूप से अधिकारी हैं। शिक्षा की अवधि छात्र के बोध के अनुसार है। बौद्धिक क्षमता से छात्र जितना अधिग्रहण करता उसके आगे का पाठ्यक्रम जारी रहता है। इसमें अध्ययन और अध्यापन की कोटि साधना (आचरण) और बोध पर निर्भर मानी है।

इसमें शिक्षा के विषयों में जीव और जगत् को केन्द्र बनाकर सम्पूर्ण प्राणिमात्र और जगत् के सम्पूर्ण विषयों को समाहित किया गया है। इसमें लौकिक के साथ पारलौकिक दृष्टि को ध्यान में रखते हुए, भौतिक विषयों के साथ धर्म, दर्शन और नैतिक शिक्षा को भी स्थान दिया है। वस्तुत: इनके समन्वय से ही, सन्तुलित व्यक्तित्व का विकास होता है।

इस प्रकार तीर्थङ्कर ऋषभदेव ने एक सार्वकालिक महत्तायुक्त अत्यन्त विकसित शिक्षा प्रणाली प्रदान की है जिसके अपने विशिष्ट उद्देश्य स्पष्ट दृष्टिगोचर हैं। अत: यदि तीर्थङ्कर ऋषभदेव द्वारा प्रतिपादित शिक्षा के सूत्रों को भारत के सभी विश्वविद्यालयों के शिक्षाशास्त्र विषयक विभिन्न पाठ्यक्रमों में सम्मिलित किया जाए तो शिक्षा जगत् में अनेक लोकोपयोगी नये आयमों का उद्घाटन सम्भव है।

●

भगवान् ऋषभदेव का मानव सभ्यता को योगदान

– प्रो. नलिन के शास्त्री, दिल्ली

भगवान् ऋषभदेव भारतीय चिन्तन-परम्परा के एक अत्यन्त उदार और उदात्त प्रतिरूप के रूप में उदित हुए हैं, जिन्होंने अपने अनूठे और मौलिक चिन्तन से उद्‌भूत दिशाबोध द्वारा पूरी सामाजिक-व्यवस्था को व्यवस्थित स्वरूप प्रदान कर उसे मानवीय सद्‌भाव की सूक्ष्म संवेदनाओं से स्पन्दित किया है, जिससे जन-जन स्फूर्त हुआ है। उन्होंने उस मानवीय सभ्यता एवं संस्कृति को प्रवृत्त किया, जो वर्धिष्णु है, सहिष्णु है और है जयिष्णु भी है और जो प्रकाश के मार्ग पर कर्मनिष्ठ होने से प्राप्त होने वाली संस्कार-सम्पन्नता को सम्प्राप्त करती है; एक समर्पित, निःशंक, निर्द्वन्द्व, अद्वैत चिन्तन- अवबोध के साथ। भगवान् ऋषभ की संबोधि में वे प्रक्रियाएं समाहित हुईं, जिनसे मानवीय समाज द्वारा विभिन्न चेतना केन्द्रों से सम्बन्धित सृजनात्मक जीवन के अर्थपूर्ण क्षण अद्‌भुत विस्तार पा सके। उन्होंने जीवन में साझेदारी की कला सिखाई, संस्कारजन्य भावनाओं को सुदृढ़ कर, आचार, व्यवहार, रहन-सहन, वेशभूषा, आर्थिक विकास, कला, शिल्प आदि का इस प्रकार प्रवर्तन किया कि वे दिशा-निबद्ध मर्यादा की कुशल साधना के पर्याय बन गये। उन्होंने मानवता को परिष्कृत कर उसमें सुविचारों के अंकुर उत्पन्न किये, जो कालान्तर में कल्पपादप का स्थान ले सके तथा जिनसे आन्तरिक भाव-तत्त्वों की परिष्कृत निर्मिति भी सम्भव हो सकी।

सामाजिक जीवन की आवश्यकताओं की पूर्ति हेतु, सुसंस्कारों एवं सामाजिक दायित्वों तथा कर्त्तव्यों का परिबोध कराने एवं उनका सतत् परिष्कार कराने के उद्देश्य से, सामाजिक संस्थाओं की निर्मित कर, भगवान् ऋषभदेव ने मानवीय सभ्यता एवं संस्कृति के विकास की एक ऐसी एक इबारत लिखी, जो उन्हीं के द्वारा प्रतिपादित, षट्‌कर्म संस्कृति से पुष्पित एवं पल्लवित हुई। अपनी पुत्रियों को शिक्षित कर, नारी स्वातन्त्र्य एवं नारी सशक्तिकरण की दिशा में, एक नया प्रयोग, उन्होंने प्रवृत्त किया, जो आज अद्‌भुत विस्तार पा चुका है। भगवान् ऋषभदेव ने कृत्रिमताओं की इति की और विभावों का विसर्जन कर, जिस कलात्मकता को विकसित किया, वह अपने शुद्धात्म भावों से सर्वत्र एक सौन्दर्यशीलता का सृजन करती है और सम्पूर्ण भारतीय सांस्कृतिक क्षितिज पर, जीवन की गुण-सम्पन्नता एवं जीवन के प्रति सम्मान के भावों के अद्‌भुत बिम्ब भी विस्तीर्ण करती है, जिससे जन-जन सतत् स्फूर्त हो रहा है- आज भी।

●

भारतीय समाज और संस्कृति के विकास में ऋषभदेव का योगदान

– डॉ. श्रीरंजनसूरिदेव, पटना

आदि तीर्थङ्कर ऋषभदेव सर्वजन-वन्दनीय महान् संस्कृति पुरुष थे। श्रमण-संस्कृति के तिरेसठ शलाकापुरुषों में उनका सर्वाग्रगण्य स्थान है। दूसरे शब्दों में कहें तो, वह श्रमण-संस्कृति और वैदिक-संस्कृति बनाम समग्र भारतीय संस्कृति के विकासपुरुष हैं। आधुनिक सभ्यता के आदिकाल में जब कर्मभूमि का युग प्रारम्भ हुआ, तब इस युग की सामाजिक सभ्यता और संस्कृति के विकासकर्त्ता चौदह महापुरुष हुए, जिन्हें 'कुलकर' या 'मनु' कहा गया। उन्होंने क्रमशः तत्कालीन लोकजीवन के लिए विशेष रूप से असि, मसि, कृषि, शिल्प, वाणिज्य और विद्या– इन छः आजीविका के साधनों की व्यवस्था की। इसके अतिरिक्त देश और नगरों के साथ ही, गुण और कर्मों के अनुसार वर्ण एवं जातियों का विभाजन किया।

ऋषभदेव के पिता नाभिराय या नाभिराज उक्त चौदह कुलकरों में थे, जिनसे उन्होंने प्रेरणा प्राप्त कर भारतीय सभ्यता और संस्कृति के विकासकार्य को आगे बढ़ाया, जिसे ऐतिहासिक और क्रोश शिलात्मक मूल्य प्राप्त हुआ। इतना ही नहीं, जैनधर्म प्रारम्भ या प्रादुर्भाव भी उन्हीं से माना जाने लगा।

वैदिक दृष्टि से भारतीय संस्कृति का प्रारम्भ-काल ऋग्वेद से माना जाता है; किन्तु ऋषभदेव के काल का अनुमान लगाना कठिन है। जैन पुराणकारों ने उनकी कालावधि का निर्णय कोटाकोटि सागरों के प्रमाण से करते हैं। भारतीय संस्कृति के उन्नायक ऋषभदेव ही एक ऐसे तीर्थङ्कर हैं, जिनका जीवन-वृत्त जैन-साहित्य के अलावा वैदिक-साहित्य में भी उपलब्ध है। श्रीमद्भागवतपुराण के पञ्चम स्कन्ध के प्रथम छः अध्यायों में ऋषभदेव के वंश, जीवन एवं तपश्चरण का वृत्तान्त वर्णित है, जिसकी मुख्य बातों से जैनपुराणों की बातों में पर्याप्त समानान्तरता है।

कैवल्य-प्राप्ति के बाद ऋषभदेव ने दक्षिण कर्नाटक तक के अनेक प्रदेशों में अपने महार्घ उपदेशों के माध्यम से भारतीय संस्कृति का प्रचार किया। श्रमणबेलगोला जैसे कर्नाटकीय दाक्षिणात्य प्रदेशों में तो जैन संस्कृति ही मानों भारतीय संस्कृति का पर्याय बन गयी है।

ऋग्वेद और भागवतपुराण में वर्णित ऋषभदेव एवं वातरशना मुनियों के वृत्त से यह स्पष्ट होता है कि वातरशना मुनियों और ऋषभदेव का भारतीय संस्कृति के विकास में महत्त्वपूर्ण स्थान है।

चरित काव्यों में भी, ऋषभदेव को आर्त्तजनों के लिए करुणावतार और अभिनव कल्पवृक्ष कहा गया है तथा उन्हें जन्म से ही मति, श्रुत एवं अवधिज्ञान से सम्पन्न बताया गया है। ज्ञान और करुणा ही ('पढमं णाणं तओ दया') भारतीय संस्कृति के मूल तत्त्व हैं। और फिर, भारतीय संस्कृति के तहत षट्कर्म के निरूपक भी ऋषभदेव थे। (विशेष द्रष्टव्य : 'वड्ढमाणचरिउ' : विबुध श्रीधर, २.१२)

'वसुदेवहिण्डी' के अनुसार, ऋषभदेव ने भारतीय संस्कृति एवं समाज के विकास के लिए अनेक उपक्रम किये। उन्होंने समाज में सुख-शान्ति की स्थापना के लिए राजा की प्रजासेवा-विधि का निर्देश किया और कुलकरों द्वारा निर्धारित दण्डनीति की मर्यादा का उल्लंघन देख उसकी (दण्डनीति की) की उग्रता को मूल्य दिया और शिक्षा के क्षेत्र में गणित (अंक) विद्या एवं लिपिशास्त्र का विकास किया।

ऋषभदेव इक्ष्वाकु-वंश के संस्थापक भी बने, जिसकी सामाजिक प्रतिष्ठा और सांस्कृतिक गरिमा दूसरे वंशों के लिए आदर्श थी। ऋषभदेव के दो पुत्र अधिक यशोधन हुए — भरत और बाहुबली। भरत के नाम पर ही हमारा देश 'भारतवर्ष' शब्द से संज्ञित हुआ। ऋषभदेव के अहिंसा-सिद्धान्त या अहिंसा-संस्कृति का व्यापक प्रभाव पूरे भारतवर्ष पर पड़ा, जिससे नरसंहारकारी अस्त्रयुद्ध या अधमयुद्ध स्थगित हो गया। भारतीय संस्कृति के व्यापक विकास में ऋषभदेव का यह अवदान अभूतपूर्व है। उनकी इस अहिंसा-संस्कृति का ततोऽधिक लोक-प्रभावकारी विकास उनके कनिष्ठ पुत्र और चक्रवर्ती भरत के तपोनिष्ठ अनुज बाहुबली ने किया।

●

आदिपुराण में वर्णित भगवान् ऋषभदेव

– डॉ. मुमुक्षु शान्ता जैन, लाडनूँ

कला, साहित्य, धर्म, संस्कृति और सभ्यता के अनूठे महाग्रन्थ आदिपुराण में आचार्य जिनसेन ने भगवान् ऋषभ का चरित्र-चित्रण किया है, उसे पढ़कर लगता है कि आदिपुराण उनके जीवन के ऊर्ध्वारोहण की गाथा है। ऋषभ के जीवन का आदि, मध्य और अन्तिम पड़ाव सृजन, निर्माण, विकास, सुरक्षा और समृद्धि का ज़ीवन्त प्रमाण है। उनका जीया गया हर सोच और भाव आज जीवन का दर्शन बन चुका है। उनका चिन्तन, निर्णय और क्रियान्विति से निष्पन्न उपलब्धियां उत्पाद, व्यय और ध्रुव के शाश्वत सत्य की अभिव्यक्ति हैं। उन्होंने जो कुछ कहा, वह हेय-ज्ञेय-उपादेय का समीक्षात्मक प्रशिक्षण है।

भगवान् ऋषभदेव पुरुषार्थ चतुष्टयी के पुरोधा थे। अर्थ और काम को संसार की अनिवार्यता मानी तो धर्म और मोक्ष को जीवनका चरम लक्ष्य तक पहुँचाने वाला सही रास्ता बतलाया। वे प्रयोगधर्मा ऋषिपुरुष थे। उन्होंने जीने की शैली सिखलायी। बिखराव को व्यवस्था दी। उन्होंने दण्डनीति और न्यायनीति का बोध देकर जनता को अपराधों से बचाया। भोग से त्याग की ओर जाने वाले राजपथ का निर्माण किया। प्राप्त संसाधनों की आवश्यकता और उपयोगिता का विवेक बोध जगाया। स्व और पर की समीक्षा करते हुए मनुष्य को अपने कर्त्तव्य के निर्वहन में दायित्व की प्रेरणा दी। गृहस्थ जीवन में भी रहते हुए अनासक्त बनकर जीने की शैली दी। व्यष्टि और समष्टि के समन्वित विकास की सर्जना सिखलाई। ऋषभ प्रथम संस्कृति के निर्माता, निर्णायक और नियामक बने।

भगवान् ऋषभ इस अवसर्पिणी काल के २४ तीर्थङ्करों में आद्य तीर्थङ्कर थे। उनका जन्म अवसर्पिणी के तीसरे काल के अन्त में उस समय हुआ जब भोगभूमि की व्यवस्था एवं प्रभावकता नष्ट होने लगी थी और कर्मभूमि नयी रचना के इन्तजार में थी। एक ओर साधन-सुविधाओं में कमी आने लगी तो दूसरी ओर जनसंख्या और जीवन की आवश्यकताओं में वृद्धि होने लगी।

भगवान् ऋषभदेव का जन्म अयोध्या के अन्तिम मनु कुलकर राजा नाभि के घर उनकी पत्नी मरुदेवी की कुक्षि से हुआ। जब वे गर्भ में आए तो माँ मरूदेवी ने १६ श्रेष्ठ स्वप्न देखें। महारानी ने राजा नाभिराज के पास जाकर स्वप्न दर्शन की बात कही और राजा ने स्वप्न के फलों की मीमांसा करते हुए कहा— तुम्हारे गर्भ में एक महान् आत्मा का अवतरण हुआ है। जब वे जनमें, वह शुभ दिन था चैत्र कृष्णा नवमी का । शुभ मीन लग्न, ब्रह्मयोग, धनराशि का चन्द्रमा और उत्तराषाढ़ा नक्षत्र।

भावी तीर्थङ्कर का जन्मोत्सव मनाने स्वयं सौधर्म इन्द्र अपने सम्पूर्ण वैभव के साथ मेरू पर्वत पर बालक ऋषभ को ले जाकर उनका अभिषेक किया। इन्द्र द्वारा की गयी स्तुति ऋषभ के जीवन की भविष्यवाणी थी। यद्यपि जन्म से कोई गुणसम्पन्न नहीं होता, उम्र के साथ ज्ञान और अनुभव बढ़ता है, पर ऋषभ तीन ज्ञान के धनी थे, इन्द्र ने सहस्राक्षी बनकर प्रज्ञा से उनका भावी स्वरूप देखा और अपूर्व स्तुति की। इन्द्र स्तुति में ऋषभ की तेजस्विता, वर्चस्विता, मनस्विता, तपस्विता, यशस्विता का सुन्दर वर्णन है।

उम्र के साथ ऋषभ का शैशव दूज के चाँद की तरह अपनी सम्पूर्ण कलाओं के साथ बढ़ने लगा।

ऋषभ जन्मजात तीन ज्ञान से (मति-श्रुत-अवधि) समृद्ध थे। उनकी विलक्षण प्रतिभा थी। जागृत प्रज्ञा थी। विश्व विद्याओं में पारङ्गत थे। बिना विद्यालय गये कलाओं में निपुणता, सम्पूर्ण विद्याओं में प्रवीणता और समस्त क्रियाओं में अपूर्व चतुरता प्राप्त थी। ऋषभ बाल्यावस्था में ही सर्वविद्याविद् बन गये थे। उनके गुणों के विकास का सम्पूर्ण वृत्त मानव जाति के विकास का प्रेरक वृत्त है।

शारीरिक विकास के साथ ऋषभ में गुणों का विकास भी उम्र के साथ बढ़ता गया। उनके शरीर का संस्थान समचतुरस्र और संहनन वज्रऋषभनाराच था। ऋषभ की जैसी रूप सम्पदा थी, वैसी ही भोग सम्पदा थी। उनका शरीर १०८ शुभ लक्षण और नौ सौ व्यञ्जनों से सुशोभित था।

पुण्य कर्म के उदय से दिव्य भोग भोगते हुए और देवकुमारों के साथ विविध बालक्रीड़ाएं करते हुए राजकुमार ऋषभ ने यौवन में प्रवेश किया। यौवन की दहलीज पर पैर रखते ही ऋषभ का सौन्दर्य शत गुणित होकर निखरने लगा। कवि के शब्दों में पुण्योदय से ऋषभ को सब कुछ प्राप्त था— सुन्दर शरीर, निरोगता, ऐश्वर्य, धन-सम्पत्ति, सुन्दर बल, आयु, यश, बुद्धि सर्वप्रिय वचन और चतुरता। यौवन का अभ्युदय देखकर पिता नाभि ने यह जानते हुए भी कि ऋषभ चरमशरीरी जीव है, धर्मतीर्थ के प्रवर्तक बनेंगे, उन्होंने शादी का प्रस्ताव रखा और समाज-व्यवस्था के सम्यग् संचालन, निर्बाध वंश-परम्परा का सम्पादन, गृहस्थ धर्म का कर्त्तव्य बोध समझाया। ऋषभ ने पिता की आज्ञा को ओम् कहते हुए स्वीकृति दे दी।

नाभिराज की प्रेरणा या आज्ञा से उन्होंने कच्छ, महाकच्छ राजाओं की बहिनें यशस्वती और सुनन्दा से शादी की। महारानी यशस्वती से भरत आदि ९९ पुत्र एवं पुत्री ब्राह्मी का जन्म हुआ और महारानी सुनन्दा ने बाहुबली और सुन्दरी नामक पुत्री को जन्म दिया।

ऋषभ सर्वविद्या के धनी थे। वे व्यक्तित्व विकास के लिए अपने पुत्र-पुत्रियों को भी सर्वविद्याओं में पारङ्गत करना चाहते थे। ऋषभ ने मनुष्य जन्म की सार्थकता पर विचार-विमर्श किया और देखा कि सुन्दर शरीर, अनुपमेय अवस्था और दीप्तिमान चरित्र विद्या से विभूषित होना चाहिए। ऋषभ ने ज्ञान के प्रति आकृष्ट करने के लिए विद्या की गहराई बतलाई और अपने रागी पुत्र-पुत्रियों को जीवन से जुड़ी हर विद्या का सम्यक् ज्ञान कराया। इस प्रकार प्रजाहित के लिए, अभ्युदय के लिए पुरुषों को बहत्तर कलायें, स्त्रियों को चौसठ कलाएँ और सौ प्रकार के शिल्पों का ज्ञान कराया।

इसी समय यौगलिक युग का पर्यावरण बदलने लगा। कल्पवृक्ष रस, वीर्य और विपाक आदि से रहित होने लगे। जो धान्य बिना बोए ही उत्पन्न होता था वो भी नहीं फलता। भूख, प्यास, रोग से तन और मन पीड़ित होने लगे। प्रकृति, स्वभाव, उपज, फल आदि में ह्रास होने लगा। शीत, आतप, महावायु और वर्षा का भी उपद्रव प्रकट होने लगा। व्यवस्था संचालन की प्रक्रिया में हकार, मकार और धिक्कार— इन तीनों दण्ड नीतियों को जब निष्प्रभावी देखा तो समयज्ञ ऋषभ ने परिस्थिति का पर्यवेक्षण करके राजशक्ति का प्रयोग किया। लोगों को समझाया— अब एक राजा की जरूरत है। दण्डव्यवस्था करनी होगी, तभी अपराध से बच सकेंगे।

समस्याओं से समाधान पाने के लिए जनता राजा नाभि के पास पहुँची और अपने दुःख मुक्ति के लिए

समाधान मांगा। नाभिराज ने आशा और विश्वास के साथ ऋषभ को सक्षम समझकर राजा बना दिया। अपायज्ञ और उपायज्ञ ऋषभ ने समाजव्यवस्था की। राजनीति का शुरूआत हुई। दण्डनीति का निर्धारण किया। उन्होंने अकर्म युग से कर्म युग में प्रवेश किया।

ऋषभ ने मनुष्य को शिक्षा और दीक्षा से विज्ञ बनाया। सामाजिक मूल्यों की स्थापना की। उन्होंने स्त्री और पुरुष के बीच क्षमताओं और अधिकारों का भेद नहीं समझा। समानता की भूमिका पर पुत्रों की तरह पुत्रियों को भी लिपि विद्या और अंक विद्या गणित की शिक्षा दी।

युगीन समस्याओं के समाधान में ऋषभ का राजनैतिक नेतृत्व सामने आया। ऋषभ ने राजशासन का संचालन किया।

ऋषभ की समाज-व्यवस्था लोकप्रिय, हितैषी और दूरगामी फल देने वाली थी। उसमें निज पर शासन, फिर अनुशासन का ध्येय जुड़ा था। ऋषभ ने सबका पोषण किया। इसलिए शोषण का जन्म नहीं हुआ।

आजीविका वृत्ति के संसाधनों का निर्माण, विकास, नियोजन सही ढंग से हो, इसलिए उन्होंने असि, मसि, कृषि, विद्या, वाणिज्य और शिल्प कर्म की व्यवस्था की। उन्होंने क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र तीन वर्णों की स्थापना की, क्योंकि बदलती परिस्थितियों में व्यवस्था संचालन के लिए कर्म का विभाजनऔर दायित्व निश्चित करना जरूरी बन गया था। यद्यपि यौगालिक युग में भोगभूमि में कर्म करने की और जाति भेद की जरूरत ही नहीं थी पर अब समुदाय के बीचसंविभाग जरूरी था, अत: उन्होंने आजीविका को व्यवस्थित रूप देने और स्वस्थ जीवन शैली के सम्यग् संचालन के लिए वर्ण-व्यवस्था का स्वरूप निर्मित किया। सबसे पहले प्रजा की सृष्टि यानी विभाग बनाये। आजीविका के नियम निर्धारित किये फिर मर्यादा का उल्लंघन न हो, इसलिए अनुशासन की आचार-संहिता बनायी।

आचार्य जिनसेन ने ऋषभ देव को एक हजार से भी अधिक नामों से अभिहित किया है— इक्ष्वाकु, गौतम, काश्यप, मनु, कुलधर, प्रजापति, विधाता, विश्वकर्मा आदि। ऋषभ से कर्तृत्व युग का प्रारम्भ हुआ। उन्होंने जीवन शैली का— खान-पान, रहन-सहन, भाषा, व्यवहार, विचार, संस्कार, सुख-दुःख की सहभागिता की नयी रचना की। उन्होंने काम, अर्थ, धर्म और मोक्ष— चार पुरुषार्थों का आश्रय लिया, जो परिपूर्ण जीवन की यथार्थता का दर्शन है।

भोग और ऐश्वर्य सम्पन्न ऋषभदेव का राज्यशासित समय पुण्यों का प्रतिफल समझा जा सकता है। आचार्य जिनसेन लिखते हैं कि धर्म का फल पुण्य है। ऋषभ के पुण्य की विरासत सीमातीत थी, अत: उन्हें हर कदम पर सुख-समृद्धि मिलती गयी।

ऋषभ चरमशरीरी जीव थे, इसी जन्म में उन्हें भवमुक्त होना था, इसलिए साधुता के संस्कार याद दिलाने के लिए इन्द्र ने नृत्य का आयोजन किया और इस नाटक में अभिनय करती नृत्याङ्गना, नीलाञ्जना का आयुष्य क्षीण होने से उसे अदृश्य होते हुए देखकर मन संकल्पित हो उठा। मन में वैराग्य जागा, संसार की क्षणभंगुरता समझी। दृश्य दर्शन बनकर दृष्टि जगा गया।

ऋषभ के मन में जागते वैराग्य के साथ संसार की नश्वरताका जो बोध हुआ उसे आदिपुराण नामक इस महाकाव्य में विस्तार से दिया गया है। यह वैराग्य बोध की सम्पूर्ण प्रक्रिया का निदर्शन है। सत्य की खोज में ज्योहीं ऋषभदेव का कदम उठा कि इन्द्र ने लौकान्तिक देव को ब्रह्मलोक से उतारा। जिन्होंने ऋषभदेव का **तप कल्याणक** महोत्सव मनाया। ऋषभ का मन सन्यस्त हो चुका था। उन्होंने अपना दायित्व, अधिकार, वैभव, सत्ता सभी कुछ भरत को सौंपकर, बाहुबली को युवराज पद पर स्थापित किया। एक ओर राज्याभिषेक, दूसरी ओर निष्क्रमण-कर्त्तव्य और दायित्व की सीमाओं का बोध करा रहा था। उन्होंने पदार्थवाद की स्थापना के बाद अब आत्मवाद की बुनियाद रखी। संग्रह के साथ त्याग की परम्परा स्थापित की।

ऋषभदेव ने वहाँ उपस्थित सभी को जीवन को सम्बोध दिया। सबसे मौखिक एक बार फिर आज्ञा प्राप्तकर सिद्धों की साक्षी से वे पूर्णत: अपरिग्रही और निर्ग्रन्थ बन गये। तदनन्तर पूर्वाभिमुख होकर पद्मासन में बैठकर सिद्ध परमेष्ठि को नमस्कार करके उन्होंने पञ्चमुष्टियों में केश लुंचन किया। मोहनीय कर्म की मुख्य लताओं के समान बहुत सी केशरूपी लताओं को लोंचकर दिगम्बरत्व को धारण कर लिया। इन्द्र ने भगवान् के केशों को क्षीरसमन्दर में विसर्जित कर दिया। कवि कहते है कि महापुरुषों के आश्रय से मलिन व्यक्ति भी पूज्यता को प्राप्त कर लेता है। दीक्षा ग्रहण करते ही भाव विशुद्धि के साथ भगवान् ऋषभदेव को मनःपर्ययज्ञान उपलब्ध हो गया।

संयम ग्रहण के साथ मुनिराज ऋषभदेव ने घोर तप का संकल्प कर लिया। अनगिनत बाधाएं आईं पर फौलादी मन कभी न रुका, न झुका, न थका और न कहीं थमा। उन्होंने निर्जन शून्यवनों में, एकान्त गिरिकन्दराओं में, भयावह श्मशानों में गगनचुम्बी पवर्तमालाओं में तप तपा।

भगवान् ने जब दीक्षा स्वीकार की उस समय बिना संयम का अभिप्राय जाने चार हजार राजाओं ने एक साथ दीक्षा स्वीकार की। कुछ स्नेह से, कुछ भय से, कुछ मोह से संयमी बने। पर भगवान् की कठोर तपस्या देखकर बहुत से मुनि डर से, कुछ असहिष्णुता से, कुछ अज्ञान से और कुछ अनजाने में घर लौट गये। कुछ मुनि उनका साथ नहीं निभा पाये।

पुण्योदय से एक दिन हस्तिनापुर के राजा सोमप्रभ के लघुभ्राता महाराजा श्रेयांस को प्रथम दानदाता बनने का सौभाग्य मिला। मुनिराज ऋषभदेव को नवधाभक्ति के साथ उन्होंने इक्षुरस का आहार दान देकर पारण सम्पन्न कराया। महाराजा श्रेयांस इस युग का प्रथम आहार दाता बने और व्रतदान की परम्परा शुरु की। उसी समय आकाश से देवताओं द्वारा धन्य यह दान, धन्य यह पात्र,धन्य यह दाता की ध्वनि होने लगी और यह शुभ दिन अक्षय तृतीया के नाम से विश्रुत हो गया।

ऋषभ साधना करते हुए अयोध्या महानगर के उपनगर पुरिमताल में पधारे जहाँ शकटागुरु नाम का रमणीय उद्यान था, वहाँ चैत्यवृक्ष की छाया में भगवान् ऋषभदेव ध्यान लीन हो गये। शुद्ध भाव लेश्या के साथ समस्त आवारक, विकारक, अवरोधक कर्मों का विलय हुआ। निरावरण ज्ञान, अव्यावाध सुख, अप्रतिहित शक्ति का स्रोत खुल गया और ऋषभदेव को फाल्गुन कृष्णा एकादशी के दिन उत्तराषाढ़ नक्षत्र में केवलज्ञान प्राप्त हुआ। तीर्थङ्कर भगवान् ऋषभ की समवसरण में पहली बार देशना देने के लिए दिव्यध्वनि व्यक्त हुई। समवशरण में उपस्थित चक्रवर्ती राजा भरतसहित अनेकों भव्य जीव प्रवचन सुनकर प्रतिबुद्ध हुए, व्रती बने, महाव्रती बने

और भरत के छोटे भाई वृषभसेन दीक्षित होकर भगवान् के प्रथम गणधर बने। ब्राह्मी और सुन्दरी भी दीक्षित होकर आर्यिका संघ की प्रमुखा बनीं। श्रुतकीर्ति प्रथम श्रावक और प्रियाव्रता नाम की स्त्री श्राविका बनी। इस अवसर्पिणी काल में भरत के भाई अनन्तवीर्य प्रथम मोक्षगामी बने। भगवान् ऋषभदेव ने आजीवन हर कदम पर प्रायोगिक जीवन जिया।

सर्वज्ञता प्राप्ति के बाद जनपद कल्याणार्थ आर्य और अनार्य देशों में बहुत लम्बे विहार किये। अन्त में उन्होंने कैलाश पर्वत से निर्वाण पद प्राप्त किया। ऋषभदेव की सम्पूर्ण आयु ८४ लाख पूर्व की थी।

भगवान् वृषभ का जीवनवृत्त जितना व्यापक है उतना ही गहरा-गम्भीर। आचार्य जिनसेन द्वारा रचित आदिपुराण में उनका वर्णन संस्कृत-साहित्य की अमूल्य धरोहर है। इसमें इतिहास की प्रस्तुत पारदर्शिता, महाकाव्य की गुणवत्ता, धर्मशास्त्र की विधि, राजनीति की नीति, आचार की संहिता, प्रजा की हित कामना, व्यक्ति, व्यवस्था और व्यवहार संचालन की पद्धति, दर्शन की मीमांसा आदि जीवन की हर विधा से जुड़ी व्याख्या द्रष्टव्य है। भगवान् ऋषभदेव का उदात्त चरित्र-चित्रण न केवल साहित्यिक भाव में गुम्पित महाकाव्य है अपितु अध्यात्म का एक अनूठा महाग्रन्थ है जो हर भव्य प्राणी के लिए कल्याण पथ का पाथेय है।

●

Bhagwan Adinath Cult in Andhra

- *Dr. G. Jawahar Lal, Rajahmundry (A.P.)*

Jainism is a living religion in India and it was profounded by 24 Tirthankaras among whom Rishabhanatha was the earliest and Mahavira the last one. In Jainism, the Tirthankaras have been given the highest position. Most of the Tirthankaras are Kshatriyas and belonged to royal families. They also attained enlightenment by performing austerities and practicised the law of Piety. Almost all the Tirthankaras have been the subjects of many Charita and purāṇa books in Jaina literature. In the verse of Rigveda, Rishabha has been mentioned as a king and bestower of wealth (Rigveda, I.23.177). Details of Adinatha or Rishabhanatha history are preserved in the Adipurāṇa of the Digambaras, the Kalpasutras and Hemachandra's Trishasti-Salaka-Purusha Charitra. Adinatha was born to Nabiraja and Marudevi, the king and queen of Ayodhya. One day the court dancer, Nilanjana displayed his dance, she fell down and died also. Realising the ephemeral nature of mundana life, Adinatha took to asceticism and got enlightenment. Finally, he attained parinirvāna on the summit of Ashtapada or Kailasa mountain. Moreover, Andhra is associated with the life of Adinaths's son, Bāhubalī. Podana, the present Bodhana in Nizamabad district of Andhra, appears to have been a Jaina-tirtha in very early times. It is referred to in the Jain literature as the capital of Bāhubalī. It is thus stated in one of the Sravana-Belgola Inscriptions that the Emperor Bharata, the elder son of Purudeva made an image of Bāhubalī, 525 bows high. Actually, It provoked Chamundaraya to make a replica of Gommaṭeswara of Bodhan and installed it at Sravana-Belgola.

No doubt, Bhagawan Adinatha's worship in Andhra goes to early times. Several Adinatha sculptures and temples have been noticed in recent years in different parts of Andhra. Most of the scholars may not know that the earliest Jaina image found so far, in Andhra, belongs to Adinatha. While the earliest known sculptural image in the North, is the statue of standing Parsvanath, now preserved in the Prince of Wales Museum, Bombay; in Andhra, the earliest Jaina-image of Adinathaswamy found in Perali village, Karlapalem of Guntur District. The pedestal of Jaina image contains a label inscription of 4th-5th century characters.

●

चतुर्थ तीर्थङ्कर अभिनन्दन एवं उनकी पञ्च-कल्याणक भूमियाँ

– डॉ. कृष्णा जैन, ग्वालियर

अनादिकाल से मानव मानवता की प्रतिष्ठा के लिए धर्म-दर्शन का प्रयोग करता आ रहा है। इस विश्व में धर्म-दर्शन का स्वरूप निर्धारण करने के लिए वीतराग नेता या तीर्थङ्कर जन्म ग्रहण करते हैं। व्यक्ति की सत्ता, स्वाधीनता और सह-अस्तित्व की भावना का प्रवर्तन तीर्थङ्करों द्वारा ही होता है। सहिष्णुता, उदारता और धैर्य के सन्तुलन के साथ वैज्ञानिक सत्यान्वेषण की परम्परा का प्रादुर्भाव भी तीर्थङ्करों द्वारा ही सम्भव है।

वर्तमान कल्पकाल में चौबीस तीर्थङ्कर हुए हैं जिनमें अभिनन्दननाथ चतुर्थ तीर्थङ्कर हैं। तिलोयपण्णत्ति के तृतीय महाधिकार में मंगलाचरण रूप में भगवान् अभिनन्दन नाथ का स्तवन करते हुए आचार्य यतिवृषभ लिखते हैं —

भव्व जण-मोक्ख जणणं, मुणिंद-देविंद पणद पय कमलं।
णमिय - अहिणंदणेसं, भावण लोयं परूवेमि।।

अर्थात् भव्य जीवों को मोक्ष प्रदान करने वाले तथा मुनीन्द्र (गणधर) एवं देवेन्द्रों के द्वारा वन्दनीय चरणकमल वाले अभिनन्दन स्वामी को नमस्कार कर भावन लोक का निरूपण करता हूँ।

आदिपुराण में आचार्य जिनसेन ने अभिनन्दननाथ की पूर्व की दो पर्यायों का वर्णन किया है। राजा महाबल एवं अहमिन्द्र। यों तो यह जीव अनादिकाल से संसार परिभ्रमण करता चला आ रहा है। इसकी उन असंख्यात पर्याय जन्मों का कोई महत्त्व नहीं है, क्योंकि जिन पर्याय या जन्मों में इसने अपनी आत्मशक्ति के विकास का कोई प्रयास नहीं किया। पर्याय या जन्म वही महत्त्वपूर्ण होता है जिसमें व्यक्ति जन्म-मरण के चक्र से मुक्ति प्राप्त करने के लिए संकल्प या साधना आरम्भ करता है। तीर्थङ्कर अभिनन्दन के अगणित और संख्यातीत जन्मों में राजा महाबल की पर्याय का सबसे अधिक महत्त्व और मूल्य है, क्योंकि इसी जीवन में उन्हें तीर्थङ्कर प्रकृति का बंध हुआ। उसके बाद विजय नामक विमान में अहमिन्द्र के रूप में उत्पन्न हुए। वहाँ से चय कर अयोध्या नगरी के राजा स्वयंवर एवं रानी सिद्धार्थ के गर्भ से अभिनन्दननाथ के नाम से जन्म लिया।

तीर्थङ्कर सम्भवनाथ के मोक्षगमन के दस लाख करोड़ सागरोपम के पश्चात् अभिनन्दननाथ का जन्म हुआ। जन्म से ही आप सम्यग्दृष्टि एवं तीन ज्ञान से युक्त थे। ५० लाख पूर्व आपकी आयु थी। ३५० धनुष ऊँचा शरीर था। 'बन्दर' उनका चरणचिह्न था। आपकी शोभा लोकोत्तर थी। कुमारावस्था, राज्यावस्था, अथवा संयमदशा सर्वअवस्थाओं में वे एक समान धीर-वीर, गम्भीर और शूरवीर थे। संसार के एक श्रेष्ठ राजा के रूप में लगभग ३७ लाख पूर्व तक उन्होंने भली-भाँति राज्य किया। आयु के साढ़े छत्तीस लाख पूर्व बीत जाने पर एक दिन मेघों की शोभा में बना हुआ महल देखते-देखते विघट गया उसी से उन्हें वैराग्य हो गया और दीक्षा धारण कर केवलज्ञान प्राप्त किया।

अयोध्या नगरी एवं श्री सम्मेद शिखर तीर्थराज को आपकी कल्याणक भूमि बनने का सौभाग्य प्राप्त हुआ।

आपके इसी महान् व्यक्तित्व को आलेखित कर स्वनामधन्य आचार्यों ने अपनी लेखनी को सार्थक किया है जिनमें आचार्य यतिवृषभ, समन्तभद्र, आचार्य गुणभद्र, हेमचन्द्र, शीलांक, आशाधर, अमरचन्द, पूज्यपाद आदि प्रमुख हैं। जैन शिल्पकारों को भी भगवान् अभिनन्दननाथ के व्यक्तित्व ने प्रभावित किया अनेक तीर्थक्षेत्रों पर उनकी मूर्तियाँ प्रतिष्ठित की गयी जिनमें कुण्डलपुर, खजुराहो, मंगलपुर, खण्डगिरि आदि प्रमुख हैं। उनकी जन्मभूमि अयोध्या में तो उनकी टोंक एवं मूर्तियाँ स्थापित हैं। विशेषकर भगवान् अभिनन्दननाथ को समर्पित अतिशय क्षेत्र मंगलपुर उनकी यशोगाथा को प्रकीर्तित कर रहा हैं। मालवा देश के मंगलपुर में प्रताप फैलाने वाले अभिनन्दननाथ की प्रतिमा को म्लेच्छों ने तोड़ दी थी जो पुन: अपने आप जुड़ गयी। उसके कारण अनेक उपद्रव नष्ट हुए।

प्रस्तुत आलेख को तीन तालिकायों से संयुक्त किया गया है जिसमें भगवान् अभिनन्दननाथ का संक्षिप्त परिचय, उनके समवशरण का विवरण एवं मत-वैभिन्न को निरूपित किया गया है एवं कुण्डलपुर एवं खण्डगिरि में स्थापित भगवान् अभिनन्दननाथ की मूर्तियों के छायाचित्रों से संयुक्त है।

इससे भली-भाँति स्पष्ट होता है कि भगवान् अभिनन्दननाथ का व्यक्तित्व जैन-साहित्य एवं शिल्प में विविधता के साथ आलेखित एवं रूपायित है। आचार्यों एवं शिल्पकारों दोनों को ही उनके अतिशयकारी एवं मंगलकारी रूप ने आकर्षित किया है जिससे कि आचार्यों ने उनके व्यक्तित्व का वर्णन कर अपनी लेखनी को सार्थक माना है वहीं शिल्पकारों ने आपके व्यक्तित्व को अंकन कर अपनी छैनी एवं जीवन को सार्थक किया है। उसी साहित्य से, शिल्प से प्रेरणा प्रदान कर जनसामान्य को अपने आत्मविकास की यात्रा का मार्ग प्रशस्त हो सका है। भव्य आत्मायें इसी से प्रेरणा ग्रहण कर, आदर्श चरित्रों का अनुकरण कर मोक्षमार्ग का अवलम्बन ग्रहण करती हैं एवं अपना पथ प्रशस्त करती है। भगवान् अभिनन्दननाथ का व्यक्तित्व भव्य आत्माओं के लिए दीपस्तम्भ है।

●

पञ्चम तीर्थङ्कर सुमतिनाथ और उनकी पञ्च-कल्याणक तीर्थ-भूमियाँ

—श्रीमती डॉ. राका जैन, लखनऊ

भगवान् सुमतिनाथ या सुमति जिनेन्द्र अवसर्पिणी काल के भरत क्षेत्र स्थित उत्तराखण्ड में कर्मभूमि के प्रारम्भ में अर्थात् चतुर्थ काल के पञ्चम तीर्थङ्कर हैं — 'तीर्थं करोतीति तीर्थंकरः अपि च, तरति संसारमहार्णव येन निमित्तेन तत्तीर्थम्।' तीर्थङ्कर अपनी दिव्य-देशना द्वारा असंख्य जनसमूह को कल्याण के प्रशस्त मार्ग पर लगाते हैं।

भगवान् सुमतिनाथ के पूर्व भव का नाम महापुराण के अनुसार रतिषेण, पद्मपुराण के अनुसार महाबल, हरिवंशपुराण के अनुसार अतिबल चक्रवर्ती मण्डलेश्वर थे और पद्मपुराण के अनुसार पिता का नाम विमलवाहन और हरिवंशपुराण के अनुसार सीमन्धर था।

चतुर्थ तीर्थङ्कर भ. अभिनन्दन स्वामी की मुक्ति होने के बाद एक लाख करोड़ वर्ष बीतने पर ५वें जिनेन्द्र भ. सुमतिनाथ का जन्म अयोध्या नगरी में हुआ था। पिता मेघरथ और मंगलदेवी माता थी। राजा मेघरथ अयोध्या के शासक थे। भ. सुमति जिनेन्द्र जन्मतः ही १० अतिशयों के एवं अवधिज्ञान के धारक थे।

जिस तरह देवतागण स्वर्गों में सुख-शान्तिपूर्वक रहते हैं, उसी तरह भ. सुमति जिनेन्द्र के शासन में जनता रहती थी। उस समय की जनता यह नहीं जानती थी कि पाप क्या चीज है? दूसरों को सताना या कष्ट पहुँचाना किसे कहते हैं? चारों ओर से हर्ष और आनन्द का वातावरण ही था। व्यक्ति अपने में पूर्ण एवं सन्तोषी था। भ. सुमति जिनेन्द्र के शासनकाल में व्यक्ति में सुमति (सद्बुद्धि, सुन्दरबुद्धि) विद्यमान थी।

तीर्थङ्कर के समय नारायण, प्रतिनारायण, बलभद्र, कामदेव आदि हुए। सुमतिनाथ के समय प्रसेनचन्द्र कामदेव प्रसिद्ध हैं जो २४ कामदेवों में से एक हैं। इस आलेख को तीन भागों में विभक्त किया है—

क- जैन-साहित्य के परिप्रेक्ष्य में भगवान् सुमतिनाथ

तीर्थङ्करों के पावन जीवन पर भारत की सभी भाषाओं मेंसमृद्ध साहित्य है। हजारों वर्षों से अनेकों भाषाओं के कवियों एवं विद्वानों ने प्राकृत, संस्कृत, अपभ्रंश, हिन्दी, राजस्थानी, गुजराती, तमिल, कन्नड़ आदि विभिन्न भाषाओं में अपार साहित्य का निर्माण करके उनके प्रति अपनी श्रद्धा एवं भक्ति प्रदर्शित की है। काव्य के विभिन्न रूपों में उन्होंने अपनी लेखनी चलायी और देश के समक्ष एक साहित्य सेवा का ज्वलन्त उदाहरण प्रस्तुत किया।

यद्यपि जैन-साहित्य में चौबीस तीर्थङ्करों का पर्याप्त वर्णन मिलता है तथापि ऋषभनाथ, चन्द्रप्रभु, शान्तिनाथ, नेमिनाथ, पार्श्वनाथ और महावीर भगवान् पर विपुल साहित्य मिलता है। अन्य तीर्थङ्करों के जीवन चरित्र पर यत्र-तत्र वर्णन प्राप्त होता है। स्वामी समन्तभद्राचार्य ने स्वयम्भू स्तोत्र में भगवान् सुमतिनाथ की स्तुतिपरक श्लोक प्रस्तुत किये।

गत १०००-१२०० वर्षों से हिन्दी विद्वानों ने भी इस ओर ध्यान दिया और पुराण, काव्य, कथा, स्तवन, पद, बोलि, जावडी, राम चौपाई, जयमाल पूजा, गीत, धमाल आदि के रूपों में रचनाएँ प्रस्तुत हुई और इन महापुरुषों के जीवन एवं उनके उपदेशों का जगत् में प्रचार किया। हिन्दी-भाषा में पहले अपभ्रंश रूप में और बाद में हिन्दी के रूप में खूब साहित्य लिखा। तीर्थङ्कर सुमतिनाथ पर पुराणों के अतिरिक्त स्वतन्त्र रूप से बहुत ही कम साहित्य का निर्माण हुआ और जिस साहित्य का निर्माण हुआ वह भी अति संक्षिप्त रूप में। यहाँ सुमतिनाथ तीर्थङ्कर से सम्बन्धित एवं स्तवन आदि पर ही प्रकाश डाल रहे हैं। हिन्दी-साहित्य के अन्तर्गत कवि स्वयम्भू, देहलकवि, भट्टारक सुरेन्द्रकीर्ति, कवि खुशालचन्द, कवि बनारसीदास, समयसुन्दरजी, भैयाभगवती दास, भूधरदास, वृन्दावनदास, मनरंगलाल, रामचन्द्रजी, बख्तारजी, नैनसुखदासजी, कविरत्न गुणभद्र इत्यादि हिन्दी कवियों ने भगवान् सुमतिनाथ की पर्याप्त भक्ति प्रदर्शित की है।

ख- पुरातत्त्व के परिपेक्ष्य में पञ्चम तीर्थङ्कर सुमतिनाथ

भगवान् सुमतिनाथ की मूर्तियां विरल है। मथुरा संग्रहालय में (४७.३३३३) चरण चौकी में सुमतिनाथ उत्कीर्ण है। खजुराहो और महोबा से सुमतिनाथ की मूर्तियां मिली हैं। अजयगढ़ दुर्ग के तरौनी द्वार में लांछन युक्त विवस्त्र कार्योत्सर्ग में उनकी मूर्ति उत्कीर्ण है।

देवगढ़ के एक पार्श्वनाथ मन्दिर की दीवाल पर पार्श्व प्रतिमा (सप्तफणी) चरण चौकी पर चकवा पक्षी का अंकन है जो कि सुमतिनाथ का लांछन है। ऊपर पार्श्व बने हैं। यह परम्परा कई प्रतिमाओं में देखी जा सकती है। यथा लखनऊ संग्रह की जे. ७८ की पादपीठ पर दो वृषभ और ऊपर बलराम श्रीकृष्ण के मध्य नेमिनाथ हैं। लखनऊ संग्रहालय की दूसरी मूर्ति (जे. ८५६) में नीचे गेंडा है जो श्रेयांसनाथ का लांछन है। ऊपर तीर्थङ्कर की पञ्चतीर्थी है, किन्तु मूलनायक के कन्धे पर लटे हैं। शंखयुक्त प्रतिमा के कन्धे पर लटे हैं। विषय-प्रवेश अध्ययन-१ में इसकी विस्तृत चर्चा की गयी हैं लखनऊ संग्रहालय में इनकी एक भी प्रतिमा नहीं है।

कोगाओ होपानाटी वेलारी से प्राप्त तीर्थङ्कर भगवान् सुमतिनाथ की मनोज्ञ मूर्ति प्राप्त है जिसका चित्र अहिंसावाणी वर्ष १९६४ अगस्त-सितम्बर अंक में प्रकाशित है।श्री अयोध्याजी में रामकोट के भीतर सुमतिनाथ का मन्दिर बना हुआ है।

बीकानेर के जैन मन्दिरों में सुमतिनाथ की पाषाण एवं धातु प्रतिमाएं बहुत सी प्राप्त हैं इनमें से कई पञ्चतीर्थीय एवं चौबीस पट्ट हैं। वैसे सभी तीर्थङ्करों की मुद्रा आदि समानतया होती हैं। केवल लांछन के द्वारा कौन सी प्रतिमा किस तीर्थङ्कर की है, निर्णय किया जाता है। प्रतिमा के सामने या पीछे की ओर जो लेख खुदे हुए हैं। उनको पढ़कर पहचानना पड़ता है। पुरातत्त्व की दृष्टि से बीकानेर राजस्थान का त्रैलोक्य दीपक सुमतिनाथ जिनालय बहुप्रसिद्ध है।

ग- पञ्चकल्याणक तीर्थ भूमियाँ

तीर्थङ्कर अनेक गति से हुआ करते हैं। जिनके पञ्चकल्याणक होते हैं— वे देवगति अथवा नरकगति से चयकर मनुष्यगति प्राप्त करते हैं। भरत और ऐरावत क्षेत्र में पांच कल्याणक वाले ही तीर्थङ्कर होते हैं। भगवान् के चार कल्याणक अयोध्या में एवं एक कल्याणक सम्मेदशिखर पर हुआ। इस प्रकार भगवान् सुमतिनाथ

विषयक ज्ञातव्य संक्षेप में इस प्रकार है—

१.	पूर्वभव का नाम	- अतिबल
२.	पूर्वभव के पिता	- सीमंधर
३.	पूर्वभव के द्वीप	- धातकीखण्ड
४.	पूर्वभव की नगरी	- पुण्डरीकिणी
५.	पूर्वभव में कहाँ चयकर जन्में	- वैजयन्ती विमान
६.	वहाँ पर कौन थे	- अहमिन्द्र
७.	देवों के शरीर की ऊंचाइ	- एक हाथ
८.	लेश्या	- शुक्ल
९.	कितने समय श्वासोच्छ्वास	- १६ मास
१०.	कितने समय बाद आहार	- ३३ हजार वर्ष बाद
११.	अवधिज्ञान और शक्ति की मर्यादा	- लोकनाड़ी पर्यन्त
१२.	सुख की मर्यादा	- अप्रविचार जन्य
१३.	देवों की आयु	- ३३ सागर
१४.	गर्भ तिथि (वर्तमान)	- श्रावणसुदी २
१५.	गर्भ नक्षत्र	- मघा
१६.	गर्भ समय	- रात्रि
१७.	जन्मभूमि	- अयोध्या
१८.	पिता का नाम	- मेघरथ
१९.	माता का नाम	- मंगला
२०.	गोत्र	- काश्यप
२१.	जन्मतिथि	- चैत्रसुदी १५
२२.	जन्म नक्षत्र	- मघ
२३.	राशि	- सिंह
२४.	जन्म समय	- पितृयोग
२५.	आयु	- ४० लाख पूर्व*
२६.	ऊंचाई (शरीर) (क धनुष ४ हाथ का होता है)	- ३०० धनुष

*. (८४ लाख वर्ष का पूर्वांग होता है ८४ लाख पूर्वा का १ पूव होता है ऐस ४० लाख पूर्व की आयु थी एक पूर्व में अनेक वर्ष होते हैं)

२७. वर्ण	- सुवर्ण
२८. कुमारकाल	- १० लाख पूर्व
२९. राज्यभाग	- २९ लाख पूर्व १२ पूर्वांग
३०. छद्मस्थ	- २० वर्ष
३१. दीक्षा तिथि	- वैशाख सुदी ९
३२. समय	- मध्याह्न
३३. दीक्षा नक्षत्र	- मघा
३४. पालकी	- अभयकारी
३५. दीक्षावन	- सहेतुक (अयुध्या)
३६. चिह्न	- चकवा
३७. दीक्षावृक्ष	- प्रियंगु
३८. दीक्षा के समय उपवास	- तेला
३९. दीक्षित राजा	- १०००
४०. कितने समय बाद आहार	- ३ दिन बाद दूध के पकवान
४१. पारणा की नगरी	- सोमनस
४२. दातार	- पद्म
४३ केवलज्ञान की तिथि	- चैत्र सुदी ११
४४. केवलज्ञान नक्षत्र	- मघा
४५. केवलज्ञान समय	- अपराह्न
४६. केवलज्ञान का वन	- सहेतुक
४७. केवलज्ञान का वृक्ष	- प्रियंगु
४८. केवलज्ञान उपवास	- तेला
४९. गणधरों की संख्या	- १११
५०. मुख्य गणधर का नाम	- अमर
५१. पूर्वधारी	- ३,४००
५२. शिक्षक मुनि (उपाध्याय)	- २५९३३८५
५३. अवधिज्ञान के धारी	- ११०००
५४. केवली	- १३०००
५५. वैक्रियक	- १८२००
५६. मनःपर्ययज्ञानी	- १०४००
५७. वादी मुनि	- १०४५०

५८. कुल शिष्यों की संख्या	- ३२००००
५९. आर्यिकाएं	- ३३००००
६०. श्रावक	- ३०००००
६१. श्राविकाएं	- ५०००००
६२. समवशरण का प्रमाण	- १० योजन
६३. निर्वाण तिथि	- चैत्र सुदी ११
६४. नक्षत्र समय	- मघा
६५. निर्वाण स्थान	- सम्मेदशिखर अविचल कूट
६६. आसन	- कायोत्सर्ग
६७. विहार कब बन्द किया	- एक माह पूर्व
६८. साथ में कितने मोक्ष गए	- १००० (एक हजार)
६९. शिष्यों की मुक्ति	- ३१६१००
७०. अन्तर (सर्व काल)	- ९ लाख करोड़ सागर
७१. यक्ष	- तुम्बुरव
७२. यक्षी	- वज्रांकुशा

तीर्थङ्कर सुपार्श्वनाथ एवं उनकी पञ्चकल्याणक तीर्थ भूमियाँ

– डॉ. कमलेशकुमार जैन, वाराणसी

यस्तीर्थं स्वार्थसम्पन्नः परार्थमुदपादयत्।
सप्तमं तु नमस्तस्मै सुपार्श्वाय कृतात्मने।।

वर्तमान अवसर्पिणी काल के चौबीस तीर्थङ्करों में सातवें तीर्थङ्कर भगवान् सुपार्श्वनाथ का जन्म काशी नगरी में हुआ था। तदनन्तर क्रमशः आठवें तीर्थङ्कर भगवान् चन्द्रप्रभ, ग्यारहवें तीर्थङ्कर भगवान् श्रेयांसनाथ और तेइसवें तीर्थङ्कर भगवान् पार्श्वनाथ का जन्म भी इसी काशी नगरी में हुआ था।

उपर्युक्त चार तीर्थङ्करों में से भगवान् सुपार्श्वनाथ का चिह्न नन्द्यावर्त स्वस्तिक है और भगवान् पार्श्वनाथ का चिह्न सर्प (नाग) है। काल की अपेक्षा भगवान् पार्श्वनाथ परवर्ती हैं और जन-जन की श्रद्धा से जुड़े हैं तथा भगवान् सुपार्श्वनाथ पूर्ववर्ती हैं और उपकारक होने से यद्यपि वे जनजीवन से जुड़े हैं तथापि दोनों के मध्यकाल का एक लम्बा अन्तराल है। अतः दोनों तीर्थङ्कर पृथक्-पृथक् हैं। इन सबके बावजूद पार्श्व और सुपार्श्व इस नाम साम्य के कारण सामान्य लोगों में वे परस्पर इतने घुल-मिल गये हैं कि भगवान् पार्श्वनाथ का जनजीवन से निकट का सम्बन्ध होने के कारण उनका चिह्न सर्प सुपार्श्वनाथ के साथ भी जुड़ गया। फलस्वरूप भगवान् पार्श्वनाथ के ऊपर कमठकृत उपसर्ग का निवारण करते हुए पद्मावती और धरणेन्द्र में से ऊपर फणावली के माध्यम से भगवान् पार्श्वनाथ की रक्षा करने वाले धरणेन्द्र की फणावली भगवान् सुपार्श्वनाथ से भी जुड़ गयी और भगवान् पार्श्वनाथ की मूर्तियों की प्रतीक फणावली भगवान् सुपार्श्वनाथ की मूर्तियों का एक अङ्ग बन गयी, अतः भगवान् सुपार्श्वनाथ की अनेक मूर्तियों पर यह फणावली आज भी प्रायः देखी जा सकती है।

लोकजीवन पर व्यापक प्रभाव डालने वाले भगवान् सुपार्श्वनाथ वाराणसी के तत्कालीन अधिपति इक्ष्वाकुकुल-शिरोमणि महाराजा सुप्रतिष्ठित की महारानी माता पृथिवी अथवा पृथिवीसेना की कुक्षि (गर्भ) में भाद्रपद शुक्ला षष्ठी को आये और ज्येष्ठ शुक्ला द्वादशी के दिन विशाखा नक्षत्र में षष्ठ तीर्थङ्कर भगवान् पद्मप्रभ के जन्म के दस लाख पूर्व सहित नौ हजार करोड़ सागरोपम के व्यतीत हो जाने पर उनका जन्म हुआ।

नील वर्ण से सुशोभित भगवान् सुपार्श्वनाथ की आयु चौरासी लाख पूर्व और ऊँचाई दो सौ धनुष थी। उनका राज्यकाल बीस पूर्वाङ्ग सहित चौदह लाख पूर्व प्रमाण था। आपको वनलक्ष्मी का विनाश देखकर वैराग्य उत्पन्न हो गया। तब आपने ज्येष्ठ शुक्ला द्वादशी के दिन पूर्वाह्न में विशाखा नक्षत्र में सहेतुक वन में तृतीय उपवास के साथ काशी में जैनेश्वरी दीक्षा ग्रहण की। आपके साथ एक हजार राजकुमारों ने भी उस समय दीक्षा ग्रहण की थी। कुछ समय पश्चात् फाल्गुन कृष्णा षष्ठी को आपको केवलज्ञान की प्राप्ति हुई। कालान्तर में भगवान् सुपार्श्वनाथ ने फाल्गुन कृष्णा सप्तमी को अनुराधा नक्षत्र में सिद्धभूमि सम्मेदशिखर के इक्कीसवें कूट सुपार्श्वनाथ प्रभास कूट से एक हजार अन्य मुनिराजों के साथ मुक्ति पद प्राप्त किया। तत्पश्चात् इसी कूट से ४९ कोड़कोड़ी, ८४ करोड़, ७२ लाख, सात हजार, सात सौ ब्यालीस अन्य मुनिराजों ने भी मुक्ति प्राप्त की। इस प्रभास कूट

की भाव सहित वन्दना करने से बत्तीस करोड़ प्रोषधोपवास करने का फल प्राप्त होता है।

इस प्रकार भगवान् सुपार्श्वनाथ के गर्भ, जन्म, तप और केवलज्ञान— ये चार कल्याणक काशी (वाराणसी) में सम्पन्न हुए और मोक्ष-कल्याणक श्री सम्मेदशिखर में हुआ।

प्राकृत-भाषा में निबद्ध एवं आचार्य यतिवृषभ द्वारा प्रणीत तिलोयपण्णत्ती में भगवान् सुपार्श्वनाथ के जीवन पर संक्षेप में प्रकाश डाला गया है। आचार्य समन्तभद्र ने स्वयम्भू स्तोत्र एवं आचार्य अमृतचन्द्रसूरि ने अपने लघुतत्त्व स्फोट ग्रन्थ में इनकी स्तुति की है। हरिवंशपुराण आदि में भी तीर्थङ्करों की स्तुति के क्रम में इन्हें नमस्कार किया गया है। कविवर वृन्दावनदास, बखतावर एवं पं. राजमल जैन आदि ने भगवान् सुपार्श्वनाथ की पूजा लिखकर उनके प्रति अपनी भक्ति-भावना प्रदर्शित की है। सुपासणाह चरिउ नामक ग्रन्थ में इनके जीवन का साङ्गोपाङ्ग वर्णन मिलता है। इन्हीं ग्रन्थों एवं कुछ अन्यान्य ग्रन्थों को आधार बनाकर प्रस्तुत लेख में भगवान् सुपार्श्वनाथ से सम्बन्धित विविध पहलुओं पर विचार किया गया है।

●

तीर्थङ्कर चन्द्रप्रभ विषयक साहित्य और उनका जीवन

– डॉ. ऋषभचन्द्र जैन 'फौजदार', वैशाली

तीर्थङ्कर चन्द्रप्रभ जैन-परम्परा के आठवें तीर्थङ्कर हैं। संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश आदि प्राच्य भाषाओं में उनका चरित लिखा गया है। शौरसेनी प्राकृत के प्रमुख ग्रन्थ 'तिलोयपण्णत्ति' में चौबीस तीर्थङ्करों के जीवनचरित विषयक संक्षिप्त विवरण पाये जाते हैं, जो उत्तरवर्ती ग्रन्थकारों को स्रोत के रूप में उपलब्ध रहे हैं। प्राचीन ग्रन्थकार आचार्यों ने जैन-परम्परा सम्मत तिरेसठ शलाकापुरुषों के जीवनचरित लिखे हैं, जिनमें चौबीस तीर्थङ्करोंके चरित प्रमुख हैं, उनमें भी तीर्थङ्कर चन्द्रप्रभ का जीवन-चरित अंकित किया गया है।

संस्कृत-भाषा के ग्रन्थकार महाकवियों- आचार्यों की कृतियों में आचार्य गुणभद्र के उत्तरपुराण, मुनि श्रीचन्द्र के पुराणसार, आचार्य दामनन्दि के पुराणसारसंग्रह, मुनि मल्लिषेण के त्रिषष्टिमहापुराण, पण्डित आशाधर के त्रिषष्टिस्मृतिशास्त्र, आचार्य हेमचन्द्र के त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित, महाकवि अमरचन्द्रसूरि के चतुर्विंशतिजिनेन्द्रसंक्षप्तिचरित, उपाध्याय पद्मसुन्दर के रायमल्लाभ्युदय, मेघविजय के लघुत्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित, चन्द्रमुनि के लघुमहापुराण या लघुत्रिषष्टिलक्षणमहापुराण, विमलसूरि के त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित आदि ग्रन्थों के उल्लेख प्राप्त होते हैं। इनमें से अनेक ग्रन्थ अद्यावधि अप्रकाशित या अनुपलब्ध हैं; किन्तु जो उपलब्ध हैं, उनमें तीर्थङ्कर चन्द्रप्रभ का चरित वर्णित है। संस्कृत के स्वतन्त्र चन्द्रप्रभचरित विषयक ग्रन्थों में आचार्य वीरनन्दि का चन्द्रप्रभचरित अठारह सर्गों में निबद्ध प्रमुख महाकाव्य है, जो संस्कृत-भाषा में उपलब्ध तीर्थङ्कर चन्द्रप्रभ का आद्य चरित-ग्रन्थ है। जिनरत्नकोश में असग कवि के चन्द्रप्रभचरित का भी उल्लेख हैश किन्तु वह अभी तक प्राप्त नहीं हो पाया है। संस्कृत के तद्विषयक अन्य चरित-ग्रन्थों में देवचन्द सूरि, सर्वानन्द सूरि, भट्टारक शुभचन्द्र प्रभृति ग्रन्थकारों की रचनाएँ उल्लेखनीय हैं।

प्राकृत-भाषा में रचित शीलाचार्य (वि.सं. ९२५) एवं आम्रकवि के 'चउप्पन्नमहापुरिसचरिय' ग्रन्थ प्रसिद्ध हैं, उनमें भी चन्द्रप्रभ का जीवरचरित पाया जाता है। प्राकृत-भाषा की स्वतन्त्र कृतियों में वीरसूरि, जिनेश्वरसूरि, यशोदेव अपरनाम धनदेव, बड़गच्छीय हरिभद्रसूरि और जिनभद्रसूरि के 'चंदप्पहचरियं' प्रमुख हैं। देवेन्द्रगणि ने भी संस्कृत- प्राकृत-भाषा मिश्र एक चन्द्रप्रभचरित रचा है।

अपभ्रंश-भाषा के महाकवि पुष्पदन्त ने महापुराण अपरनाथ तिसट्ठिमहापुरिषगुणालंकारु की छियालीसवीं सन्धि में चन्द्रप्रभ का चरित लिखा है। अपभ्रंश-भाषा के अन्य कवियों ने 'चंदप्पहचरिउ' नाम से स्वतन्त्र चरित-ग्रन्थ रचे हैं, इनमें भट्टारक यशःकीर्ति, कवि दामोदर एवं कवि श्रीचन्द्र की रचनाएं उपलब्ध हैं। श्रीधर के 'चंदप्पहचरिउ' का भी उल्लेख मिलता है। हिन्दी-भाषा में भी चन्द्रप्रभचरित लिखा गया है तथा क्षेत्रीय भाषाओं की रचनाओं की खोज की जा रही है।

प्रस्तुत आलेख में उपर्युक्त रचनाओं के आलोक में आठवें तीर्थङ्कर चन्द्रप्रभ का जीवन-चरित प्रस्तुत किया जायेगा।

तीर्थङ्कर शीतलनाथ और उनकी पञ्चकल्याणक भूमिका

– पं. कमलकुमार जैन शास्त्री 'गोइल्ल', कोलकाता

भूमिका

जैन धर्म के चौबीस तीर्थङ्करों की पवित्र परम्परा में तीर्थङ्कर ऋषभदेव, नेमिनाथ, पार्श्वनाथ एवं भगवान् महावीर आदि अनेक तीर्थङ्कर ऐतिहासिक महापुरुष सिद्ध हो चुके हैं। यदि इसी तरह प्रत्येक तीर्थङ्कर के विषय में व्यापक अन्वेषण किया जाए तो सभी तीर्थङ्कर ऐतिहासिक महापुरुष सिद्ध हो सकते हैं और इस प्रकार जैन धर्म को इस देश का सर्वाधिक प्राचीन आदि धर्म मानने में किसी को कोई प्रश्न शेष ही नहीं रह जाएगा। इसी दृष्टि से इस विशाल विद्वत् सम्मेलन में पहली बार सभी तीर्थङ्करों के सम्बन्ध में शोध-आलेखों की प्रस्तुति देख-सुनकर अतीव प्रसन्नता हो रही है।

मैंने भी यहाँ दसवें तीर्थङ्कर शीतलनाथ के विषय में उनका जीवन और उनके पञ्चकल्याणक से सम्बन्धित विवेचन प्रस्तुत करने का प्रयास किया है। इसी क्रम में क्रमशः उनके पञ्चकल्याणक प्रस्तुत हैं—

१. गर्भकल्याणक

जम्बूद्वीप के भरतक्षेत्र में मलयदेश के भद्रपुर (भद्रिल) राज्य में इक्ष्वाकु कुल के भूषण राजा 'दृढ़रथ' - 'द्रीणरथ' राज्य करते थे। उनकी प्राणवल्लभा का नाम महारानी सुनन्दा था। भगवान् शीतलनाथ के अपनी माता के गर्भ में आने के छः माह पहिले से सुनन्दा के घर पर इन्द्रों ने रत्नों की वर्षा करनी शुरू कर दी थी। चैत्र कृष्ण अष्टमी के दिन पूर्वाषाढ़ा नक्षत्र में महारानी सुनन्दा ने रात्रि के पिछले प्रहर में सोलह स्वप्न देखे। इन स्वप्नों का फल जानकर माता के अपार आनन्द हुआ कि उनके गर्भ से तीर्थङ्कर का जन्म होगा।

२. जन्मकल्याणक और जन्मभूमि

गर्भकाल पूर्ण होने पर माघ कृष्णा द्वादशी के दिन विश्वयोग में महारानी ने शिशु को जन्म दिया। शीतलनाथ का जन्मस्थान वर्तमान में झारखण्ड प्रान्त में हजारीबाग जिले में है और वर्तमान उस नगर का नाम 'भोंदलगांव' 'भद्रील' है। उसी समय चारों जाति के देव और इन्द्रगण आकर बड़े समारोह के साथ बाल भगवान् को सुमेरू पर्वत पर ले गये। क्षीरसागर के जल से भगवान् का जन्माभिषेक कर बड़ा उत्सव मनाया। उनका नामकरण शीतलनाथ किया गया।

३. पुरुषार्थ की साधना-तपकल्याणक

बालक शीतलनाथ दूज के चन्द्रमा के समान बढ़ने लगे। जब किशोरवय पार कर वे यौवन अवस्था को प्राप्त हुए, उनके पिता ने राज्याभिषेक करके राज्य सौंप दिया और स्वयं मुनि बन गये। (ज.ध.प्रा.इ., पृ. १३९)

महाराज शीतलनाथ एक दिन वन-विहार के लिए गये। वे जब वन में पहुँचे, उस समय कोहरा छाया हुआ था; किन्तु सूर्योदय होते ही कोहरे का पता भी न चला। भगवान् ऐसा विचार कर रहे थे, तभी लौकान्तिक देवों ने आकर भगवान् की वन्दना की और उनके विचारों की सराहना की। प्रबल वैराग्य का निमित पाकर महाराजा

शीतलनाथ ने तत्काल अपने पुत्र को राज्यभार सौंप दिया। 'शुक्रप्रभा' नाम की पालकी पर सवार होकर नगर के बाहर 'सहेतुक' वन में पहुँचे जो कि वर्तमान में झारखण्ड में हजारीबाग जिले में 'भोंदलगांव' 'भद्रिलापुर' (ति.प.) (ज.ध.प्रा.इ., पृ. १३९) के नाम से जाना जाता है। माघ कृष्णा द्वादशी के दिन सायंकाल के समय पूर्वाषाढ़ा नक्षत्र में दो उपवास का नियम लेकर एक हजार राजाओं के साथ संयम धारण कर लिया। देवों ने आकर तपकल्याणक की पूजा की। जिस वृक्ष के नीचे बैठकर उन्होंने दीक्षा ग्रहण की उस दीक्षा वृक्ष का नाम 'तेंदु' है।

४. ज्ञानकल्याणक- कैवल्यप्राप्ति

दुद्धेर तपश्चरण एवं संयम साधना करते हुए महामुनि शीतलनाथ स्वामी ने विहार करते हुए उपवास के बाद आहार लेने की इच्छा से अरिष्ट नामक नगर में गये। राजा पुनर्वसु ने बड़ी प्रसन्नता से नवधा भक्तिपूर्वक उन्हें आहार दिया। तपश्चरण करते हुए उन्होंने अल्पज्ञ अवस्था में तीन वर्ष बिताये। तभी पौषकृष्णा चतुर्दशी के दिन पूर्वाषाढ़ा नक्षत्र में उन्हें सहेतुक पर्वत पर भगवान् को दिव्य आलोक कैवल्य- केवलज्ञान की प्राप्ति हुई।

जहाँ भगवान् को केवलज्ञान की प्राप्त हुई वर्तमानमें वह 'कोल्हुआ पर्वत' हजारीबाग जिले की चतरा तहसील में है। यहाँ के लिए डोभी से या चतरा से सड़क जाती है। भोंदलगांव कोल्हुआ पहाड़ से पांच-छः मील है।

५. मोक्षकल्याणक

तीर्थङ्कर शीतलनाथ चिरकाल तक देशों में विहार करके भव्य जीवों को कल्याण का मार्ग बताते रहे। उनकी सभा में सप्त ऋद्धियों को धारण करने वाले अनगार आदि इक्यासी गणधर थे। चौदह पूर्वधारी थे, उनसठ हजार दो सौ शिक्षक थे, सात हजार दो सौ अवधि ज्ञानी थे, सात हजार केवलज्ञानी थे, बारह हजार विक्रिया ऋद्धि ऋद्धि के धारक मुनि उनकी पूजा करते थे, सात हजार पांच सौ मनःपर्ययज्ञानी उनके चरणों की पूजा करते थे। इस तरह सब मुनियों की संख्या एक लाख थी। धरणा आदि तीन लाख अस्सी हजार आर्यिकाएँ उनके साथ थी, दो लाख श्रावक और तीन लाख श्राविकाएँ उनकी अर्चा तथा स्तुति करती थी। (उ.पु., पर्व ५६, पृ. १७६, श्लोक ४८,४९,५०)

जीवों को कल्याण का उपदेश देते हुए अन्त में शाश्वत निर्वाण-भूमि सम्मेदशिखर जा पहुँचे और वहाँ एक माह का योग-निरोध करके उन्होंने प्रतिमा योग धारण कर लिया और अश्विन शुक्ला अष्टमी को सायंकाल के समय पूर्वाषाढ़ा नक्षत्र में समस्त कर्मों का नाश करके एक हजार मुनियों के साथ विद्युतप्रभकूट श्री सम्मेदशिखर जी से परमपद निर्वाण की प्राप्ति हुई। देवों ने आकर उनके निर्वाण कल्याणक की पूजा की। इस प्रकार तीर्थङ्कर शीतलनाथ का जीवन चरित हमारे जीवन में शीतलता और शान्ति प्रदान करता है उसी तरह उनके उपदेश और उनकी पञ्चकल्याणक तीर्थभूमियाँ हमारा मोक्षमार्ग प्रशस्त करती है।

●

जैन-साहित्य एवं शिल्प में तीर्थङ्कर वासुपूज्य और उनकी पञ्चकल्याणक भूमियाँ

– अनूपचन्द जैन, फीरोजाबाद

प्रस्तुत विषय पर लगभग २० पृष्ठों के आलेख में भगवान् वासुपूज्य स्वामी का विस्तृत जीवन चरित्र एवं विभिन्न ग्रन्थों में जैन शिल्प के परिप्रेक्ष्य में चम्पापुर-मन्दागिरि क्षेत्र का व्यापक विवेचन किया गया है। यहाँ प्रस्तुत है इसका सार-संक्षेप।

तीर्थङ्कर वासुपूज्य जीवनक्रम एक दृष्टि में

भगवान् वासुपूज्य — पुष्पोत्तर विमान से चय कर माता विजयादेवी के गर्भ में आना, गर्भ कल्याणक — आषाढ कृष्ण ६, जन्म कल्याणक — फाल्गुन कृष्ण १४, स्थान — चम्पापुरी, वंश — इक्ष्वाकु, पिता — राजा वसुपूज्य, माता — पाटलदेवी (जयावती), तप कल्याणक स्थान — मन्दारगिरि पर्वत, ज्ञान कल्याणक स्थान — मनोहर उद्यान में पाटल वृक्ष के नीचे, मोक्ष प्राप्ति स्थान — मन्दारगिरि पर्वतशिखर पर अपराह्नकाल में, भगवान् वासुपूज्य का कुमार काल — १८ लाख वर्ष, आयु — ७२ लाख वर्ष, शरीर की ऊँचाई — ७० धनुष, शरीर का रंग — अरुण (लाल), चिह्न — भैंसा, यक्ष का नाम — षण्मुख यक्ष, याक्षिणी का नाम— गान्धार यक्षणी, गणधर — ६ गणधर, वासुपूज्य के प्रथम गणधर — मन्दर गणधर।

पञ्चकल्याणक

१. गर्भ कल्याणक	:	आसाढ़ वदी ६
२. जन्म कल्याणक	:	फागुन वदी ११
३. तप कल्याणक	:	फागुन वदी १४
४. ज्ञान कल्याणक	:	भादों वदी २
५. मोक्ष कल्याणक	:	भादों सुदी १४

पञ्च कल्याणक भूमियाँ

तीर्थङ्कर वासुपूज्य स्वामी ऐसे एकमात्र तीर्थङ्कर हैं जिनके पांचों कल्याणक चम्पापुर में हुए हैं। यद्यपि गर्भ कल्याणक एवं जन्म कल्याणक चम्पानगरी या चम्पापुर में तथा तप, ज्ञान एवं मोक्ष कल्याणक मन्दारगिरि पर होने का उल्लेख मिलता है, तथापि भौगोलिक दृष्टि से तत्कालीन चम्पापुर-मन्दारगिरि एक ही क्षेत्र में था, इसलिए कहा जाता है कि पांचों कल्याणक चम्पापुर में हुए।

चम्पा या चम्पापुर को प्राचीन अंग देश की राजधानी होने का गौरव प्राप्त है। इसकी स्थिति बारह योजन लम्बे एवं पांच सौ योजन चौड़े चम्पक वन के समीप दक्षिण-पश्चिम भारत में बतलायी गयी है। ९६ मील लम्बे और ३६ मील चौड़े विस्तार वाले जिस चम्पापुर को तीर्थङ्कर, श्रीमान्, विद्वान्, शीलवान्, दयावान्, विनयवान्, ज्ञानवान्, विवेकवान्, ऋद्धिवान् तथा समृद्धिवान् आदि विभूतियों को जन्म देने का गौरव प्राप्त है। जिस चम्पापुर

में आकर देवों को भी बारहवें तीर्थङ्कर वासुपूज्य के पांच कल्याणक महोत्सव मनाने का सौभाग्य मिला था, जहाँ राजा शाल, महाशाल, अशोक, जितशत्रु, सेठ सुदर्शन, दधिवाहन आदि ने मुनि दीक्षा प्राप्त की थी, जिसे मल्लिनाथ, मुनिसुव्रतनाथ, नमिनाथ और महावीर– इन तीर्थङ्करों ने विहार कर अपनी चरण-रज से पवित्र किया है, जहाँ के राजा वसुपूज्य, कुणिक, दधिवाहन, जितशत्रु, करकण्डु आदि राजाओं ने जैनधर्म के प्रचार-प्रसार में अपना योगदान दिया, जो सेठ भानु, चारुदत्त, पलित, सागरदत्त आदि कुबेर सदृश वैभवशाली, लक्ष्मीपतियों से अलङ्कृत थी और जिसकी सीमा पर रजत मौलि नदी के किनारे स्थित मनोहर उद्यान से सुशोभित मुकुटवत मन्दारगिरि पर्वत स्थित था।

निर्वाण-भक्ति, तिलोयपण्णत्ति, भगवती आराधना और स्वामी कार्तिकेयानुप्रेक्षा : में चम्पानगरी के प्रसंग उपलब्ध हैं। इस सिद्धक्षेत्र का मूल मन्दिर काल-धर्म के कारण कई बार जीर्ण हुआ और हर बार उसका नवीनीकरण या पुनर्निर्माण होता रहा। उसमें नये-नये जिनबिम्ब प्रतिष्ठित होते रहे। आज चम्पापुर में हम जिन मन्दिरों का दर्शन करते हैं उनका मूल वास्तु लगभग हजार साल प्राचीन है।

चम्पापुर की प्रमुख और नयनाकर्षक विशेषता वे ऊँचे गोलस्तम्भ हैं जो हमारी वास्तु-परम्परा से हटकर अपना अलग अस्तित्व जताते हैं। कहा जाता है कि मन्दिर के चारों ओर ये चार स्तम्भ थे। पिछले दो सौ साल के भीतर भूकम्प आदि के कारण उनमें से दो स्तम्भ तो बिल्कुल नष्ट हो गये तथा शेष दो क्षतिग्रस्त होकर बने रहे।यह प्रसन्नता की बात है कि क्षेत्र व्यवस्थापन समिति की उदार दृष्टि के कारण उनकी सार-सम्हार समय पर हो गयी और वे दो स्तम्भ अपने मूल रूप में हमें देखने को मिल रहे हैं। इनके बारे में यहां कुछ विचार करने की आवश्यकता है।

इन स्तम्भों को मानस्तम्भ नहीं माना जा सकता। इसके मुख्य कारण हैं—

१. इनका व्यास नीचे से ऊपर का समान है, अत: वह मानस्तम्भ की कटनी वाली शैली को प्रदर्शित नहीं करते।
२. वे मन्दिर के चारों ओर चार बने थे, जबकि मानस्तम्भ तो मन्दिर के सामने एकमात्र ही बनना चाहिए, चार नहीं।
३. इनमें ऊपर जिनबिम्ब विराजने के लिए मढ़िया या वेदी का कोई प्रावधान नहीं है, जो मानस्तम्भ का अनिवार्य अंग है।
४. इनमें भीतर से ऊपर जाने या नीचे उतरने की सीढ़ियाँ बनी हुई थीं, जो मानस्तम्भ में नहीं होनी चाहिए।

वर्तमान में चम्पापुर भागलपुर रेलवे स्टेशन के पास में ही नाथनगर स्थित नामक मुहल्ला को ही जाना जाता है, जहाँ भव्य मन्दिर, उपवन व धर्मशालाएं हैं। वहीं मन्दारगिरि पर्वत भागलपुर से ५० किलोमीटर दूर है। निकटस्थ गांव तथा रेलवे स्टेशन मन्दारहिल है। वर्ष १९९६ में आचार्य श्रीभरतसागरजी ने भगवान् वासुपूज्य स्वामी की लगभग सवा सात फीट ऊँची प्रतिमा, जो प्रतिष्ठा के उपरान्त नीचे मन्दिरजी में विराजमान थी और निहित स्वार्थी लोग उसे मन्दारगिरि पर विराजमान नहीं होने देते थे, को ४ जून १९९६ को ऐतिहासिक समारोह में पर्वत पर विराजमान कराकर इस क्षेत्र को एक और महत्त्वपूर्ण कड़ी से जोड़ दिया।

तीर्थङ्कर विमलनाथ एवं उनकी पञ्चकल्याणक तीर्थ भूमियाँ

– प्राचार्य निहालचन्द जैन, बीना

कम्पिला नगरी का सांस्कृतिक वैभव

भगवान् विमलनाथ के चारों कल्याणक कम्पिला नगरी में हुए, जो फर्रुखाबाद जिले में कायमगंज तहसील का एक गांव है। यह रेलवे स्टेशन कायमगंज से ७-८ किमी दूर पक्की सड़क से जुड़ा है। यहीं भगवान् विमलनाथ की प्रथम दिव्य ध्वनि खिरी थी। आद्य तीर्थङ्कर ऋषभदेव, पार्श्वनाथ व भगवान् महावीर का समवशरण यहाँ आया था। यह भारत की प्राचीन सांस्कृतिक नगरी है जो पांचाल जनपद के अन्तर्गत अहिच्छत्र और कम्पिला के नाम से जानी जाती है। यही पाण्डुपुत्र अर्जुन ने लक्ष्य भेद कर द्रुपद सुता द्रौपदी के साथ विवाह किया था।

गर्भ-कल्याणक

भारत क्षेत्र के काम्पिल्य नगर में स्वामी कृतवर्मा राज्य करते थे। जयश्यामा उनकी पटरानी थी। सहस्रार स्वर्ग का वही इन्द्र, आयु पूर्ण कर महारानी के गर्भ में आने वाला था। इन्द्र की आज्ञा से कुबेर ने काम्पिल्य नगर व राजप्रासाद में ६ माह पूर्व से रत्न-वर्षा प्रारम्भ कर दी। रानी ने ज्येष्ठ कृष्णा दशमी रात्रि के अन्तिम प्रहर में १६ स्वप्न देखें, जो त्रिलोकीनाथ तेरहवें तीर्थङ्कर भ० विमलनाथ के अवतरण की पूर्व सूचना थी।

जन्म-कल्याणक

महारानी जयश्यामा न्यायप्रिय, विदुषी, मेधा की धनी और प्रियभाषिणी थी। गर्भ के 9 माह पूर्ण होने पर माघ शुक्ला चतुर्दशी के दिन तीन ज्ञान के धारी का अहिर्बुध्न योग में जन्म हुआ। इन्द्रों ने उस अद्वितीय पराक्रमी बालक को सुमेरुपर्वत पर ले जाकर जन्माभिषेक किया और बालक का नाम 'विमलवाहन' रखा। उनके दक्षिण पैर में इन्द्र ने 'सुअर' का चिह्न देखा।

तीर्थङ्करों के चिह्नों में जीव दया की भावना सन्निहित रहती है। जो उन विशिष्ट तीर्थङ्कर प्रभु की पहचान होती है। भगवान् विमलनाथ का सुअर 'मल्ल' का विमल में रूपान्तरण है। जो इस तथ्य को बताता है कि व्यक्ति यदि अस्वच्छता से ऊपर उठने की कोशिश करे तो एक दिन वह वीतरागता की ऊँचाइयां छूता है। 'सुअर' का चिह्न 'समत्व' की प्रतिध्वनि को पूरी बुलन्दी से आकाश चूम रहा है।

कुमार-काल एवं यौवन

बालक विमलनाथ द्वितीया के मयंक के समान बढ़ने लगे। उनकेशरीर की अवगाहना क्रमशः बढ़ती हुई ६० धनुष हो गयी। वे ६० लाख वर्ष की आयु लेकर महान् लोकोत्तर पुरुष के रूप में उनकी बुद्धि, कला और ज्ञान बढ़ता गया। सुवर्ण के समान देहकान्ति थी। उन्होंने बाल्यावस्था के १५ लाख वर्ष आनन्द में व्यतीत किये। कुमारकाल पूर्ण होते ही माता-पिता ने गार्हस्थ्य-जीवन में प्रवेश कराया। लक्ष्मी उनके साथ जन्मी थी, वैभव संग खेला था। कीर्ति व सरस्वती ने इन्हें स्वयं स्वीकार किया और इन्द्र ने 'विमलवाहन' का राज्याभिषेक कर 'महाराजा' पद से सुशोभित किया। आपने ३० लाख वर्ष राज्य संचालन एवं राज-वैभव धर्म, अर्थ, काम त्रि-पुरुषार्थपूर्वक भोग किया।

वैराग्य, दीक्षा एवं तप कल्याणक

प्रत्येक कार्यसिद्धि के पीछे कोई न कोई परोक्ष या प्रत्यक्ष निमित्त कारण अवश्य रहता है। प्रभु विमलवाहन हेमन्त ऋतु में वर्फ की धवलशोभा देख रहे थे। उन पर सूर्य-रश्मियां पड़ने से 'सतरंगी वर्णक्रम' आनन्द व आह्लाद उत्पन्न कर रहा था। अचानक वर्फ पिघलने से वह दृश्य विलीन हो गया। इस क्षणभंगुरता ने उनके अन्तर्मन को झकझोर दिया और वे वैराग्य से उद्वेलित हो उठे। चिन्तन करने लगे — ओह! ३० लाख वर्ष राज्य-मोह के व्यामोह में खो दिये। क्या यह चिरस्थायी है? हमारे पूर्वजों ने अविनाशी मोक्ष सुख पाने इन्हें त्यागकर संयम पथ पर चलकर तपस्या की थी। ऐसा वैराग्यपूर्ण चिन्तन चल रहा था कि पाँचवें ब्रह्म स्वर्ग से सारस्वत आदि लौकान्तिक देव, कम्पिला नगरी में आये और उनके वैराग्यपूर्ण विचारों की अनुमोदना करने लगे। धन्य है प्रभु जिस प्रकार चन्दन वृक्ष की सुगन्ध से समीपस्थ वृक्ष भी सुवासित हो जाते हैं, आपके द्वारा होने वाले मोक्षमार्ग प्रवर्तन से भव्य जीव-मोक्ष सुख प्राप्त करेंगे। प्रभु विमलवाहन ने 'दिगम्बर दीक्षा' लेने का संकल्प लिया। इस दीक्षा महोत्सव को मनाने इन्द्रादि देव 'देवदत्ता' पालकी लेकर उपस्थित हो गये। भगवान् को उस पर आरूढ़ कर सहेतुक वन तपस्या हेतु ले गये जहाँ भगवान् ने दो दिन के उपवास का योग धारण कर माघ शुक्ला चतुर्थी के सायंकाल उत्तरा भाद्रपद नक्षत्र में एक हजार राजाओं के साथ 'ॐ नमः सिद्धेभ्यः' कहकर दीक्षा ग्रहण की।

केवलज्ञान कल्याणक

भगवान् विमलनाथ ने दो दिन का योग समाप्त कर तीसरे दिन 'नन्दपुर' पहुँचे जहाँ राजा जयकुमार ने आपको नवधा भक्ति से आहार दिया और आहार के पश्चात् वन की ओर प्रयाण कर पुनः आत्मध्यान में लीन हो गये। इस प्रकार २-२ दिन के अन्तराल से उपवासपूर्वक आहार लेते हुए ३ वर्ष मौन रहकर तपस्या की। माघ शुक्ला षष्ठी के दिन सन्ध्यावेला में उत्तराभाद्र पद नक्षत्र में चार घातिया कर्मों का नाश कर केवलज्ञान उपलब्ध किया। उसी समय इन्द्र व देवगण आये उन्होंने अष्ट-प्रातिहार्यों का वैभव प्रगट किया। समवसरण की रचना की। भगवान् विमलनाथ गन्धकुटी में कमलासन से चार अंगुल ऊपर अन्तरिक्ष में विराजमान हो गये। उनका परमौदारिक शरीर इतना हल्का हो गया कि पृथ्वी की गुरुत्वाकर्षण शक्ति से वे परे हो गये। अरिहन्त पद को पा गये और दिव्य ध्वनि से जीवों के कल्याण रूप धर्म का उपदेश दिया। भगवान् वासुपूज्य के तीर्थ के बाद जब तीस सागर वर्ष बीत गये और पल्य के अन्तिम भाग में धर्म का विच्छेद हो गया था, तब भगवान् विमलनाथ ने धर्मचक्र का प्रवर्तन किया और भरत क्षेत्र में पुनः विदेह क्षेत्र के समान 'धर्मक्षेत्र' का चिन्मय वातावरण बन गया।

समवशरण-परिकर

भगवान् विमलनाथ की धर्म सभा में मेरु मन्दर आदि५५ गणधर थे। ११०० पूर्वधारी थे। अवधिज्ञानी, मनःपर्ययज्ञानी, केवलज्ञानी व विक्रियाऋद्धि धारी ६८००० मुनिराजा समवशरण में थे। पद्मा आदि १०३,००० आर्यिकाएं दो लाख श्रावक तथा चार लाख श्राविकाएं थीं।

प्रतिमायोग धारण व मोक्षकल्याणक

आयु का एक माह शेष रहने पर आपने धर्मदेशना संकोच कर श्री सम्मेद शिखर के शंकुल (सुवीर) कूट

पर योगासन में विराज गये। शेष कर्म-प्रकृतियों को भी असंख्यात गुण श्रेणी निर्जरा द्वारा घात करने लगे। केवली समुद्घात क्रिया के द्वारा नाम, गोत्र व वेदनीय कर्मों की स्थिति को आयु के समान कर ८ समय में आत्म प्रदेशों का संकोच विस्तार करके सूक्ष्म क्रिया प्रतिपाति व व्युपरत क्रिया निवृत्ति द्वारा शुक्ल ध्यान में आरूढ़ हुए। उसी समय अवशेष ८५ कर्म प्रकृतियों का नाश कर अक्षय अनन्त सुख के धारी हो गये। वह आषाढ़ शुक्ला अष्टमी थी, (आजकल यह कालाष्टमी के नाम से पूजी जाती है) जब भगवान् का मोक्ष-कल्याणक हुआ।

आज असंख्य वर्षों के बाद भी इनकी सम्मेदशिखर निर्वाण भूमि पर जाकर साधक जीव, सिद्ध भगवान् का स्मरण करते हैं और विशुद्ध आत्मगुणों को पाने की भावना करते हैं।

चौदहवें तीर्थङ्कर अनन्तनाथ और उनके पञ्चकल्याणक

– पं. सिद्धार्थ जैन, सतना

धातकीखण्ड द्वीप में पूर्व मेरु की ओर उत्तर दिशा में स्थित अरिष्ट नामक सुन्दर नगर के राजा पद्मरथ थे। वे अपने गुणों से पद्मा अर्थात् लक्ष्मी का ही स्थान था, उसने चिरकाल तक पृथिवी का पालन किया जिससे प्रजा परम प्रीति को प्राप्त होती रही। किसी एक दिन वह स्वयंप्रभ जिनेन्द्र के समीप गया। वहाँ उसने विनय के साथ उनकी स्तुति की और धर्म का उपदेश सुना। उपदेश सुनकर वह विचारता है कि मैं इन इन्द्रिय विषयों में अपनी बुद्धि स्थिर कैसे कर सकता हूँ? इन्हें नित्य किस प्रकार मान सकता हूँ? इस प्रकार उस राजा की बुद्धि मोहरूपी महागांठ को खोलकर उद्यम करने लगी। तदनन्तर जिस प्रकार चारों ओर लगी हुई वनाग्नि की ज्वालाओं से भयभीत हुआ हिरण अपने बहुत पुराने स्थान को भी छोड़ने का उद्यम करने लगा। उसने धनरथ नामक पुत्र के लिए राज्य देकर संयम धारण कर लिया। ग्यारह अंगरूपी सागर का पारगामी होकर सोलह कारण भावनाओं का चिन्तनकर तीर्थङ्कर प्रकृति का बंध किया। अन्त में सल्लेखना धारण कर शरीर छोड़ा और अच्युत स्वर्ग के पुष्पोत्तर विमान से इन्द्रपद प्राप्त किया। चिरकाल तक सुख भोगकर जब वह इस मध्यलोक में आने के सम्मुख हुआ तब —

इस जम्बूद्वीप के दक्षिण भरतक्षेत्र की अयोध्या नगरी में इक्ष्वाकुवंशी काश्यपगोत्री महाराज सिंहसेन राज्य करते थे। उनकी महारानी का नाम जयश्यामा था। देवों ने उसके महल के आंगन में छह माह तक रत्नों की श्रेष्ठ धारा बरसाई। कार्तिक कृष्णा प्रतिपदा के दिन रेवती नक्षत्र में रात्रि के अन्तिम प्रहर में महारानी जयश्यामा ने सोलह स्वप्न देखने के बाद मुंह में प्रवेश करता हुआ हाथी देखा। प्रात: उठ कर उसने अपने अवधिज्ञानी पति राजा से उन स्वप्नों का फल जाना। उसी समय वह अच्युतेन्द्र उसके गर्भ में आकर स्थित हुआ जिससे वह बहुत भारी सन्तोष को प्राप्त हुई। तदनन्तर देवों ने गर्भ कल्याणक में अभिषेक कर वस्त्र, माला और बड़े-बड़े आभूषणों से महाराज सिंहसेन और रानी जयश्यामा की पूजा की।

गर्भ कल्याणक का उत्सव मनाकर सभी देवतागण अपने-अपने स्थान को प्रस्थान कर गये। जयश्यामा का गर्भ सुख से बढ़ने लगा। नौ माह व्यतीत होने पर उसने ज्येष्ठ कृष्णा द्वादशी के दिन पूषायोग में पुण्यवान् पुत्र उत्पन्न किया। उसी समय इन्द्रों ने आकर उस पुत्र का मेरु पर्वत पर अभिषेक किया और बड़े हर्ष से 'अनन्तजित' यह सार्थक नाम रखा। प्रसिद्ध राजपरिवार में बालक अनन्तनाथ का बड़े प्यार से लालन-पालन होने लगा। तेरहवें तीर्थङ्कर विमलनाथ भगवान् के बाद नौ सागर और पौन पल्य बीत जाने पर तथा अन्तिम समय धर्म का विच्छेद हो जाने पर भगवान् अनन्तनाथ जिनेन्द्र उत्पन्न हुए थे, उनकी आयु भी इसी अन्तराल में शामिल थी। उनकी आयु तीन लाख वर्ष की थी। शरीर पचास धनुष ऊँचा था, दैदीप्यमान सुवर्ण के समान रंग था और वे शरीर के एक हजार आठ शुभ लक्षणों से युक्त थे। मनुष्य, विद्याधर और देवों के द्वारा पूज्यनीय भगवान् अनन्तनाथ ने सात लाख पचास हजार वर्ष बीत जाने पर राज्याभिषेक प्राप्त किया था। वे भगवान् साम, दाम और भेद के द्वारा राज्य का पालन करते थे। अनेकानेक राजा इनकी आज्ञा को माला की तरह अपने सिर का आभूषण बनाते थे। ये प्रजा को चाहते थे और प्रजा इनको चाहती थी। महाराज सिंहसेन ने इनका कई राजकन्याओं के साथ विवाह सम्पन्न कराया था जिससे इनका गृहस्थ जीवन सुखमय व्यतीत हो रहा था।

राज्य करते हुए जब उन्हें पन्द्रह लाख वर्ष बीत गये तब किसी एक दिन उल्कापात देखकर उन्हें यथार्थ ज्ञान उत्पन्न हो गया। वे सोचने लगे कि यह दुष्कर्मरूपी बेल अज्ञानरूपी बीज से उत्पन्न हुई है, असंयमरूपी पृथ्वी के द्वारा धारण की हुई है, प्रमादरूपी जल से सींची गयी है, कषाय ही उसकी स्कन्धयष्टि (बड़ी माटी शाखा) है, योग के आलम्बन से बढ़ी हुई है, तिर्यञ्च गति के द्वारा फैली हुई है, वृद्धावस्थारूपी फूलों से ढ़की हुई है, अनेक रोग ही इसके पत्ते हैं और दुःखरूपी दुष्टफलों से झुक रही है। मैं इस दुष्कर्मरूपी बेल को शुक्ल ध्यानरूपी तलवार के द्वारा आत्म-कल्याण के लिए जड़ से काटना चाहता हूँ। ऐसा विचार करते ही उनके वैराग्य भावों की प्रशंसा एवं स्तुति करते हुए लौकांतिक देव आ पहुंचे। उन्होंने उनकी पूजा/स्तुति की। विरक्त भगवान् ने अपने अनन्तविजय पुत्र के लिए राज्य दिया और स्वयं सागरदत्त नामक पालकी पर आरूढ़ होकर सहेतुक वन में गये और वहां वेला का नियम लेकर ज्येष्ठ कृष्ण द्वादशी के दिन सायंकाल के समय एक हजार राजाओं के साथ दीक्षित हो गये। देवों ने उनका दीक्षा कल्याणक मनाया।

दीक्षा लेते ही जिन्हें मनःपर्यय ज्ञान प्राप्त हुआ। ऐसे अनन्तनाथ मुनिराज दूसरे दिनचर्या के लिए साकेतपुर में गये। वहाँ सुवर्ण के समान कान्ति वाले विशाख नामक राजा ने उन्हें आहार देकर स्वर्ग तथा मोक्ष की संसूचना देने वाले पञ्चाश्चर्य प्राप्त किये। इस प्रकार तपश्चरण करते हुए जब छद्मस्थ अवस्था के दो वर्ष बीत गये तब उसी सहेतुक वन में पीपल वृक्ष के नीचे चैत्र कृष्ण अमावस्या के दिन सायंकाल के समय रेवती नक्षत्र में उन्होंने केवलज्ञान प्राप्त किया। उसी समय देवों ने आकर भगवान् के केवलज्ञान की पूजा की।

जय आदि पचास गणधरों के द्वारा उनकी दिव्य ध्वनि का विस्तार होता था, वे एक हजार पूर्वधारियों के द्वारा वन्दनीय थे, तीन हजार दो सौ वाद करने वाले मुनियों के स्वामी थे, उन्तालीस हजार पाँच सौ शिक्षक उनके साथ रहते थे, चार हजार तीन सौ अवधिज्ञानी उनकी पूजा करते थे, वे पाँच हजार केवलज्ञानियों से सहित थे, आठ हजार विक्रियाऋद्धि के धारकों से विभूषित थे, पाँच हजार मनःपर्ययज्ञानी उनके साथ रहते थे। इस प्रकार सब मिलाकर छयासठ हजार मुनि उनकी सपर्या करते थे। सर्वश्री को आदि लेकर एक लाख आठ हजार आर्यिकाओं का समूह उनके साथ था, दो लाख श्रावक उनकी पूजा करते थे और चार लाख श्राविकाएं उनकी स्तुति करती थी। इस प्रकार बारह सभाओं में विद्यमान वे भगवान् भव्य समूह के अग्रणी थे।

अनेक वर्षों तक भगवान् अनन्तजिन ने प्रसिद्ध देशों में विहार कर भव्य जीवों को सन्मार्ग में लगाया। अन्त में सम्मेदशिखर पर जाकर उन्होंने विहार करना छोड़ दिया और एक माह का योग निरोध कर छह हजार एक सौ मुनियों के साथ प्रतिमा योग धारण कर लिया तथा चैत्र कृष्ण अमावस्या के दिन रात्रि के प्रथम भाग में चतुर्थ शुक्लध्यान के द्वारा अघातिया कर्मों का नाश कर मुक्ति का परमपद प्राप्त किया। उसी समय इन्द्रादि देवों के समूह ने आकर बड़े आदर से विधिपूर्वक भगवान् का निर्वाण कल्याणक सम्पन्न किया। परम प्रमोदपूर्वक भक्ति भाव से अन्तिम कल्याणक मानकर वे समस्त इन्द्रादिगण अपने-अपने स्थानों पर चले गये।

जो पूर्व तीसरे भव में पद्मरथ नाम के प्रसिद्ध राजा हुए, फिर तप के प्रभाव से अच्युत स्वर्ग के पुष्पोत्तर विमान में अच्युतेन्द्र हुए और फिर वहाँ से चयकर मरण को जीतने वाले अनन्तजिन नामक जिनेन्द्र हुए वे भगवान् अनन्त भवों में होने वाले मरण से हम सबकी रक्षा करे।

●

तीर्थङ्कर शान्तिनाथ विषयक साहित्य और उनका पावन चरित

— पं. शिवचरन लाल जैन, मैनपुरी

चौबीस तीर्थङ्करों में विश्ववन्द्य भगवान् शान्तिनाथ का महत्त्वपूर्ण स्थान है। उन्हें विश्वशान्ति कारक, सर्वदुःखहर्त्ता के रूप में विशेष ख्याति प्राप्त हैं। उनके विषय में प्रचुर मात्रा में साहित्य की रचना की गयी। गद्य, पद्य दोनों रूपों में संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश, कन्नड़, तमिल आदि प्रान्तीय भाषाओं तथा हिन्दी में लिखित उनका पावन चरित और स्तोत्र आदि उपलब्ध हैं। उनके उल्लेख, भक्तियों के परिवेश में आ. कुन्दकुन्द आदि श्रुतधराचार्यों के तथा बृहत्स्वयम्भू स्तोत्र आदि के रूप में प्राचीन वाङ्मय में विद्यमान है। उसके पश्चात् जिनशासन को प्रकाशित करने वाले अत्यन्त मेधावी गुणभद्राचार्यकृत उत्तरपुराण के ६२-६३ पर्व में भगवान् शान्तिनाथ का चरित्र प्रभावकारी है। प्राप्त अन्य साहित्य प्राय: उसका अनुसारी है। महाकवि असग द्वारा रचित शान्तिनाथ पुराण लगभग उसी समय अथवा उसके निकटवर्ती अन्तराल में लिखा गया काव्य शैली की एक प्रासिद्ध रचना है। हमने अपने उपरोक्त शीर्षक वाले आलेख में कुल २४ ग्रन्थों का उल्लेख किया है। उनमें प्राकृत-भाषा के 'तिसट्ठिलक्खण महापुरिसगुणालंकारु' नामक महनीय 'महापुराणु' ग्रन्थ के अन्तर्गत सन्धि ६० से ६३ तक रचनाकार महाकवि पुष्पदन्त ने भगवान् शान्तिनाथ के जीवन चरित्र को मनोहर छन्द, रस, अलंकारों एवं धर्म विवेचनपूर्ण वैराग्य सहित विशिष्ट भाषा शैली काव्यगत विशेषताओं को लिए हुए आगमानुसार वर्णित किया है। इसके अतिरिक्त महाकवि रइधू ने एक 'संतिणाह चरिउ' अपभ्रंश-भाषा का श्रेष्ठ साहित्योपवन-कुसुम का प्रणयन किया। यह अपभ्रंश-साहित्य की प्रशंसनीय कृति भगवान् शान्तिनाथ के इतिहास पर काव्य के प्राय: सभी गुणों को समाहित किये जैन वाङ्मय में महत्त्वपूर्ण स्थान रखती है। यह बड़ी आकर्षक संवेगिनी, निर्वेदिनी कथा है। इसमें प्रशस्त कथानायक शान्तिप्रभु के जन्मों के विविध पार्श्वों को महाकवि ने ललित रूप में चित्रांकित किया है।

ग्यारहवीं शताब्दी में दामनन्दी संज्ञा को धारण करने वाले एक महान् आचार्य हुए हैं, उन्होंने भी अपने पुराणसार संग्रह में १६वें तीर्थङ्कर जिनेन्द्र का पावन चरित वर्णित किया है। गम्भीर एवं रोचक शब्दावली, विविध शब्दालंकारों की छटा मन को मोह लेती है। यद्यपि संक्षिप्त वर्णन है फिर भी यथायोग्य आवश्यक प्रसंगों को सम्यक् स्थान देने का प्रयास रचनाकार ने किया है। संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश-भाषा के अन्य पुराण व चरित्र ग्रन्थों के अतिरिक्त हिन्दी में लिखे गये ग्रन्थों जैसे चौबीसी पुराण, चौबीस तीर्थङ्कर महापुराण आदि के द्वारा भी लेखकों ने भगवान् शान्तिनाथ के चरित वर्णन के माध्यम से उनको शीश झुकाया है। ऐसा प्रतीत होता है कि विपुल मात्रा में इन कामदेव चक्रवर्ती प्रभु के विषय में लिखा गया होगा; किन्तु वह प्रमादवश या आक्रान्ताओं के विद्वेषवश काल के गाल में समा गया होगा। अवशिष्ट भी सम्पूर्ण एकत्रित रूप में काम चलाने को पर्याप्त है। आवश्यकता है इस वाङ्मय-दर्पण में उद्यमपूर्वक झांकने की।

पावन चरित– समग्र साहित्य में भगवान् शान्तिनाथ की १२ तक भवावलि का वर्णन पाया जाता है। आचार्य गुणभद्र के शब्दों में दृष्टव्य है—

श्रीषेणः कुरुजः सुरः खगपतिर्देवो हलेशामरो।
यो वज्रायुधचक्रभृत्सुरपतिः प्राप्याहमिन्द्रं पदं।।
पश्चान्मेघरथो मुनीन्द्रसहितः सर्वार्थसिद्धिं श्रितः।
शान्तीशो जगदेकशान्तिरतुलां दिश्याच्छ्रियं वश्चिरम्।। पर्व ६३/५०४

अर्थात् १. राजा श्रीषेण, २. उत्तम भोगभूमिज आर्य, ३. श्रीप्रभदेव, ४. विद्याधर अमिततेज, ५. आनत स्वर्ग में रविचूल देव, ६. अपराजित बलभद्र, ७. अच्युतेन्द्र, ८. वज्रायध चक्रवर्ती, ९. उर्ध्व ग्रैवेयक-अहमिन्द्र, १०. मेघरथ राजा, ११. सर्वार्थसिद्धि में अहमिन्द्र, १२. शान्तीश प्रभ, इन बारह भवों में क्रमशः प्रकर्ष करने वाले विश्वशान्तिकर्ता जिनेन्द्र हमें चिरशान्ति श्री प्रदान करें।

उनके भवों में अपराजित बलभद्र का जीवन अनेकों विचित्र घटनाओं से व्याप्त रहा। भाई अनन्तवीर्य नारायण के साथ दमितारि प्रतिनारायण का वध कर समस्त विद्याधरों पर विजय प्राप्त की। अनन्तवीर्य आगे चलकर उनके भाई चक्रायुध होकर उनके ही गणधर बने। अनन्तवीर्य की मृत्यु से दुःखित हो अपराजित ने यशोधर मुनि से प्रव्रज्या ग्रहण कर समाधिपूर्वक शरीर विसर्जन किया।

भगवान् शान्तिनाथ के जीवन से हमें अभ्युदय स्वरूप, श्रेष्ठ मानवीय जीवन, धैर्य, त्याग-तपस्या, वैराग्य एवं धर्म-अर्थ-काम और मोक्ष पुरुषार्थ द्वारा आत्मस्वरूप प्राप्ति की शिक्षा प्राप्त होती है। हमें निरन्तर आत्मकल्याण की भावना का लक्ष्य रह सकता है।

भगवान् शान्तिनाथ की अनेकों विशेषताएँ हैं। भगवान् धर्मनाथ के पश्चात् पाव पल्य तक मोक्ष मार्ग का विच्छेद रहा। उस समय भगवान् शान्तिनाथ ने जन्म लेकर पुनः धर्म का प्रवर्तन किया। उनके निर्वाण के पश्चात् धर्म तीर्थ अविच्छिन्न रूप से अद्यावधि विद्यमान है। वे ही इस हेतु समर्थ हुए, अतः उनका विशेष महत्त्व है। वे पञ्चम चक्रवर्ती पद के धारी, बारहवें कामदेव एवं सोलह तीर्थङ्कर थे, इन तीन पदों को उन्होंने विभूषित किया है। इस तरह मूल शोध आलेख में विस्तार से विवेचन किया गया है।

●

तीर्थङ्कर कुन्थुनाथ का जीवनचरित और पञ्चकल्याणक भूमियाँ

—डॉ. कस्तूरचन्द 'सुमन', श्रीमहावीरजी

प्रामाणिकता को ध्यान में रखते हुए तीर्थङ्कर कुन्थुनाथ की जीवनचरित-सम्बन्धी सामग्री दिगम्बर जैन-साहित्य में आचार्य श्री यतिवृषभकृत तिलोयपण्णत्ती, आचार्य जिनसेनकृत हरिवंशपुराण, आचार्य रविषेणकृत पद्मपुराण और आचार्य गुणभद्रकृत उत्तरपुराण से तथा जैन शिल्प में तीर्थङ्कर कुन्थुनाथ प्रतिमा की परिचयात्मक जानकारी अहार क्षेत्र के अभिलेख तथा भारतीय दिगम्बर जैन अभिलेख और तीर्थ परिचय : मध्यप्रदेश- १३वीं शती तक से ली गयी है। हस्तिनापुर का परिचय पावन जैन तीर्थ हस्तिनापुर की गौरव गाथा नामक पुस्तिका में संकलित किया गया है।

तीर्थङ्कर कुन्थुनाथ के मंगल जीवरचरित का शुभारम्भ उनके उस पूर्वभव से किया गया है जिसमें उन्होंने संयम धारण कर तीर्थङ्करत्व की सोलहकारण-भावनाओं का अनुचिन्तन करते हुए तीर्थङ्कर-पुण्य-प्रकृति का बन्ध किया था। उस भव में तीर्थङ्कर कुन्थुनाथ का जीव पूर्व विदेहक्षेत्र में सुसीमा नगरी का सिंहरथ नामक राजा था। इस पर्याय में सिंहरथ के जीव ने तीर्थङ्कर-प्रकृति का बन्ध कर समाधिपूर्वक मरण किया था और स्वर्ग के सर्वार्थसिद्धि नामक अनुत्तर विमान में उत्पन्न हुआ था।

गर्भकल्याणक : स्वर्ग में प्रवीचार रहित मानसिक सुख का अनुभव करते हुए स्वर्ग की आयु पूर्ण होने पर सिंहरथ का जीव स्वर्ग से चय कर भरतक्षेत्र के हस्तिनापुर नगर में श्रावण कृष्णा दशमी के दिन रात्रि के पिछले प्रहर में कृतिका नक्षत्र के रहते सोलह स्वप्नपूर्वक हस्तिनापुर के राजा सूरसेन की पटरानी श्रीकान्ता के गर्भ में अवतरित हुआ। देवों के आसन कम्पायमान हुए। तीर्थङ्कर का गर्भावतरण जानकर सभी देव पृथिवी पर आये और उन्होंने रत्न वर्षाये तथा गर्भ-कल्याणक-पूजा की और हर्षिक होकर यथास्थान चले गये।

जन्मकल्याणक : हस्तिनापुर में रानी श्रीकान्ता के गर्भ में नौ मास रहने के उपरान्त वैशाख शुक्ला प्रतिपदा के दिन आग्नेय योग में कृतिका नक्षत्र के समय श्रीकान्ता की कुक्षि से सिंहरथ के जीव ने जन्म लिया। अब वह राजा सूरसेन का पुत्र हुआ। जन्मकल्याणक मनाने देव आये। इन्द्र ने सुमेरु पर्वत पर ले जाकर नवजात शिशु का अभिषेक किया। तदुपरान्त शिशु का कुन्थु नाम रखकर हर्षित होते हुए देव यथास्थान चले गये।

कुमार कुन्थुनाथ की आयु पंचानबे हजार वर्ष की थी। इसमें आयु का चतुर्थ भाग प्रमाण- तेईस हजार सात सौ पचास वर्ष का समय कुन्थुनाथ का कुमारकाल रहा। इतने ही समय वे मण्डलेश्वर राजा और पुन: इतने समय वे चक्रवर्ती रहे। इस प्रकार आयु के तीन भाग राज-काज में ही निकल गये। शारीरिक अवगाहना पैंतीस धनुष तथा शारीरिक वर्ण तप्त स्वर्ण के समान था।

दीक्षाकल्याणक : कुन्थुनाथ परमार्थ के ज्ञानी थे। उन्होंने अपने मन्त्री को समझाते हुए बताया था कि मन्त्री! "जो परिग्रह का त्याग नहीं करता उसी का संसार में भ्रमण होता है।" इस प्रकार परमार्थ ज्ञाता कुन्थुनाथ

को कुछ समय बाद पूर्वभव के स्मरण से आत्मबोध उत्पन्न हुआ। वे राजभोगों से विरक्त हुए। लौकान्तिक देवों ने आकर उनका स्तवन किया। चक्री कुन्थुनाथ अब चक्री नहीं रहे। उन्होंने पुत्र को राज्यभार सौंप दिया और स्वयं संयमी हो गये। देवों सहित इन्द्र ने आकर हस्तिनापुर में दीक्षाकल्याणक मनाया। उन्हें विजया नामा पालकी में बैठाकर हस्तिनापुर के सहेतुक वन ले जाया गया जहाँ उन्होंने तेला का नियम लेकर वैशाख शुक्ला प्रतिपदा के दिन कृतिका नक्षत्र में सायंकाल के समय एक हजार राजाओं के साथ मुनि दीक्षा धारण की। दीक्षित होते ही उन्हें मनःपर्यय ज्ञान हो गया था।

ज्ञान-कल्याणक : दीक्षोपरान्त कुन्थुनाथ की प्रथम पारणा हस्तिनापुर में तत्कालीन राजा धर्ममित्र के यहाँ सम्पन्न हुई थी। आहार में गो-क्षीर से निष्पन्न खीर दी गयी थी। वे सोलह वर्ष तक छद्मस्थ रहे। इसके पश्चात् चैत्र शुक्ला तृतीया के दिन अपराह्न में कृतिका नक्षत्र के उदयकाल में हस्तिनापुर के सहेतुक वन में ही तिलक वृक्ष तले उन्हें केवलज्ञान उत्पन्न हुआ था। केवली होते ही इन्द्र की आज्ञा से कुबेर ने समवसरण की रचना की थी जहाँ इन्हें धरातल से पाँच हजार धनुष ऊपर बैठाया गया था। इन्द्रादि सभी देवों ने ज्ञानकल्याणक की हर्षपूर्वक पूजा की थी। इस प्रकार कुन्थुनाथ के प्रथम चारों कल्याणक हस्तिनापुर में ही सम्पन्न हुए थे। पवित्रता प्राप्त करने का सौभाग्य हस्तिनापुर को मिला जिसके फलस्वरूप हस्तिनापुर की भूमि आज भी वन्द्य है।

संघ-परिचय : केवली कुन्थुनाथ के संघ में स्वयम्भू आदि अष्ट ऋद्धिधारी पैंतीस गणधर थे। मुनि की संख्या साळ हजार थी। इनमें पूर्वधर मुनि ७००, शिक्षक ४३१५०, अवधि ज्ञानी मुनि २५००, केवली ३२००, विक्रिया ऋद्धिधारी ५१००, विपुलमति ज्ञानी ३३५० और वादी मुनि २००० थे। भावितादि ६०३५० आर्यिकाएँ संघ में थीं। श्रावक १००००० और श्राविकाएँ ३००००० थीं। देव-देवियाँ, मनुष्य और तिर्यञ्च तो असंख्य थे। साठ हजार मुनियों में ४६८०० मोक्ष गये और शेष विभिन्न स्वर्गों में उत्पन्न हुए।

निर्वाण-कल्याणक : आयु का एक मास शेष रहने पर केवली कुन्थुनाथ ससंघ विहार करते हुए सम्मेदाचल आये थे। यहाँ वैशाख शुक्ला प्रतिपदा के दिन प्रदोषकाल में कृतिका नक्षत्र के रहते कायोत्सर्ग आसन से एक हजार मुनियों के साथ ज्ञानधर कूट से मोक्ष गये थे। देवों ने आकर आपके मोक्षकल्याणक की सम्मेदाचल पर पूजा-वन्दना की थी।

: जैन शिल्प में कुन्थुनाथ तीर्थङ्कर-प्रतिमा :

चौबीस तीर्थङ्करों में शान्तिनाथ, कुन्थुनाथ और अरनाथ ये तीन तीर्थङ्कर मात्र ऐसे हुए हैं जो तीर्थङ्कर, चक्रवर्ती और कामदेव इन तीन पदों से विभूषित हुए है। पदों की गरिमा के कारण ये अत्यधिक लोकप्रिय हए। ग्यारहवीं-बारहवी सदी में तीनों की प्रतिमाएँ एक ही फलक पर निर्मित की जाने लगीं। पाषाण फलक हो या पीतल फलक। कहीं भी इनकी स्थिति, आसन आदि में एकरूपता नहीं मिलती। कहीं तीनों प्रतिमाएँ एक ही फलक पर निर्मित हैं तो कहीं पृथक्-पृथक् फलकों पर निर्मित हैं। किन्हीं फलकों पर कायोत्सर्ग मुद्रा में अंकित हैं तो किन्हीं फलकों पर पद्मासन मुद्रा में हैं। किसी फलक में शान्तिनाथ प्रतिमा मध्य में है और उसकी बायीं ओर कुन्थुनाथ प्रतिमा तथा दायीं ओर अरनाथ-प्रतिमा है। किसी फलक में बायीं ओर अरनाथ और दायी ओर कुन्थुनाथ-प्रतिमा है। किसी फलक में तीर्थङ्कर १/२ क्रम अपनाया गया है— शान्ति, कुन्थु और अरनाथ-प्रतिमाएँ क्रमशः दर्शायी गयी हैं।

बीसवीं सदी में जहाँ अकेली प्रतिमा अंकित की गयी हैं, उसे पद्मासन में दर्शाया गया है। एक ही फलक पर पद्मासन में कहीं मध्य में पार्श्वनाथ और उसकी दायीं और शान्तिनाथ तथा बायीं ओर कुन्थुनाथ प्रतिमा भी अंकित मिलती है। कायोत्सर्ग मुद्रा वाले प्रतिमा फलक मध्य प्रदेश में अहार, बजरंगगढ़, सिहोनिया, ऊन आदि में तथा पद्मासनस्थ फलक हस्तिनापुर में द्रष्टव्य हैं।

निर्वाणकल्याणक - भूमि

तीर्थङ्कर कुन्थुनाथ की निर्वाणभूमि सर्वश्रेष्ठ सिद्धक्षेत्र सम्मेदशिखर की ज्ञानधरकूट भूमि है। सम्मेदशिखर से आदिनाथ, वासुपूज्य, नेमिनाथ और महावीर तीर्थङ्करों के सिवाय अन्य सभी तीर्थङ्कर निर्वाण को प्राप्त हुए हैं। सर्वाधिक पवित्र भूमि होने से ही कहा जाता है कि "भाव सहित वन्दे जो कोई, तहि नरक-पशुगति नहीं होई।"

●

तीर्थङ्कर अरहनाथ और उनकी पञ्चकल्याणक भूमियाँ

– डॉ. नरेन्द्रकुमार जैन, सनावद

जैनधर्म-परम्परानुसार अर (अरह) नाथ अठारहवें तीर्थङ्कर हैं। वे कामदेव एवं चक्रवर्ती थे। महाकवि श्री जगन्नाथ ने अपने 'चतुर्विंशति सन्धानमहाकाव्य' (श्लोक १९) में उन्हें वृषभजिन, मुनिसुव्रतजिन, अजांक, जगन्नाथधी आदि विशेषणों से सम्बोधित किया है। आचार्य रविषेण ने पद्मपुराण (पर्व १/११) में अरहनाथ भगवान् को "अशेषक्लेशनिर्मोक्षपूर्वसौख्यारणादरम्" अर्थात् समस्त दुःखों से मुक्ति पाकर अनन्त सुख प्राप्त करने वाले तीर्थङ्कर के रूप में नमस्कार किया है। स्वयम्भू स्तोत्र के अनुसार—

न संस्तुतो न प्रणतः सभायां, यः सेवितोऽन्तर्गण पूरणाय।
पदच्युतैः केवलिभिर्जिनस्य, देवाधिदेवं प्रणमाम्यरं तम्।।१८।।

अर्थात् जिन जिनदेव की सभा में अविनाशी पद प्राप्त केवली जिन्हें न नमस्कार करते थे, और न जिनकी स्तुति करते थे; किन्तु अन्तर्गण की पूर्ति के लिए जो उनके द्वारा आदर प्राप्त करते थे, उन देवाधिदेव अरहनाथ जिन को मैं नमस्कार करता हूँ।

हरिवंशपुराण में आचार्य जिनसेन ने चतुर्विंशति तीर्थङ्करों की स्तुति के क्रम में अरनाथ तीर्थङ्कर की स्तुति करते हुए लिखा है कि—

नमोऽष्टादशतीर्थेन प्राणिनामिष्टकारिणे।
चक्रपाणि जिनाराय निरस्तदुरितारये।। (प्रथम सर्ग, श्लोक-२०)

अर्थात् जो अठारहवें तीर्थङ्कर थे, प्राणियों का कल्याण करने वाले थे और जिन्होंने पापरूपी शत्रु को नष्ट कर दिया था; उन चक्ररत्न के धारक श्री अरनाथ जिनेन्द्र के लिए नमस्कार हो।

आचार्य यतिवृषभ प्रणीत 'तिलोय पण्णत्ती' में तीर्थङ्कर अरहनाथ के जीवनवृत्त विषयक जानकारियाँ इस प्रकार प्राप्त होती हैं—

१. गर्भ कल्याणक– तीर्थङ्कर अरहनाथ का अवतरण अपराजित नामक विमान से हुआ था। (४/५३०) हस्तिनापुर में राजा सुदर्शन की रानी मित्रा के गर्भ में आपका आगमन हुआ (४/५५०)। यह तिथि फाल्गुन कृष्ण तृतीया थी।

२.जन्मकल्याणक– तीर्थङ्कर अरहनाथ हस्तिनापुर में पिता सुदर्शन राजा और माता मित्रा से मगसिर शुक्ला चतुर्दशी को रोहिणी नक्षत्र में अवतीर्ण हुए—

मग्गसिर-चोद्दसीए, सिद-पक्खे रोहिणीसु अर-देवो।
णागपुर संजणिदो, मित्ताए सुदरिसणावणिंदेसुं।। ४/५५० ।।

वह कुरुवंश में उत्पन्न हुए थे। उनके जन्म होने पर सौधर्म इन्द्र ने जन्मकल्याणक का भव्य महोत्सव

मनाया तथा सुमेरु पर्वत पर ले जाकर १००८ कलशों से उनका जन्माभिषेक किया। वे स्वण। सदृश पीतवर्ण के थे (४/५९६)। उनकी कुल आयु ८४ हजार वर्ष प्रमाण थी (४/५८८)। उन्होंने २१ हजार वर्ष मण्डलेश अवस्था में एवं २१ हजार वर्ष चक्रवर्ती के रूप में व्यतीत किये (४/६०९)। उनका चिह्न मत्स्य माना गया है (४/६१२)।

३. तपकल्याणक– चक्रवर्ती के रूप में राज्य सुख भोगते हुए एक दिन अरहनाथ ने मेघ का विनाश देखा जिससे देखते ही इन्हें संसार, शरीर एवं भोगों की क्षणभंगुरता दिखायी देने लगी और उन्हें वैराग्य हो गया (४/६१६)। उन्होंने मगसिर शुक्ला दशमी के अपराह्न में रेवती नक्षत्र के रहते सहेतुक वन में तृतीय उपवास के साथ जिनेदद्र रूप अर्थात् दिगम्बर दीक्षा ग्रहण की (४/६६८)। यह सहेतुक वन हस्तिनापुर के समीप ही स्थित था। उनके साथ १ हजार राजकुमारों ने दीक्षा ग्रहण की थी (४/६७६)। मुनि अरहनाथ ने प्रथम पारणा के रूप में गौक्षीर में निष्पन्न अन्न (खीर) की पारणा की थी। इनका छद्मस्थकाल १६ वर्ष माना गया है (४/६८३)

४. ज्ञानकल्याणक– अरहनाथ तीर्थङ्कर को कार्तिक शुक्ला द्वादशी के अपराह्न में रेवती नक्षत्र के रहते सहेतुक वन में केवलज्ञान उत्पन्न हुआ (४/७०३)। केवलज्ञान उत्पन्न होते ही इनका परमौदारिक शरीर पृथ्वी से ५ हजार धनुष प्रमाण ऊपर चला गया। तीनों लोकों में अतिशय प्रभाव उत्पन्न हुआ सौधर्माधिक इन्द्रों ने आकर भगवान् जिनेन्द्र का ज्ञानकल्याणक मनाया और पूजा-अर्चना की। कुबेर के द्वारा सौधर्म इन्द्र की आज्ञा से समवशरण की रचना की गयी जिसमें तीर्थङ्कर अरहनाथ ने दिव्यध्वनि के माध्यम से उपदेश देकर प्राणीमात्र को आत्मकल्याण का मार्ग बताया। तीर्थङ्कर अरहनाथ का केवलीकाल २० हजार ९८४ वर्ष प्रमाण माना गया है (४/९६५)। इनके प्रमुख गणधर का नाम कुम्भ (कुन्थु) (४/९७४)। इनके गणधरों की संख्या ३० थी।

५. मोक्षकल्याणक– तीर्थङ्कर अरहनाथ भगवान् ने चैत्र कृष्णा अमावस्या को प्रत्यूष काल में अपने जन्म (रोहिणी) नक्षत्र के रहते १ हजार मुनियों के साथ सम्मेदशिखर से मोक्ष प्राप्त किया—

चेत्तस्स बहुल-चरिमे, दिणम्मि णिय जम्मि-भम्मि पज्जूसे।
सम्मेदे अर - देओ, सहस्स - सहिदो गदो मोक्खं।।४/१२१३।।

यह सम्मेदशिखर वर्तमान भारतवर्ष के झारखण्ड राज्य में गिरिडीह जिलान्तर्गत स्थित है। जहाँ आज भी जैनधर्मानुयायी बड़ी श्रद्धा से जाकर भगवान् अरहनाथ के निर्वाणस्थली का चरण वन्दन करते है।

सम्पूर्ण जैन साहित्यकारों ने तिलोयपण्णत्ती का अनुसरण करते हुए तीर्थङ्कर अरहनाथ के गर्भ, जन्म, तप एवं ज्ञानकल्याणक का क्षेत्र हस्तिनापुर एवं निर्वाण कल्याणक का क्षेत्र सम्मेदशिखर को माना है। हस्तिनापुर एवं सम्मेदशिखर आज प्रमुख तीर्थों के रूप में मान्य हैं। जहाँ सम्मेदशिखर में अरहनाथ तीर्थङ्कर के मोक्षस्थल को सुप्रभकूट के रूप में चिह्नि किया गया है वहीं हस्तिनापुर में उनके चार कल्याणकों के स्थान चिह्नित नहीं हैं।

तीर्थङ्करों में से कुछ तीर्थङ्करों को छोड़कर अन्य का विस्तृत परिचय नहीं मिलता है। फिर भी सिहौनियां (१०वीं शताब्दी), बजरंगगढ़ (१२वीं शताब्दी), पजनारी, पपौरा, थूवौन, चन्देरी, हस्तिनापुर, मदनपुर (१०वीं शताब्दी) आदि स्थानों पर भगवान् अरहनाथ की जो प्रतिमाएं अवस्थित हैं वे अपने आपमें अद्भुत, कलात्मक

एवं पुरातात्त्विक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है। मध्यप्रदेश में विशेषत: बुन्देलखण्ड में अतिशय क्षेत्रों पर शान्तिनाथ, कुन्थुनाथ और अरनाथ तीनों की प्रतिमाएं प्रतिष्ठित कराने का प्रचलन मध्यकाल में विशेष रूप से रहा है। यह तीनों ही कामदेव, चक्रवर्ती, हस्तिनापुर के निवास और तीर्थङ्कर थे। सम्भवत: जीवन समानता का यह तथ्य ही तीर्थङ्करों की मूर्तियों को एकत्र प्रतिष्ठित कराने में प्रेरक कारण रहा है (मध्यप्रदेश के दिगम्बर जैनतीर्थ-चेदि जनपद, पृ. ३)। आज भी २४ तीर्थङ्करों की मूर्तियों के निर्माण की परम्परा चौबीसी के रूप में चल रही है। यदि अरहनाथ की प्राचीन मूर्तियों का सर्वे कर उनका संरक्षण एवं मूर्ति शिल्प की दृष्टि से महत्त्वांकित किया जाये तो जैन-संस्कृति में एक सुनहरा पृष्ठ उद्घाटित हो सकता है।

दिगम्बर जैन-साहित्य में वर्णित तीर्थङ्कर मल्लिनाथचरित एवं उनकी पञ्चकल्याणक भूमियाँ

– प्राचार्य डॉ. शीतलचन्द जैन, जयपुर

भारतीय संस्कृति में जैन संस्कृति का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान है। इस संस्कृति में तीर्थङ्करों को मानव सभ्यता का संस्थापक नेता माना गया है। ये ऐसे शलाकापुरुष हैं जो सामाजिक चेतना का विकास करके धर्म-दर्शन का स्वरूप निर्धारण करते हैं और मोक्षमार्ग का प्रवर्तन करते हैं।

तीर्थङ्कर शब्द तीर्थ उपपद कृञ+अप से बना है। इसका अर्थ है जो धर्म तीर्थ का प्रवर्तन करे वह तीर्थङ्कर है। तीर्थ शब्द भी तृ+थक् से निष्पन्न है। शब्दकल्पद्रुम के अनुसार 'तरति पापादिकं यस्मात् इति तीर्थम्' अथवा तरति संसार महार्णवं येन तत् तीर्थम् अर्थात् जिसके द्वारा संसार महार्णव या पापादिकों से पार हुआ जाय वह तीर्थ है। इस शब्द का अभिधा-गत अर्थ घाट, सेतु या गुरु है और लाक्षणिक अर्थ धर्म है। तीर्थङ्कर वस्तुत: किसी नवीन सम्प्रदाय या धर्म का प्रवर्तन नहीं करते वे अनादि निधन आत्मधर्म का स्वयं साक्षात्कार कर वीतरागभाव से उसकी पुनर्व्याख्या या प्रवचन करते हैं।

जैनधर्म की मान्यता है कि अतीत के अनन्तकाल में अनन्त तीर्थङ्कर हुए है। वर्तमान में ऋषभादि चतुर्विंशति तीर्थङ्कर हैं और भविष्यत में भी चतुर्विंशति तीर्थङ्कर होंगे। धर्म के स्वरूप निरूपण में एक तीर्थङ्कर से दूसरे तीर्थङ्कर का किञ्चिन्मात्र भी भेद न कभी रहा है और न कभी रहेगा, पर प्रत्येक तीर्थङ्कर अपने-अपने समय में देश, काल, जनमानस की ऋजुता, तत्कालीन मानव की शक्ति, बुद्धि, सहिष्णुता आदि को ध्यान में रखते हुए उसे काल के मानव के अनुरूप धर्म-दर्शन का प्रवचन करते है।

तीर्थङ्करों में सर्वप्रथम ऋषभदेव हुए पश्चात् तेइस तीर्थङ्कर और हुए जिसमें बालब्रह्मचारी अनासक्तियोग के प्रतीक उन्नीसवें तीर्थङ्कर मल्लिनाथ हुए। यद्यपि जिस प्रकार ऋषभदेव, नमि, नेमि, पार्श्व और महावीर का निर्देश जैनेतर वाङ्मय में प्राप्त होता है। वैसा निर्देश तीर्थङ्कर मल्लिनाथ का प्राप्त नहीं होता, परन्तु दिगम्बर जैन-साहित्य में उनके चरित पर पर्याप्त लिखा गया है। तीर्थङ्कर मल्लिनाथ का जैन वाङ्मय में जो चरित मिलता है उसके अनुसार पूर्व के दो भवों का विवेचन मिलता है। मल्लिनाथ के जीव को राजा वैश्रवण की पर्याय में तीर्थङ्कर प्रकृति का बंध हुआ, क्योंकि राजा वैश्रवण ने जंगल में वज्र के गिरने से वटवृक्ष को जड़ से भस्म होता देखकर विचार किया कि संसार में मजबूत जड़ किसकी है? जब इस बद्धमूल विस्तृत और उन्नत वटवृक्ष की ऐसी दशा हो सकती है तब दूसरे का कहना क्या? ऐसा विचार करता हुआ वह संसार की नश्वरता से भयभीत हो गया। उसने अपना राज्य पुत्र को देकर अनेक राजाओं के साथ श्रेष्ठ तप किया और सोलह कारण भावनाओं का चिन्तन कर तीर्थङ्कर बनने का मार्ग प्रशस्त किया। आगे आलेख में इसकी विस्तार से चर्चा की है। उक्त पर्याय में तपस्या के फलस्वरूप समाधिमरण कर अपराजित नामक अनुत्तर विमान में अहमिंद पद प्राप्त किया। तत्पश्चात् इस भरतक्षेत्र के बंगदेश की मिथिलानगरी में राजा कुम्भ की पटरानी प्रजावती की कुक्षि से तीर्थङ्कर मल्लिनाथ

के रूप में जन्म लिया। उसी मिथिलानगरी के श्वेत वन में दीक्षा लेकर केवलज्ञान की प्राप्ति की। इस प्रकार मिथिलापुरी मल्लिनाथ के चार कल्याणकों से पावन हुई। इन्होंने निर्वाण सम्मेदशिखर तीर्थाधिराज से प्राप्त किया।

तीर्थङ्कर मल्लिनाथ के चरित में यह वैशिष्ट्य है कि पूज्याचार्य समन्तभद्र ने स्वयम्भू स्तोत्र में लिखा है कि —

यस्य च शुक्लं परमतपोऽग्निर्ध्यानमनन्तं दुरितमधाक्षीत्।
तं जिनसिंहं कृतकरणीयं मल्लिमशल्यं शरणमितोऽस्मि।।

उक्त श्लोक में मल्लि जिनेन्द्र को जिनसिंह अर्थात् जिनश्रेष्ठ कहा गया है। चौबीस तीर्थङ्करों में वासुपूज्य, मल्लि, नेमि, पार्श्व और वर्धमान ये पाँच तीर्थङ्कर बालब्रह्मचारी होने से अपनी खास प्रधानता रखते हैं। यहाँ समन्तभद्राचार्य ने उन पाँच तीर्थङ्करों में भी तीर्थङ्कर मल्लिनाथ को जिनसिंह कहा है, क्योंकि मल्लिनाथ ही एकमात्र ऐसे तीर्थङ्कर हैं जो मात्र छः दिन छद्मस्थ रहे और केवलज्ञान प्राप्त कर ५४,९०० वर्ष तक आपने तीर्थङ्कर रूप में भरतक्षेत्र में मंगल विहार किया। तीर्थङ्कर मल्लिनाथ की कुल आयु पचपन हजार वर्ष की थी। इस प्रकार १०० वर्ष के अन्तराल में ही इनके चार कल्याणक हो गये।

तीर्थङ्कर मल्लिनाथ की पञ्चकल्याणक भूमियों में मिथिलापुरी नगरी सबसे ज्यादा पवित्र है, क्योंकि चार कल्याणक उसी नगरी में हुए और इसी नगरी में इक्कीसवें तीर्थङ्कर नमिनाथ के भी चार कल्याणक हुए। इस प्रकार आठ कल्याणकों से वह नगरी धन्य हो गयी। मात्र निर्वाण कल्याणक तीर्थाधिराज सम्मेदशिखर जी में हुआ। आलेख में विस्तार से तीर्थङ्कर मल्लिनाथ का जीवन चरित्र की विवेचना की गयी है।

●

तीर्थङ्कर नेमिनाथ एवं उनकी ऐतिहासिकता

– डॉ. विजयकुमार जैन, लखनऊ

बीसवें तीर्थङ्कर मुनिसुव्रतनाथ के समय मर्यादा पुरुषोत्तम रामचन्द्रजी हुए और नारायण श्रीकृष्ण के समकालीन २२वें तीर्थङ्कर भगवान् अरिष्टनेमि। विद्वज्जन श्रीकृष्ण और तीर्थङ्कर अरिष्टनेमि को ऐतिहासिक महापुरुष मानते हैं।[१] 'यजुर्वेद' आदि वैदिक-ग्रन्थों में भी अरिष्टनेमि का उल्लेख हुआ है और पुराणों से स्पष्ट है कि श्रीकृष्ण के समकालीन एक अरिष्टनेमि नामक ऋषि थे।[२] 'महाभारत' में भी उनका उल्लेख है। वहाँ वह निम्नप्रकार सगर नामक एक राजा को उपदेश देते हैं।

संसार में मोक्ष का ही सुख वास्तविक सुख है; जिसकी बुद्धि विषयों में आसक्त है, उसका मन अशान्त होता है, स्नेह बन्धन में बँधे हुए अज्ञानी को मोक्ष नहीं हो सकता। तुम न्यायपूर्वक इन्द्रियों से विषयों का अनुभव करके उनसे अलग हो जाओ और आनन्द के साथ विरते रहो। इस बात की परवाह न करो कि सन्तान हुई है या नहीं ..... प्राणी स्वयं जन्म लेता है, स्वयं बढ़ता और स्वयं ही सुख-दुःख तथा मृत्यु को प्राप्त होता हैं। मनुष्य पूर्व जन्म के कर्मों के अनुसार भोजन, वस्त्र तथा अपने माता-पिता के द्वारा संग्रह किया हुआ धन प्राप्त करते हैं।'[३]

इस उपदेश में निम्नलिखित बातें दृष्टव्य हैं —

(१) मुक्ति के लिए सन्तान आवश्यक नहीं। भगवान् नेमिनाथ के समय पुत्र का होना सद्गति के लिए सन्तान माना जाता था, इसलिए उन्होंने उसका निषेध किया था।[४] अम्बादेवी कथानक से यह स्पष्ट है।[५]

(२) वैयक्तिक स्वातन्त्र्य की धारणा जैसे इस उपदेश में की गयी है, ठीक वैसा ही उपदेश तीर्थङ्कर नेमि ने दिया था।

(३) अन्ततः कर्मवाद का निरूपण जैनधर्म की विशेषता है।

इसके आगे 'महाभारत' में जो उपदेश अरिष्टनेमि ने दिया उससे भी स्पष्ट होता है कि लेखक जैन मान्यता को अपनाकर उपदेश दे रहा है, क्योंकि इसमें क्षुधा, तृषा, राग, द्वेष आदि को जीतने वाले को मुक्त पुरुष कहा है और उसकी साधना के लिए सप्तव्यसनादि के त्याग का उपदेश दिया हैं। इन बातों से भासता है कि 'महाभारत' में तीर्थङ्कर अरिष्टनेमि का ही उल्लेख किया गया है। अतः श्रीकृष्ण जी के साथ तीर्थङ्कर अरिष्टनेमि को विद्वज्जन ऐतिहासिक पुरुष ठीक ही मानते हैं।[६] उनकी एक मूर्ति कुषान सं. १८ की कंकालीटीला मथुरा में मिली है।[७]

कृष्ण वासुदेव और तीर्थङ्कर अरिष्टनेमि

जैन परम्परागत साहित्य में कृष्ण वासुदेव के सम्बन्ध में एक और विशिष्ट तथ्य का वर्णन है। वह यह कि कृष्ण बाईसवें तीर्थङ्कर अर्हत् अरिष्टनेमि के न केवल समकालीन थे, अपितु उनके चचेरे भाई भी थे। आगमिक कृतियों में ऐसे अनेक प्रसंगों का वर्णन है जब अर्हत् अरिष्टनेमि द्वारिका जाते तथा कृष्ण सदल बल

उनके उपदेश श्रवण को जाते।

नेमिनाथ के समय चक्रवर्ती- ब्रह्मदत्त बलभद्र-बलराम, नारायण कृष्ण, प्रतिनारायण- जरासन्ध, नादर ऊधौमुख और कामदेव-वसुदेव और प्रद्युम्न हैं। प्रद्युम्नकुमार ने नेमिनाथ भगवान् के समवशरण में जाकर दीक्षा धारण की।

भगवान् नेमिनाथ गिरनार पर मुनि हुए और उनकी छद्मस्थ अवस्था के जब छप्पन दिन व्यतीत हो गये, तब आचार्य गुणभद्र स्वामी बताते है कि वह एक दिन रैवतक (गिरनार) पर्वत पर तेला का नियम लेकर किसी बड़े भारी बांस के वृक्ष के नीचे विराज़मान हुए। निदान वहाँ ही उनको असौज कृष्ण पढ़िवा के दिन चित्रा नक्षत्र में प्रातःकाल के समय समस्त पदार्थों का ज्ञान कराने वाला केवलज्ञान उत्पन्न हुआ। इस समय देवों ने आकर केवलज्ञान का उत्सव मनाया। इन्द्र के समवसरण की रचना की— गिरनार उस देवोपुनीति वैभव को पाकर सदा के लिए अमर हो गया। वह तीर्थ बन गया, क्योंकि उसके निमित्त से लोक को ज्ञाननेत्र मिला था। उसकी शिखर पर समवशरण बड़ा ही सुन्दर शोभता था— वह त्रिलोक भुवनाश्रय जो था। सभी जीव वहाँ वरदत्तादि गजाधिषों के नेतृत्व में[८] अभय और सुखी हुए थे। निस्सन्देह गिरनार अभयधाम बना और आज भी इस पावन रूप को अपने गात में छिपाये हुए है।

भगवान् नेमि ने समस्त आर्यलोक की प्रबुद्ध करके गिरनार पर आकर ही योग निरोध किया था। वहीं पर ही श्रीकृष्ण के पुत्र प्रद्युम्न, शुम्भु और अनिरुद्ध नामक यदुवंशी राजर्षियों ने तप-तपा और सिद्ध पद पाया था, गिरनार के तीन टोंक उनके निर्वाण धाम बने।[९] पहला कूट भगवान् नेमि का तपोवन रहा एवं पांचवी टूक से मुक्त हुए।[१०] गिरनार पर ही नारायण कृष्ण और बलभद्र एवं अनेक यादव नर-नारियों ने भगवान् नेमि से धर्मोपदेश सुना और अपनी-अपनी शक्ति के अनुसार व्रत-संयम धारण किये। इस प्रकार ज्ञानाराधना और संयम साधना की पुनीत परम्परा गिरनार का अवलम्ब ले अवतरित हुई। दिगम्बर जैन ऋषियों ने उसे अपना केन्द्रीय सिद्ध साधनास्थली बनाया। उपरान्त श्वेताम्बर जैन भक्तों ने उसकी शिखर पर अपने वैभव को बिखेर कर त्याग भाव का परिचय दिया। उसके मोहक रूप से आकृष्ट हो जैन, हिन्दू और मुसलमान सभी उसकी वन्दना करने आने लगे।

भगवान् नेमिनाथ के पञ्चकल्याणक

– पं. पवनकुमार जैन शास्त्री 'दीवान', मोरेना

ऋग्वेद में भगवान् नेमिनाथजी का नामोल्लेख

ऋग्वेद में अर्थात् वैदिक संस्कृति में विभिन्न प्रसंगों में अरिष्टनेमि अर्थात् जैन दर्शन के २२वें तीर्थङ्कर नेमिनाथजी का कथन सन्दर्भों सहित पठनीय है।

पञ्चबालयति-परम्परा का आगमोल्लेख

२४ तीर्थङ्करों में ५ तीर्थङ्कर बालयति रहे हैं जिनमें श्री नेमिनाथजी भी एक हैं। दर्शित करके दिगम्बर-परम्परा में यह निर्विवाद मान्यता है; किन्तु श्वेताम्बरों में एक पक्ष इसी मान्यता को जबकि दूसरा पक्ष भगवान् पार्श्वनाथ को विवाहित एवं शेष ४ को बालयति मानता है।

भगवान् नेमिनाथजी का ऐतिह्य जीवनवृत्त

भगवान् ऋषभदेव के राज्यकाल में ५२ जनपदों की स्थापना हुई थी जिनमें शूरसेन भी एक था, उसे ध्यान रखकर कालान्तर में शत्रुघ्न के पुत्र सूरसेन को भी इसका संस्थापक सिद्ध करते हुए, सूरसेन की राजधानी मथुरा के विविध नाम दर्शाये हैं, कृष्ण साहित्यानुसार ८४ वनों में यमुना तट पर अग्रवन ही बहुत दूर तक व्याप्त था। हरिवंशपुराण के आधार पर हरिवंश में यदु नामक राजा से वंश-परम्परा प्रारम्भ होकर नरपति-शूर-सुवीर, व अन्धकवृष्णि से गुजरती हुई समुद्रविजय- नेमिकुमार, वसुदेव- श्रीकृष्णादि तक चलती रही। मथुरा के राजा भोजक वृष्णि से चलती हुई, उग्रसेन के कंस-देवकी, राजीमती (राजुल) का रूप ले प्रवर्तित हुई। यदुवंशियों द्वारा शौरीपुर छोड़कर द्वारिका प्रस्थान सिद्ध हुआ है तथापि शौरीपुर नेमिकुमारजी की जन्मस्थली के रूप में गौरवान्वित है।

शौरसेनी भाषा एवं दिव्यध्वनि की १८ महाभाषाएँ

सूरसेन जनपद एवं राजा के नामकरण के आधार पर शौरसेनी-भाषा/बोली का प्रादुर्भाव हुआ, आचार्य भरतमुनि ने भी नाट्यशास्त्र में शौरसेनी के प्रयोगार्थ बल दिया, दिव्यध्वनि में १८ महाभाषाओं एवं ७०० लघु भाषाओं की चर्चा शास्त्रों में मिलती है उनमें १८ महाभाषाओं का उल्लेख इस भाषा से सम्बन्धित है। तीन काश्मीरदेशीय, तीन लाटदेशीय, तीन मरहरा देशीय, तीन मालवदेशीय, तीन गौडदेशीय, तीन मागधदेशीय— इस तरह १८ महाभाषाओं का उल्लेख है।

भगवान् नेमिनाथ के पूर्वभव, गर्भकल्याणक, स्वप्नावली व प्रतिफलादि

कवि भूधरदास के अनुसार भगवान् नेमिनाथ के पूर्व दश भवों का उल्लेख, उनका गर्भकल्याणक हुआ तब प्रभु के गर्भ में आने के पहले १६ स्वप्नदर्शन, प्रातःकाल महाराजा द्वारा उनका फल ज्ञात कराना एवं गर्भकल्याणक का प्रतिफल दर्शाया गया है।

जन्मकल्याणक तिथि पर विविधता व जन्मकल्याणक विधि

भगवान् के जन्मकल्याणक तिथि के विषय में सर्वमान्य एक धारणा नहीं है। भिन्न-भिन्न मान्य है तथापि प्राय:कर ग्रन्थकारों/लेखकों एवं कविवर वृन्दावनजी (नेमिनाथजी पूजन के रचयिता) ने श्रावण शुक्ला ६ ही मान्य की है। आगे जन्मकल्याणक पर इन्द्र गजों द्वारा आयोजित महोत्सव को चित्रित किया गया है। जन्माभिषेक बाद इन्द्राणी द्वारा प्रभु को वस्त्राभूषण आदि से सुसज्जित करना एवं स्तवन करना दर्शाया है।

यादवों द्वारा शौरीपुर का परित्याग व द्वारिका गमन, सहित नेमिकुमार का विवाह वैराग्य

जरासन्ध के पुत्रों व भ्राता की मृत्युपरान्त उससे भयाकुलित यादवों ने श्रीकृष्ण जी की सलाह पर शौरीपुर का त्याग कर द्वारिका (सौराष्ट्र प्रान्त में समुद्र के मध्य) को अपना आवास बनाया, नगर संरचना एवं श्रीकृष्ण ही द्वारिकाधीश बने। अनन्तर श्रीकृष्ण द्वारा अपना प्रभुत्व कायम रखने हेतु नेमिकुमार के विवाह की संयोजना एवं वैराग्य चित्रण चित्रित है।

राजुल वैराग्य व नेमिकुमार की तपश्चर्या-दीक्षाकल्याणक तिथि में विविधता

नेमिकुमार की भावी पत्नी राजुल का परम प्रभावक वैराग्य, अन्तर्पीडा से संयुक्त एवं सर्वस्व समर्पण का द्योतक है। नेमिकुमार दीक्षा ले तप में लीन हो गये। यहाँ भी दीक्षा कल्याणक तिथि में मतभेद/विचार विविधता दर्शित है।

तपश्चरण के अनन्तर उसका प्रातिफल वह चराचर पदार्थों का ज्ञायक सम्पूर्ण लोकालोक व्यापी केवलज्ञान है। भगवान् अकर्ता होने से ज्ञाता-द्रष्टापने को प्राप्त होकर आत्मस्थ रहते हैं। केवलज्ञान प्राप्ति के बाद धर्मोपदेश रूप दिव्यध्वनि सर्वजनहिताय, सर्वजनसुखाय रूप में स्वपर कल्याणकारी होती है। भगवान् का ज्ञानकल्याणक समवशरण रूप धर्मसभा के रूप में इन्द्रों द्वारा आयोजित होता है।

समवशरण में दिव्यध्वनि प्रसारित करते हुए आयु के शेषकाल में भक्तों की पुण्य भावनानुसार जगह-जगह प्रभु का धर्मरथ प्रवर्तन होता है। प्रवचन पाकर पाण्डवगण दीक्षित हुए एवं क्रमश: युधिष्ठिर आदि तीन ने मुक्ति व नकुल सहदेव ने स्वर्ग प्राप्ति की।

प्रभु का निर्वाणकल्याणक

प्रभु ने गिरनार पर्वत से ही निर्वाण की, प्राप्ति की तब इन्द्र ने बज्र से चरण उकेर कर पूज्यता दर्शायी है। शेष जिन भव्य जीवों ने भी इस गिरनार से मुक्ति पायी है उनका कथन किया गया है।

ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में उपसंहार

आलेख का उपसंहार करने हेतु ऐतिहासिक रूप में प्रभुवर/जिनेन्द्र नेमि का उल्लेख महाभारतादि में हुआ है। वैदिक संस्कृति/अथर्ववेद व बौद्ध-साहित्य में भी अरिष्टनेमि नामोल्लेख है। शिलालेखों में नेमिनाथ का उल्लेख है। शिलालेखों का प्रमाण यहाँ दर्शाया है। गिरनार पर्वत पर भी एक शिलालेख प्रमाणस्वरूप है तथा अन्त में गिरनार पर्वत के विभिन्न नामों का उल्लेख एवं प्राचीन आचार्यों द्वारा गिरनार की वन्दना की गयी, इसके प्रमाण देकर/कथन करते हुए अपनी भावाञ्जलि 'जैनेन्द्र शासन' को प्रदान करते हुए विश्वकल्याण की भावना व्यक्त की गयी है।

तीर्थङ्कर नेमिनाथ की जन्म और निर्वाण कल्याणक भूमियाँ

— ज्ञानमल शाह, अहमदाबाद

नेमिनाथ की गर्भ और जन्म-कल्याणक भूमि शौरीपुर

शौरीपुर में तीर्थङ्कर नेमिनाथ का गर्भ कार्तिक शुक्ला षष्ठी और जन्म-कल्याणक श्रावण शुक्ला षष्ठी को हुआ। भगवान् नेमिनाथ की माता रानी शिवादेवी के गर्भ में आने से छः माह पूर्व से जन्मपर्यन्त पन्द्रह मास तक इन्द्र की आज्ञा से राजा समुद्र विजय के घर पर देवों ने रत्नवर्षा जारी रखी और शौरीपुर में माता शिवादेवी तथा पिता समुद्रविजय से श्रावक शुक्ल पक्ष षष्ठी के चित्रा नक्षत्र में नेमि जिनेन्द्र का जन्म हुआ। देवों और इन्द्रों ने भक्ति और उल्लासपूर्वक भगवान् के गर्भ-कल्याणक और जन्म-कल्याणक दो महोत्सव शौरीपुर में अत्यन्त समारोह के साथ मनाये। इस कारण यह भूमि कल्याण-भूमि तीर्थक्षेत्र कहलाने लगी।

केवलज्ञान कल्याणकभूमि

शौरीपुर के गन्धमार्दन पर्वत पर सुप्रतिष्ठित मुनि तप कर रहे थे। उनके ऊपर सुदर्शन नामक एक यक्ष ने घोर उपसर्ग किया। मुनिराज ने उसे समतापूर्वक सहन कर लिया और आत्मध्यान में लीन रहे। फलतः उन्हें केवलज्ञान प्राप्त हो गया। देवों और इन्द्रों ने केवलज्ञान कल्याणक बड़े समारोहपूर्वक मनाया। इन्हीं केवली के चरणों में शौरीपुर नरेश अन्धकवृष्णि और मथुरानरेश भोजवृष्णि ने मुनि दीक्षा ले ली।

निर्वाणक्षेत्र

मुनि धन्यकुमार यमुना तट पर ध्यानमग्न थे। शौरीपुर नरेश शिकार न मिलने के कारण क्षुब्ध था। उसकी दृष्टि मुनिराज पर पड़ी। उस मूर्ख ने विचार किया कि शिकार न मिलने का कारण यह मुनि है। उसने क्रोध और मूर्खतावश तीक्ष्ण बाणों से मुनिराज को बींध दिया। मुनिराज ने शुक्लध्यान द्वारा कर्मों को नष्ट कर मोक्ष पद प्राप्त कर सिद्ध भगवान् बन गये।

इस प्रकार शौरीपुर गर्भ, जन्म, ज्ञानकल्याणक भूमि के साथ निर्वाण भूमि है, सिद्धक्षेत्र है।

शौरीपुर का प्राचीन वैभव

उत्खनन के परिणामस्वरूप यहाँ शिलालेख, खण्डित-अखण्डित जैन मूर्तियां और प्राचीन मन्दिरों के अवशेष प्राप्त हुए हैं। सन् १९७०-७१ में जनरल कनिंघम के सहकारी ए.सी.एल. कार्लाइल शौरीपुर आये थे और उन्होंने यहाँ के खण्डहरों का सर्वेक्षण किया था। इससे यह सिद्ध हुआ कि शौरीपुर प्राचीन समय में अत्यन्त समृद्ध नगरी थी।

वर्तमान शौरीपुर

शौरीपुर में प्राचीनता के स्मारक के रूप में केवल दिगम्बर जैन मन्दिर शेष हैं जिसे आदि मन्दिर (बरुआ मठ) भी कहते हैं। इस मन्दिर का निर्माण संवत् १७२४ (सन् १६६७) में भट्टारक विश्वभूषण के उपदेश से हुआ था। उसका उल्लेख शिलालेख में है।

अतिशयक्षेत्र बटेश्वर

शौरीपुर के वैभवककाल में ३ किमी. दूर बटेश्वर उपनगर था। कहा जाता है कि जब शौरीपुर नदी के तट से अधिक कटने लगा और बीहड़ हो गया तो भट्टारक जिनेन्द्रभूषण ने वि.सं. १९३९ में यमुना की धार के मध्य मन्दिर बनवाया। भट्टारक जिनेन्द्रभूषण सिद्धपुरुष और मन्त्रवेत्ता थे। इस मन्दिर में चन्देल राजा परमर्दिदेव (परिमाल) के विख्यात सेनानी आल्हा-उदल के पिता जल्हण द्वारा बैसाख वदी ७ संवत् १२२४ (ई. ११७६) में प्रतिष्ठापित तीर्थङ्कर अजितनाथ की सुन्दर मूर्ति है। यह मूर्ति प्रभावशाली है। क्षेत्र का भूगर्भ पुरातत्त्व सामग्री से सजा है। यहाँ उत्खनन में प्राचीन प्रतिमाएँ प्राप्त होती हैं। सौ वर्ष पूर्व कार्लाइल द्वारा उत्खनन कराये जाने पर अनेक मूर्तियाँ महाभारतकालीन ईंटें व अन्य सामग्री मिली।

शौरीपुर उत्तरप्रदेश के आगरा जिले में स्थित है। उत्तर रेलवे की आगरा-कानपुर लाइन पर शिकोहाबाद जंक्शन है। यहाँ से २५ किलोमीटर पर शौरीपुर है। आगरा से दक्षिण-पूर्व की और बाह तहसील में ७० किलोमीटर की दूरी पर बटेश्वर उपनगर है। यहाँ से ५ किमी. दूर यमुना नदी के खारों में फैले हुए खण्डहरों में शौरीपुर क्षेत्र स्थित है। आगरा से बटेश्वर तक पक्की सड़क है और बस सेवा उपलब्ध है। यह शौरीपुर क्षेत्र मूलत: दिगम्बर जैन- तीर्थ है।

तीर्थङ्कर नेमिनाथ की निर्वाणभूमि गिरनारजी (गुजरात) का इतिहास

गिरनार पर्वत सुप्रसिद्ध तीर्थक्षेत्र है। यह गुजरात राज्य के सौराष्ट्र प्रान्त में स्थित है। गिरनार क्षेत्र पर जैनधर्म के बाईसवें तीर्थङ्कर अरिष्टनेमि (नेमिनाथ) के तीन कल्याणक— दीक्षा, केवलज्ञान और निर्वाण हुए थे। षट्खण्डागम सिद्धान्तशास्त्र की आचार्य वीरसेनकृत धवला टीका में इसे क्षेत्र मंगल माना है। जहाँ किसी तीर्थङ्कर के तीन कल्याणक हुए हो वह क्षेत्र वस्तुत: अत्यन्त पवित्र बन जाता है। अत: गिरनार क्षेत्र अत्यन्त पावन तीर्थभूमि है। इनके अतिरिक्त यहाँ से प्रद्युम्नकुमार, शुम्बुकुमार, अनिरुद्धकुमार, वरदत्तादि बहत्तर करोड़ सात सौ मुनियों ने मुक्ति प्राप्त की। अत: यह क्षेत्र वस्तुत: अत्यधिक पवित्र बन गया। इसलिए गिरनार (ऊर्ज्यन्त) पावन तीर्थक्षेत्र होने के नाते इसे तीर्थराज भी कहा जाता है।

"तिलोयपण्णत्ति" शास्त्र में भगवान् के निर्वाण नेमिनाथ की दीक्षा के सम्बन्ध में ज्ञातव्य बातें इस प्रकार दी हैं —

चेत्तासु सुद्धसट्ठी अवरण्हे सावणम्मि णेमी जिणो।
तदियखवणम्मि गिण्हत्थ सहकारं वणम्मि तव चरणं।।४। ६६५

अर्थात् भगवान् नेमिनाथ ने श्रावण शुक्ला षष्ठी को चित्रा नक्षत्र के रहते सहकार वन में तृतीय भक्त के साथ ग्रहण किया अर्थात् दीक्षा ली।

भगवान् नेमिनाथ के केवलज्ञान की प्राप्ति के सम्बन्ध में विशेष ज्ञातव्य तथ्यों पर प्रकाश डालते हुए "तिलोयपण्णत्ति" शास्त्र में इस प्रकार विवरण दिया है —

अस्सऊज सुक्क पडिवदपुव्वण्णे ऊज्जयंतगिरिसिहरे।
चित्ते रिक्खे जादं णेमिस्स य केवलं णाणं ।।४। ६६६

अर्थात् नेमिनाथ भगवान् को आसोज शुक्ला प्रतिपदा के पूर्वाह्न समय में चित्रा नक्षत्र के रहते ऊर्जयन्त गिरि के शिखर पर केवलज्ञान उत्पन्न हुआ

"तिलोयपण्णत्ति" शास्त्र में भगवान् के निर्वाण की तिथि आदि का उल्लेख इस प्रकार उपलब्ध होता है—

बहुलट्ठमीपदोसे आसाढे जम्मभम्मि ऊज्जंते।
छत्तीसाधिवपणसयसहिदो णेमीसरो सिद्धो।।४।।१२०६

अर्थात् भगवान् नेमीश्वर आषाढ़ कृष्णा के दिन प्रदोषकाल में अपने जन्म नक्षत्र के रहते ५३६ मुनियों के साथ ऊर्जयन्त गिरि से सिद्ध हुए।

इस क्षेत्र पर भगवान् नेमिनाथ के अतिरिक्त करोड़ों मुनियों को निर्वाण प्राप्त हुआ है, इस प्रकार के उल्लेख जैन वाङ्मय में प्रचुरता से प्राप्त होते है। "प्राकृत निर्वाणकाण्ड" में ऊर्जयन्त पर्वत से बहत्तर कोटि सात सौ मुनियों के निर्वाण-गमन का उल्लेख किया गया है। वह गाथा इस प्रकार है—

णेमिसामी पज्जुण्णो संवुकुमारो तहेव अणिरुद्धो।
वाहत्तिरि कोडीओ ऊज्जंते सत्तसया सिद्धा।।५।।

अर्थात् नेमिनाथ भगवान् के अतिरिक्त प्रद्युम्न, शम्बुकुमार, अनिरुद्धकुमार आदि बहत्तर करोड़ सात सौ मुनियों ने ऊर्जयन्त गिरि से सिद्धपद प्राप्त किया। यहाँ स्मरण रखना चाहिए कि परम्परया ऐसी मान्यता चली आ रही है कि प्राकृत निर्वाण-काण्ड आचार्य कुन्दकुन्द द्वारा विरचित है जिसका समय काल ईस्वी सन् १२० से १७५ माना जाता है।

इस प्रकार यह स्वीकार करने में कोई आपत्ति नहीं हो सकती कि ऊर्जयन्त गिरि (गिरनार) से न केवल नेमिनाथ भगवान् ही मुक्त हुए हैं, अपितु वहाँ से अन्य भी अनेक मुनि मुक्त हुए हैं। उसका समर्थन हरिवंशपुराण से भी होता है। उस सम्बन्ध में आचार्य जिनसेन ने मुनियों के कुछ नाम देकर यह भी सूचित किया है कि इन मुनियों आदि के निर्वाण के कारण ही ऊर्जयन्त को निर्वाण-क्षेत्र माना जाने लगा और अनेक भव्यजन तीर्थयात्रा के लिए आने लगे। वे लिखते हैं —

दशार्हादयो मुनयः षट्सहोदरसंयुताः। सिद्धिं प्राप्तास्थान्येऽपि शम्बप्रद्युम्नपूर्वकाः॥
ऊर्जयन्तादिनिर्वाणस्थानानि भुवने ततः। तीर्थयात्रागतानेकभव्यसेव्यानि रेजिरे॥

– हरिवंशपुराण, सर्ग 65, श्लोक 16-17

अर्थात् समुद्रविजय आदि नौ भाई, देवकी के युगलिया छह पुत्र, शम्बु और प्रद्युम्नकुमार आदि अन्य मुनि भी ऊर्जयन्त से मोक्ष को प्राप्त हुए इसलिए उस समय से गिरनार आदि निर्वाणस्थान संसार में विख्यात हुए और तीर्थयात्रा के लिए लोगों के आने से वे सुशोभित हुए।

आचार्य गुणभद्रकृत "उत्तरपुराण" में प्रद्युम्न आदि मुनियों के सम्बन्ध में ऊर्जयन्तगिरि से निर्वाण प्राप्ति के साथ जिन कूटों से उन्होंने निर्वाण प्राप्त किया था, उसकी भी सूचना दी गयी है। जिसमें कहा है कि –

द्वीपायन मुनि द्वारका दाह निदान करने पर जाम्बवती के पुत्र शम्बु और पद्युम्न के पुत्र अनिरुद्ध ने संयम धारण कर लिया। वे दोनों प्रद्युम्न मुनि के साथ ऊर्जयन्तगिरि के ऊँचे तीन शिखरों पर आरूढ़ होकर प्रतिमायोग से स्थित हो गये। उन्होंने शुक्लध्यान को पूरा करके घातिया कर्मों का नाश किया और नौ केवललब्धियाँ पाकर मोक्ष प्राप्त किया।

इससे जिन तीन कूटों का संकेत आया है, उसके अनुरूप आज भी मान्यता प्रचलित है। द्वितीय कूट पर अनिरुद्ध कुमार के चरण-चिह्न बने हुए हैं। तीसरे कूट पर शम्बुकुमार के और चौथे कूट पर प्रद्युम्नकुमार के चरण- चिह्न उत्कीर्ण हैं।

पौराणिक और ऐतिहासिक घटनाएँ

गिरनार पर अनेक पौराणिक और ऐतिहासिक घटनाएँ घटित हुई हैं, जिनका विशेष महत्त्व है। चतुर्थ श्रुतिकेवली गोवर्धनाचार्य गिरनार की यात्रा के लिए गये थे। अन्तिम श्रुतकेवली भद्रबाहु ने भी यहाँ की यात्रा की थी। इनके पश्चात् एक महत्त्वपूर्ण घटना का गिरनार के साथ सम्बन्ध है, जिसके द्वारा जैन वाङ्मय का इतिहास जुड़ा हुआ है। वह घटना इस प्रकार है —

धरसेनाचार्य गिरनार की चन्द्रगुफा में रहते थे। नन्दिसंघ की प्राकृत पट्टावली के अनुसार वे आचारांग के पूर्ण ज्ञाता थे। उन्हें इस बात की चिन्ता हुई कि उनके पश्चात् श्रुतज्ञान का लोप हो जायेगा। उस समय महिमा नगरी में मुनि-सम्मेलन को एक लिखा, जिसमें उन्होंने अपनी चिन्ता व्यक्त की। फलस्वरूप दो मुनि भूतबलि और पुष्पदन्त उनके पास पहुँचे।

इस प्रकार सिद्धान्त ग्रन्थों की विद्या-भूमि गिरनार ही है। पुष्पदन्त और भूतबलि ने गिरनार की सिद्धशिला पर बैठकर, जहाँ भगवान् नेमिनाथ को मुक्ति प्राप्त हुई थी, मन्त्र-सिद्धि की थी।

आचार्य कुन्दकुन्द भी गिरनार की वन्दना करने आये थे।

यहाँ केवल दो शिलालेखों या ताम्रपत्रों का उल्लेख करना पर्याप्त होगा। एक शिलालेख कल्लूगुड्डु (शिमोगा परगना) में सिद्धेश्वर मन्दिर की पूर्व दिशा में पड़े हुए पाषाण पर उत्कीर्ण हो जो शक संवत् १०४२ (सन् ११२१ ई.) का है। उसका सम्बन्धित अंश इस प्रकार है—

हरिवंशकेत: नेमीश्वरतीर्थवतिं सुत्तगिरे गंगकुलांवर भानु पुट्टिदं भा। सुरतेज विष्णुगुप्तनेम्ब नृपालम्। आ-धराधिनाथ साम्राज्यपदवियं कैकोण्डहिच्छत्र- पुरदोलु सुखमिर्दु नेमितीर्थकर-परमदेव-निर्वाणकालदोले ऐन्द्रध्वजवेम्बपूजेयं माडे देवेन्द्रनोसेदु अनुपम दैवावतयं। मनोनुरागदोले विष्णुगुप्तागत्तम। जिनपूजेयिन्दे मुक्तिय। ननर्ध्यमं पडेगुसेन्दोड्डुलिदटढ़ पिरिदे। – जैन शिलालेख संग्रह, भाग २, पृ. ४०६-०८

अर्थ— जब नेमीश्वर का तीर्थ चल रहा था, उस समय राजा विष्णुगुप्त का जन्म हुआथा। वह राजा अहिच्छत्रपुर में राज्य कर रहा था, उसी समय नेमी तीर्थङ्कर का निर्वाण हुआ।उसने ऐन्द्रध्वज पूजा की। देवेन्द्र ने उसे ऐरावत हाथी दिया।

विष्णुगुप्त गंगवंश का एक ऐतिहासिक व्यक्ति हुआ है। नेमिनाथ भगवान् का निर्वाण उसके शासनकाल में हुआ था। इससे नेमिनाथ की ऐतिहासिकता असन्दिग्ध हो जाती है।

इस विषय में प्रभासपट्टन से बेबीलोनिया के बादशाह नेवुचडनज्जर का ताम्रपट्ट लेख सर्वाधिक प्राचीन है। डॉ. प्राणनाथ विद्यालंकार ने उसका अनुवाद इस प्रकार किया है।

"रेवानगर के राज्य का स्वामी, सुजातिका देव नेवुचुडनज्जर आया हे। वह यदुराज के नगर (द्वारका) में आया हे। उसने मन्दिर बनवाया। सूर्य ..... देव नेमि की जो स्वर्ण समान रैवत पर्वत के देव है, (उनको) हमेशा के लिए अर्पण किया।"

नेवुचडनज्जर का काल ११४० ई.पू. माना जाता है, अर्थात् आज से ३००० वर्ष से भी पहले हैवतक पर्वत के स्वामी भगवान् नेमिनाथ माने जाते थे। उस पर्वत की ख्याति उन्हीं भगवान् नेमिनाथ के कारण थी। उस समय द्वारका में यदुवंशियों का राज्य था और वहाँ पर भगवान् नेमिनाथ की अत्यधिक मान्यता थी। इसलिए बेबीलोनिया के बादशाह ने द्वारका में नेमिनाथ का मन्दिर बनवाया।

एक दूसरे शिलालेख को कर्नल टाड सा ने इस प्रकार पढ़ा था —

सं. १३३६ (१२८३ ई.) ज्येष्ठ सुदी १० बृहस्पतिवार को पुराने मन्दिर के भग्नावशेषों को रेवताचल पर्वत पर से हटाकर नये मन्दिर बनाये गये।

१६ जनवरी सन् १८७५ को डॉ. जेम्स बर्गस सा ने गिरनार की यात्रा की। उन्होंने लिखा है जूनागढ़ से १७५० फीट की ऊँचाई पर जहाँ से सीढ़ियां आरम्भ होती है वहाँ से कुछ ऊपर निम्नलिखित शिलालेख है—

"स्वस्ति संवत् १६८१ वर्षे कार्तिकवदि ६ सोम श्री गिरनार तीर्थनी पूर्वनी पातनो चढऋवाया श्री ढिवती संघे घीएणा निमित्ते श्री माला ज्ञातीस्यामासिंहजी मेघम्मीने उद्यमे काराव्यो।"

इसमें पूर्व पांति की सीढ़ियों की मरम्मत कराने का उल्लेख है।

ऊर्जयन्त (गिरनार, रैवतक) पर्वत दिगम्बर-परम्परा में तीर्थराज माना गया है। सम्मेद-शिखर को तो अनादिनिधन तीर्थ माना गया है, क्योंकि हुण्डावसर्पिणी काल के कुछ अपवादों को छोड़कर भूत, भविष्य और वर्तमान के सभी तीर्थङ्करों का निर्वाण इसी पर्वत से होता है। इनके अतिरिक्त जिन मुनियों को यहाँ से मुक्ति लाभ हो चुका है, उनकी संख्या ही अनन्त है। इनकारणों से सम्मेदशिखर को तीर्थाधिराज की संज्ञा दी गयी है; किन्तु ऊर्जयन्तगिरि से ७२ करोड़ ७०० मुनियों की मुक्ति और तीर्थङ्कर नेमिनाथ के दीक्षा , कैवल्यज्ञान और निर्वाण कल्याणक यहाँ पर हुए है। सम्मेदशिखर को छोड़कर अन्य तीर्थङ्करों से सम्बन्धित किसी स्थान से इतने मुनियों का निर्वाण नहीं हुआ। इस दृष्टि से तीर्थों में ऊर्जयन्तगिरि का स्थान सम्मेदशिखर के बाद में आता है।

इस सिद्धक्षेत्र पर आकर दिगम्बर मुनि ध्यान, अध्ययन और तपस्या किया करते थे जैसा कि ऊपर बताया जा चुका है। यहाँ भद्रबाहु पधारे थे। धरसेनाचार्य यहाँ की चन्द्रगुफा में ध्यान किया करते थे। उन्होंने आचार्य भूतबली और पुष्पदन्त को सिद्धान्त का ज्ञान यहीं दिया था। यहाँ कुन्दकुन्द आदि अनेक दिगम्बर मुनियों ने यहाँ की यात्रा की थी। ऐसे अनेक उल्लेख प्राप्त होते है जिनसे ज्ञात होता है कि प्राचीनकाल से यहाँ दिगम्बर जैन व्यक्तिशः और यात्रा संघ के रूप में यात्रा के लिए आते रहे हैं।

●

प्राकृत-अपभ्रंश-साहित्य में नेमिनाथचरित

– श्रीमती डॉ. सरोज जैन, उदयपुर

तीर्थङ्करों में सबसे अधिक महाकाव्य शान्तिनाथ पर उपलब्ध हैं। वे चक्रवर्ती पदधारी भी थे। द्वितीय क्रम में २२वें नेमि और २३वें पार्श्वनाथ पर कई काव्य लिखे गये थे। तृतीय क्रम में आदिजिन वृषभ, अष्टम चन्द्रप्रभ और अन्तिम महावीर पर चरितकाव्य लिखे गये। वैसे भी तीर्थङ्करों और अन्य महापुरुषों पर चरित ग्रन्थ लिखे जाने के छिटफुट उल्लेख मिलते है। **नेमिनाहचरियं**— २२वें तीर्थङ्कर नेमिनाथ पर प्राकृत में तीन रचनाएं उपलब्ध हैं। प्रथम जिनेश्वरसूरि की है जो सं. ११७५ में लिखी गयी थी। दूसरी मलधारी हेमचन्द्र (हर्षपुरीय गच्छ के अभयदेव के शिष्य) की ५१०० ग्रन्थाग्रप्रमाण (१२वीं का उत्तरार्द्ध) है तथा तीसरी बृहद्गच्छ के वादिदेवसूरि के शिष्य रत्नप्रभसूरिकृत विशाल रचना है, जिसका रचना संवत् १२३३ है। यह गद्य-पद्यमय रचना ६ अध्यायों में विभक्त है। इसका ग्रन्थाग्र १३६०० प्रमाण है। **णेमिणाहचरियं**— यह द्वितीय आचार्य हरिभद्रसूरि की महत्त्वपूर्ण रचना है जिसका प्रथम भाग लालभाई दलपतभाई भारतीय संस्कृति विद्या मन्दिर, अहमदाबाद से प्रकाशित हुआ है। इसमें भगवान् अरिष्टनेमि के पूर्वभव वर्णित है। **भवभावना**— इसके रचयिता मलधारी आचार्य हेमचन्द्रसूरि हैं। उन्होंने वि.सं. १२२३ (सन् १९७०) में प्रस्तुत ग्रन्थ की रचना की है। इसमें भगवान् नेमिनाथ का चरित, कंस का वृतान्त, वसुदेव देवकी का विवाह, कृष्ण जन्म, कंस-वध आदि विविध प्रसंग है। **कण्हचरियं**— (कृष्णचरित) इस ग्रन्थ के रचयिता तपागच्छीय देवेन्द्रसूरि हैं। प्रस्तुत चरित में वसुदेव के पूर्वभव, कंसका जन्म, वसुदेव का भ्रमण, अनेक कन्याओं से पाणिग्रहण, कृष्ण का जन्म, कंस का वध, द्वारिका नगरी का निर्माण, कृष्ण की अग्रमहिषियाँ, प्रद्युम्न का जन्म, जरासंध के साथ युद्ध, नेमिनाथ और राजीमती के साथ विवाह की चर्चा आदि सभी विषय आए हैं। इनके अतिरिक्त भी अनेक रचनाएँ हैं।

अपभ्रंश के नेमिनाथचरित काव्यों की निम्नलिखित पाण्डुलिपियां ग्रन्थ-भण्डारों में प्राप्त हैं—

१. नेमिजिनवर प्रबन्ध— लावण्यसमय । पत्र सं. १७×१७×१×५। रचनाकाल, सं. १५४६। आमेर शास्त्राभण्डार, जयपुर।

२. नेमिनाथ कुमार राजीमती चरित— माणिक्यसुन्दर। अनुक्रम. ७७५०। लेखनकाल सं. १७५१। लालभाई दलपत भाई शोध संस्थान, अहमदाबाद।

३. नेमिनाथचरित— लक्ष्मणदेव। अनु. ४६३ अ. का क्रम सं. १२९६। पत्र सं. ५८। १०×११×४ ।।। । लेखनकाल सं. १५२९, श्रावणकृष्ण ११ । सरस्वती भवन नागौर।

४. नेमिनाथचरित — अमरकीर्ति। रचनाकाल सं. १२४४ । भट्टारकीय भण्डार, सोनागिरि।

५. नेमिनाथचरित — पंत्र सं. १०६ । १० ५ । अपूर्ण। वेष्टन सं. १५, दि जैनमन्दिर, दबलाना (बूंदी)।

६. नेमिनाथचरित — कवि दामोदर, सरस्वती भवन नागौर।

७. नेमिनाथचरित — लखमदेव, अ. ११, १० ४ ।।, पत्र सं. ५२, लेखनकाल सं. १५९७, अगहन।

८. नेमिनाथचरिउ — ग, अनु. ३२वां, पत्र सं. ५१, १० ४, लेखनकाल सं. १५७४, पौर्ष कृष्ण ३, सरस्वती भवन, नागौर।

९. नेमिनाथचरित — पं. लक्ष्मणदेव, अनु. ४६४ अ. क्र. १९५, पत्र सं. ६५, १९ ४.११, लेखनकाल सं. १५१९, वैशाख कृष्ण १३, रविवार, पूर्ण, सरस्वती भवन नागौर।

१०. नेमिनाथचरिउ — लक्ष्मणसेन, अन. ५३३ ब, पत्रा सं. ३८, ११ ४, पूर्ण, जीर्ण, ले. कां.सं. १४९८, सरस्वती भवन नागौर।

११. नेमिनाथचरिउ — हरिभद्रसूरि, क्रम सं. १०९४, १००२२, २९, ९ १९.५, ले. का. सं. १६५०, आचार्य विजयदेव और शान्तिसूरि संग्रह, लालभाई दलपतभाई, भारतीय संस्कृति मन्दिर शोध संस्थान, अहमदाबाद।

१२. नेमिरास — जिनप्रभ, अनु. १२ (३१), पत्र सं. १५, गुटका सं. २५, क्र.सं. ७१४, श्री दि. जैन मन्दिर, बघीचन्द जी, जयपुर।

णेमिणाहचरिउ- कवि लक्ष्मण

णेमिणाहचरिउ के कर्ता कवि लक्ष्मण हैं। ग्रन्थ में ४ सन्धियां या परिच्छेद और ८३ कड़वक हैं, जिनकी अनुमानिक श्लोक संख्या १३५० के लगभग है। ग्रन्थ में चरित और धार्मिक उपदेश की प्रधानता होते हुए वह अनेक सुन्दर स्थलों से अलंकृत है। ग्रन्थ की प्रथम सन्धि में जिन और सरस्वती के स्तवन के साथ मानव जन्म की दुर्लभता का निर्देश करते हुए सज्जन-दुर्जन का स्मरण किया और फिर कवि ने अपनी अल्पज्ञता को प्रदर्शित किया है। मगध देश और राजगृह नगर के कथा के पश्चात् राजा श्रेणिक अपनी ज्ञानपिपासा को शान्त करने के लिए गणधर से नेमिनाथ का चरित वर्णन करने के लिए कहता है। कथानक इस प्रकार है—

वराडक देश में स्थि वारावती या द्वारावती नगरी में जनार्दन नाम का राजा राज्य करता था, वहीं शौरपुर नरेश समुद्रविजय अपनी शिवादेवी के साथ रहते थे। जरासन्ध के भय से यादवगण शौरीपुर छोड़कर द्वारिका में रहने लगे। वहीं उनके तीर्थङ्कर नेमिनाथ का जन्म हुआ था। यह कृष्ण के चचेरे भाई थे। बालक का जन्मादि संस्कार इन्द्रादि देवों ने किया था। दूसरी सन्धि में नेमिनाथ की युवावस्था, वसन्त वर्णन और जलक्रीड़ा आदि के प्रसंगों का कथन दिया हुआ है। कृष्ण को नेमिनाथ के पराक्रम से ईर्ष्या होने लगती है और वह उन्हें विरक्त करना चाहते हैं। जूनागढ़ के राजा की पुत्री राजमती से नेमिनाथ का विवाह निश्चित होता है। बारात सज-धज कर जूनागढ़ के सन्निकट पहुँचती है, नेमिनाथ बहुत से राजपुत्रों के साथ रथ में बैठे हुए आस-पास की प्राकृतिक सुषमा का निरीक्षण करते हुए जा रहे थे। उस समय उनकी दृष्टि एक ओर गयी तो उन्होंने देखा बहुत से पशु एक बाड़े में बन्द हैं। वे वहाँ से निकलना चाहते हैं; किन्तु वहाँ से निकलने का कोई मार्ग नहीं है। नेमिनाथ ने सारथी से रथ रोकने को कहा और पूछा कि ये पशु यहाँ क्यों रोके गये हैं? नेमिनाथ को सारथि से यह जानकर बड़ा खेद हुआ कि बारात में आने वाले राजाओं के आतिथ्य के लिए इन पशुओं का वध किया जायगा, इससे उनके दयालु हृदय को बड़ी ठेस लगी। वे बोले — यदि मेरे विवाह के निमित्त इतने पशुओं का जीवन संकट

में है तो धिक्कार है मेरे उस विवाह को, अब मैं विवाह नहीं करूँगा। वे पशुओं को छुड़वाकर तुरन्त ही रथ से उतर कर मुकुट और कंकण को फेंक वन की ओर चल दिये। इस समाचार से बारात में कोहराम मच गया।

उधर जूनागढ़ के अन्तःपुर में जब राजकुमारी को यह ज्ञात हुआ, तो वह मूर्च्छा खाकर गिर पड़ी। बहुत से लोगों ने नेमिनाथ को लौटाने का प्रयत्न किया; किन्तु सब व्यर्थ। वे पास में स्थित ऊर्जयन्तगिरि पर चढ़ गये और सहस्राम्रवन में वस्त्रालङ्कार आदि परिधान का परित्याग कर दिगम्बर मुद्राधर आत्मध्यान में लीन हो गये। तीसरी सन्धि में वियोग का वर्णन है। राजमती ने भी तपश्चरण द्वारा आत्म-साधना की। अन्तिम सन्धि में नेमिनाथ का पूर्ण ज्ञानी हो धर्मोपदेश और निर्वाण प्राप्ति का कथन दिया हुआ है। इस तरह ग्रन्थ का चरित विभाग बड़ा ही सुन्दर तथा संक्षिप्त है और कवि ने उक्त घटना को सजीव रूप में चित्रित करने का उपक्रम किया है।

कवि ने इस ग्रन्थ को १० महीने में समाप्त किया है। ग्रन्थ की सबसे पुरानी प्रति सं. १५१० की लिखी हुई प्राप्त हुई है। इससे इसका रचनाकाल सं. १५१० के बाद का नहीं हो सकता, किन्तु कितना पूर्ववर्ती है यह अन्वेषणीय है। सम्भवत: यह कृति १२वीं या १३वीं शताब्दी की होनी चाहिए।

णेमिणाहचरिउ – कवि दामोदर

णेमिणाहचरिउ के कर्ता कवि दामोदर हैं। प्रस्तुत ग्रन्थ में पांच सन्धियाँ हैं, जिनमें २२वें तीर्थङ्कर भगवान् नेमिनाथ का चरित अंकित किया गया है, जो श्रीकृष्ण के चचेरे भाई थे। चरित आडम्बर हीन और संक्षिप्त रूप में प्रस्तुत किया है और कवि उसे बनाने में सफल भी हुआ है। इस चरित रूप काव्य की रचना में प्रेरक एक सज्जन थे जो धर्मनिष्ठ तथा दयालु थे। वे गुजरात से मालव देश के 'सलखणपुर' में आये थे। कवि ने इन्हीं पण्डित रामचन्द्र के आदेश से और नागदेव के अनुरोध से उक्त ग्रन्थ की रचना की थी। कवि ने इस ग्रन्थ को परमारवंशीय राजा देवपाल के राज्य में विक्रम संवत् १२८७ में बनाया था। जब दामोदर कवि ने संवत् १२८७ में सलखणपुर में णेमिणाहचरिउ रचा, उस समय भी देवपाल जीवित थे।

●

तीर्थङ्कर पार्श्व के कतिपय विचारणीय प्रसंग

– डॉ. जिनेन्द्र जैन, लाडनूं

तीर्थङ्कर पार्श्वनाथ भारतीय संस्कृति के एक जाज्वल्यमान नक्षत्र के रूप में आज भी जाने जाते हैं। वैदिक और श्रमण संस्कृति के रूप में प्राप्त भारतीय-परम्परा को देखने पर यह कहा जा सकता है कि वे श्रमण-संस्कृति के उन्नायक तो थे ही, वैदिक-परम्परा की यज्ञ-याग् प्रधान प्रवृत्ति को भौतिकता से आध्यात्मिकता की ओर मुखरित करने का श्रेय भी भगवान् पार्श्वनाथ को ही है। निष्कर्ष रूप में आज यह भी स्वीकारा जाता है कि उपनिषद्-साहित्य में प्राप्त विस्तृत आध्यात्मिक चर्चा को भगवान् पार्श्व की ही देन कहा जा सकता है।

भगवान् पार्श्व के जन्मकाल, नामकरण-कर्ता, आयु, वंश-कुल, माता-पिता, विवाह आदि व्यक्तित्व के कतिपय बिन्दुओं पर जैन-साहित्य में भिन्न-भिन्न उल्लेख प्राप्त होते हैं। उनकी साधना और जीवन-दर्शन सम्बन्धी मान्यताओं पर भी चिन्तन करने का एक अवसर हो सकता है; किन्तु यहाँ पार्श्व के वैयक्तिक बिन्दुओं को जैन आगम व अन्य जैन-साहित्य के सन्दर्भ में खोजने का एक लघु प्रयास किया गया है।

जैन आगमों में भगवान् पार्श्व के जन्म से लेकर निर्वाण तक की अनेक घटनाओं का विवेचन किया गया है। स्थानांग, समवायांग और कल्पसूत्र, उत्तराध्ययनसूत्र, आवश्यकनिर्युक्ति सहित चउप्पनमहापुरिसचरियं, त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित, उत्तरपुराण, पद्मपुराण, महापुराण,तिलोयपण्णति, सिरिपासणाहचरियं, श्रीपार्श्वनाथचरितं, पासणाहचरिउ प्रभृति अनेक ग्रन्थों में पार्श्व का विवेचन किया गया है।

पार्श्व का विवेचन करने वाले सभी ग्रन्थ उनकी जन्मस्थली वाराणसी होने का उल्लेख करते हैं। यह भारत की १० प्रमुख राजधानियों में से एक थी। भगवान् पार्श्व की आयु १०० वर्ष थी, ऐसा उल्लेख सभी ग्रन्थों में एक जैसा ही प्राप्त होता है; किन्तु नेमिनाथ के (८४६५० वर्ष/८३७० वर्ष) बाद पार्श्व के जन्म के कालमान में ९०० वर्षों का अन्तर प्राप्त होता है तथा जन्मतिथि का भी अलग-अलग ग्रन्थों में भिन्न-भिन्न उल्लेख मिलना, निश्चित ही अनुसन्धान को जन्म देता है। भगवान् पार्श्व के नामकरण-कर्ता तथा अन्य वैयक्तिक जीवन-प्रसंगों यथा-- आयु, वंश-कुल, माता-पिता, विवाह आदि के विवेचन में भिन्नता मिलती है, जिसकी विस्तृत मीमांसा किया जाना इस शोधपत्र का मुख्य उद्देश्य है।

●

तीर्थङ्कर पार्श्वनाथ से सम्बन्धित प्रमुख दिगम्बर जैन तीर्थों और मन्दिरों का वैशिष्ट्य

– पं. लालचन्द्र जैन "राकेश", गंजबासौदा

(१) तीर्थङ्कर पार्श्वनाथ

भारतवर्ष के धर्मनिष्ठ समाज में जिन महान् विभूतियों का चिरस्थायी प्रभाव है, उनमें जैनधर्म के तेइसवें तीर्थङ्कर भगवान् पार्श्वनाथ अन्यतम हैं। ..... पार्श्वनाथ वाराणसी के राजा अश्वसेन के पुत्र थे। उनकी माता का नाम वामा देवी था। उन्होंने ३० वर्ष की आयु में गृह त्याग कर दैगम्बरी दीक्षा धारण की थी तथा १०० वर्ष की आयु में सम्मेदशिखर से निर्वाण प्राप्त किया था।[१]

भगवान् पार्श्वनाथ समता, क्षमता, क्षमा, सहिष्णुता एवं धैर्य की साक्षात् मूर्ति थे। उन्होंने कमठ द्वारा अनेक भवों तक अकारण, एकपक्षीय बैर की घोरातिघोर उपसर्ग रूप क्रिया की कोई प्रतिक्रिया नहीं की अपितु उसे अत्यन्त शान्त भाव से सहन करते रहे।

भ. पार्श्वनाथ तीर्थङ्कर थे। जो जीव सर्वजनहिताय, सर्वजन सुखाय की पवित्र भावना से आपूरित जब दर्शन विशुद्धि आदि सोलहकारण भावनाओं को भाता है तब तीर्थङ्कर प्रकृति में विशिष्ट पुण्य का संचय कर उक्त पद प्राप्त करता है। कालचक्र के परिणमन में एक कल्पकाल में, अवसर्पिणी और उत्सर्पिणी काल में २४-२४ तीर्थङ्कर होते है। भ. पार्श्वनाथ वर्तमान अवसर्पिणी काल के चौबीस तीर्थङ्करों में से तेईसवें तीर्थङ्कर हैं।

(२) तीर्थों का उदय

तीर्थ यानी धाट। जिसे पाकर संसार समुद्र से तरा जाय वह तीर्थ है। जैनशास्त्रों में तीर्थ शब्द का प्रयोग अनेक अर्थों में किया गया है। हमें यहाँ मोक्ष के उपायभूत रत्नत्रय धर्म को तीर्थ कहते हैं, यह अर्थ अभिप्रेत है। तीर्थं करोति इति तीर्थंकरः, इस तरह धर्म तीर्थ के जो कर्ता अर्थात् प्रवर्तक होते हैं वे तीर्थङ्कर कहलाते हैं। जिन स्थानों पर इन तीर्थङ्करों के गर्भ-जन्म-तप-ज्ञान एवं निर्वाण कल्याणक में से कोई एक या अधिक कल्याणक हुए हैं वे स्थान उनके संसर्ग से वैसे पवित्र हो जाते है जैसे रस या पारस के स्पर्शमात्र से लोहा सोना बन जाता है।

ये महापुरुष संसार के प्राणियों के अकारण बन्धु हैं, उपकारक हैं। अतः उन्हें मोक्षमार्ग का नेता माना जाता है। उनके प्रति कृतज्ञता प्रकट करने एवं घटित घटना की स्मृति बनाये रखने के लिए उस भूमि पर उन महापुरुषों का स्मारक बना देते हैं, ये स्थान तीर्थक्षेत्र की संज्ञा को प्राप्त कर लेते है—

होती जहाँ पुण्य की वर्षा, बहती शांति सुधारा है।
जहाँ लगा सुध्यान आत्मा, पाती मुक्ति किनारा है।।
अतिशयता अवलोकन जहाँ की, मन विस्मित रह जाता है।
हो जाती भू पूज्य वहाँ की, तीर्थ नया बन जाता है।। – *पं. लालचन्द्र जैन 'राकेश'*

तीर्थ हमारी संस्कृति के प्रतीक हैं। तीर्थ हमारी संस्कृति के कोषागार हैं। ये हमारे पूर्वजों की हमारे लिए सौंपी गयी धरोहर हैं, हमारे लिए छोड़े गये आशीर्वाद हैं। तीर्थ हमारे अतीत के दर्पण, वर्तमान के प्रकाशस्तम्भ एवं भविष्य के लिए आदर्श मार्गदर्शक हैं।

ये वे स्थान हैं जो तीर्थङ्कर भगवन्तों, ऋद्धिधारी मुनियों एवं तपस्वियों के शुभ परमाणुओं से पावन हैं। ये स्थान एक ओर तो प्राकृतिक सौन्दर्य से परिपूर्ण हैं तो दूसरी ओर परमाणुओं की पावनता के कारण श्रद्धालुओं को राग, द्वेष, लोभ, मोह आदि विकारी परिणति से मुक्त कराके उन्हें संसार शरीर एवं भोगों से उदासीन होने का पाठ पढ़ाते हैं।

जब हम सांसारिक आकर्षणों के भँवरजाल में फँसे, कोल्हू के बैल की तरह सतत् भौतिक लालसाओं की पूर्ति में संलग्न रहते हैं एवं सांसारिक उतार-चढ़ाव से श्रान्त हो जाते हैं तब ये तीर्थक्षेत्र ही हमें सुख, शान्ति प्रदायक शरणस्थल सिद्ध होते हैं।

तीर्थक्षेत्रों पर हमें प्राकृतिक सौन्दर्य के दर्शन, स्वास्थ्य लाभ, आत्मिक शान्ति, सन्त समागम, ज्ञानार्जन, अक्षय पुण्य प्राप्ति, पवित्र विचार एवं इहलोक एवं परलोक में कल्याण की भावना प्राप्त होती है। ऐसे तीर्थक्षेत्रों की संख्या हजारों में है जो देश के कोने-कोने में विद्यमान हैं।

इन तीर्थों में से जिन स्थानों पर तीर्थङ्कर पार्श्वनाथ के कल्याणक हुए, या उनका विहार हुआ, ऐसे प्रमुख दिगम्बर जैन तीर्थ इस आलेख के विषय है।

(३) मन्दिरों का निर्माण

देवालय साधना और अर्चना के स्थान होते हैं। वहाँ जाकर मनुष्य को आत्मिक शान्ति और सन्तोष का अनुभव होता है। साहित्यिक साक्ष्य के आधार पर कहा जा सकता है कि कर्मभूमि के प्रारम्भिक काल से जिनायतनों का निर्माण होता रहा है। आदिपुराण के अनुसार इन्द्र ने जब अयोध्या की रचना की तो उसने सर्वप्रथम पांच जिनालयों की रचना की अर्थात् चारों दिशाओं में एक-एक तथा एक नगर के मध्य में। इसके बाद भरत चक्रवर्ती द्वारा ७२ जिनालयों के निर्माण का उल्लेख मिलता है। इसके बाद अनेक व्यक्तियों द्वारा जैन मन्दिरों का निर्माण कराने के उल्लेख पुराणों में स्थान-स्थान पर मिलते हैं।[२]

भक्त, भगवान्, भक्ति और देवालय इन चारों का अभिनाभावी सम्बन्ध है। अत: जब से भक्ति है तभी से मूर्तियाँ है और जब से मूर्तियाँ हैं तभी से मन्दिर हैं। स्तूप, गुफा, चैत्य, विहार, मन्दिर, मानस्तम्भ, भौंयरे सभी देवालयों के ही प्रकार हैं। नन्दीश्वर जिनालय और सहस्रकूट जिनालय भी जिनालय शिल्प की एक विधा हैं।

हमारा जीवन एक मन्दिर की तरह है। आत्मा की वीतराग अवस्था ही देवत्व है। हम सभी में वह देवत्व विद्यमान है। इस देवत्व को पहचान कर उसे अपने भीतर प्रकट करने के लिए हमने बाहर मन्दिर बनवाये हैं और उनमें अपने आदंर्श वीतराग अर्हन्त और सिद्ध परमात्मा को स्थापित किया है।

प्रस्तुत आलेख में तीर्थङ्कर पार्श्वनाथ से सम्बन्धित देश के प्रमुख तीर्थों, मन्दिरों, उनकी पञ्चकल्याणक भूमियों एवं तीर्थों का विस्तृत परिचय प्रस्तुत किया गया है। इनमें प्रमुख हैं— वाराणसी, सम्मेदशिखर, अहिच्छत्र, बिजौलिया, रेशंदीगिरि आदि।

तीर्थङ्कर पुष्पदन्त और उनकी पञ्चकल्याणक तीर्थभूमियाँ

– डॉ० कमलेशकुमार जैन, जयपुर

आचार्य समन्तभद्र ने 'जिन' की स्तुति करते हुए उन्हें धर्म-तीर्थ का प्रवर्तक कहा है। तीर्थङ्कर शब्द निर्ग्रन्थ (जैन) परम्परा में रूढ़ हो गया है, वस्तुत: यह शब्द है यौगिक ही, क्योंकि व्यक्ति धर्मरूपी तीर्थ का प्रवर्तक होने के कारण ही तीर्थङ्कर कहा जाता है।

नवम तीर्थङ्कर पुष्पदन्त भरतक्षेत्र में उत्पन्न चौबीस तीर्थङ्करों में से एक हैं। तीर्थङ्कर पुष्पदन्त का एक अन्य नाम सुविधि या सुविधिनाथ भी है।

तीर्थङ्कर पुष्पदन्त का चिह्न मगर है। इस चिह्न या लांछन के द्वारा ही उनकी पहचान होती है।

वर्तमान अन्य तीर्थङ्करों की भाँति तीर्थङ्कर पुष्पदन्त का जीवनचरित भी महिमामण्डित है। जहाँ उनके घर परिवार व राज्य की जानकारी मिलती है, वहाँ उनके एक विशाल संघ समुदाय का भी विवरण पाया जाता है। उनके पञ्चकल्याणक स्थलों (तीर्थों) की भी विस्तृत जानकारी मिलती है। यह विवरण दिगम्बर और श्वेताम्बर-परम्परा के आगम-आगमिक तथा अन्यान्य ग्रन्थों में पाया जाता है। उनका जन्म मगसिर शुक्ला एकम को काकंदी में एवंनिर्वाण भाद्रपद शुक्ल अष्टमी को तीर्थराज सम्मेदशिखर जी से हुआ था।

प्रस्तुत मूल विस्तृत लेख में तीर्थङ्कर पुष्पदन्त के व्यक्तित्व (जीवनचरित) एवं उनके पञ्चकल्याणक तीर्थों का परिचय रेखांकित किया गया है।

तीर्थङ्कर महावीर तथा उनकी पञ्चकल्याणक भूमियाँ

– डॉ. सुरेन्द्रकुमार जैन, बुरहानपुर

जैनधर्म के २४वें तीर्थङ्कर भगवान् महावीर स्वामी त्याग, तपस्या एवं अहिंसा के कारण सम्पूर्ण विश्व में अद्वितीय व्यक्तित्व के साथ जन-जन में आदर्श हैं। संसार में उनका व्यक्तित्व अहिंसा और अपरिग्रह के कारण पूज्य एवं प्रतिष्ठा को प्राप्त है। वे मानो अहिंसा और अपरिग्रह के पर्याय के रूप में संसार में प्रतिष्ठित हैं। कौन ऐसा है कि जो उनके गुणों की अनदेखी कर सके? वे सच्चे अर्थों में विजेता है, क्योंकि उन्होंने किसी और को नहीं जीता बल्कि स्वयं को जीता। वे स्वयंबुद्ध थे और उन्होंने सम्यक् बोधि के लिए १२ वर्ष पर्यन्त तप करके बताया कि हे संसारियो! देखो, बिना प्रयत्न के संसार में कुछ नहीं मिलता और जो पुरुषार्थपूर्वक मिलता है वह केवलज्ञान संसार में अनुपम है, मुक्ति का दाता है। वे निर्भय थे, अभयदाता थे। रागद्वेष से परे। शरीर में रहते हुए भी आत्म अनुरागी, आत्म-चारित्र रूप सम्यक् चारित्र के धनी। निज और पर की आशा से रहित सतत आत्मवैभव को देखते, जानते और उसी रूप प्रवृत्ति करने वाले। वे आत्म में चलते हुए आत्मा को ही जीत गये; ऐसे अनुपम व्यक्तित्व सम्पन्न थे भगवान् महावीर। तीर्थङ्कर महावीर के व्यक्तित्व को आचार्य कुन्दकुन्द ने 'प्रवचनसार' में कहा है कि—

एस सुरासुर-मणुसिंद-वंदिदं, धोद घादि-कम्म-मलं।
पणमामि वड्ढमाणं, तित्थं धम्मस्स कत्तारं।।१/१।।

अर्थात् घातिया कर्म-रहित, देव-असुर-चक्रवर्तियों द्वारा वन्दित, धर्म-तीर्थ के कर्ता वर्धमान (महावीर) को प्रणाम करता हूँ।

मानव समाज में हिंसा के लिए कोई स्थान नहीं है, क्योंकि वह विवेकी है। वह स्वयं को, मन को, तन को साध सकता है। उसकी साधना सिद्धि के लिए है, स्व-पर कल्याण के लिए है। भगवान् महावीर ने विचार किया और स्वयं की अहिंसा भावना/चारित्र को औरों में पहुँचाने के लिए प्रेरक उपदेश दिया। बिना बोले हुए भी उनका विहार उनके अहिंसक व्यक्तित्व की (गारण्टी) था वे जहाँ से विचरे लोग अहिंसक, निर्वेर, करुणावान् और अभय होते गये। भगवान् महावीर ने जैसा व्यक्तित्व बनाया वैसा हम आप भी बना सकते हैं; लेकिन शर्त यही है कि "सत्त्वेषु मैत्री, गुणिषु प्रमोदं, क्लिष्टेषु जीवेषु कृपापरत्वं, माध्यस्थ भावं विपरीत वृत्तौ" अर्थात् प्राणियों में मित्रता, गुणीजनों के प्रति प्रमोद भाव, कष्ट से घिरे हुए जीवों के प्रति कृपा का भाव और विपरीत वृत्ति वालों के प्रति माध्यस्थ भाव अपनायें। तीर्थङ्कर महावीर की विशेषता उनके सर्वोदय सिद्धान्त में निहित है। वे व्यक्त्योदय, वर्गोदय, समाजोदय के पक्षधर नहीं थे, वे तो सर्वोदय के पक्षधर थे।

तीर्थङ्कर महावीर जन्म से भी महान् थे और कर्म से भी। जन्म से महान् कोई-कोई होता है जैसे तीर्थङ्कर बलभद्र आदि; लेकिन कर्म से महान् सभी बन सकते हैं। जब यह जीव सब में अपने जैसी आत्मा देख लेता है तो न कु-मरण करता है और न किसी को मारता है। भेद तन का हो सकता है,मत का भी हो सकता है लेकिन

मन का नहीं होना चाहिए। यही तो अनेकान्त है; फिर रंग, जाति, कुल, देश का भेद- भ्रम अपनाकर हिंसा का मार्ग क्यों चुनते हो? वस्तु जैसी है वैसी मानो। यही दर्शन है, यही धर्म है-- 'वत्थु सहावो धम्मो।''

भगवान् महावीर का व्यक्तित्व और कृतित्व आज भी समस्त सृष्टि के लिए प्रेरक है। यही कारण है कि संयुक्त राष्ट्रसंघ जैसा सम्पूर्ण देशों का प्रतिनिधि संघ अहिंसा, शान्ति, सह-अस्तित्व और सर्वोदय के लिए कार्य कर रहा है। भारत की स्वतन्त्रता के पश्चात् हमारे देश के संविधान निर्माताओं ने उन्हें राष्ट्रीय नायक के रूप में भारतीय संविधान की मूल प्रति में बंगाल के एक चित्रकार द्वारा निर्मित निर्ग्रन्थ मुद्रायुक्त भगवान् महावीर का चित्र संयोजित किया गया है ताकि सम्पूर्ण देशवासी उनके प्रति श्रद्धान्वित होकर उनके बताये अहिंसा के रास्ते पर चल सकें। आज सम्पूर्ण विश्व का आदर्श महावीर और उनके विचार है, क्योंकि बिना अहिंसा, अपरिग्रह और अनेकान्त के आदर्श समाज का निर्माण सम्भव नहीं है।

ऐसे महिमामय, अनुपम व्यक्तित्व के धनी तीर्थङ्कर महावीर के पञ्चकल्याणक सम्पन्न हुए। उनका शास्त्रानुसार वर्णन इस प्रकार है—

१. गर्भ कल्याणक– तीर्थङ्कर भगवान् महावीर का जीव पुष्पोत्तर विमान (तिलोय, ४/५३१) से चलकर कुण्डपुर (वैशाली) नृपति सिद्धार्थ के राजमहल में रानी प्रियकारिणी (त्रिशला) के गर्भ में आया। यह तिथि आषाढ़ शुक्ल षष्ठी थी।

महाराजा सिद्धार्थ के नगर कुण्डग्राम या कुण्डलपुर की स्थिति के विषय में डॉ. महेन्द्रकुमार जी न्यायाचार्य ने लिखा है कि— ''वैशाली के पश्चिम में गण्डकी नदी है। उसके पश्चिम तट पर ब्राह्मण कुण्डलपुर, क्षत्रिय कुण्डलपुर, करमार ग्राम और कोल्लाग सन्निवेश जैसे अनेक उपनगर या शाखा ग्राम थे। भगवान् महावीर का जन्म-स्थान वैशाली माना जाता है, क्योंकि कुण्डग्राम वैशाली का ही उपनगर था'' (जैनदर्शन : पृ. ५)। आज भी वैशाली स्थित वासोकुण्ड की पहचान भगवान् महावीर की गर्भ/जन्म-भूमि के रूप में की गयी है जिसे वहाँ के स्थानीय जन अहल्ल भूमि के रूप में सदियों से पूजते आ रहे हैं।

२. जन्म कल्याणक– तिलोयपण्णत्ति में यतिवृषभ आचार्य के द्वारा लिखित तीर्थङ्करों के जन्म विवरण के अनुसार वीर जिनेन्द्र कुण्डलपुर में पिता सिद्धार्थ और माता प्रियकारिणी (त्रिशला) से चैत्र शुक्ला त्रयोदशी को उत्तर फाल्गुनी नक्षत्र में उत्पन्न हुए। ईस्वी संवत् के अनुसार यह तिथि दि. २७ मार्च, ईसा पूर्व ५९८ मान्य की गयी है। वे नाथवंश में उत्पन्न हुए थे (तिलोयपण्णत्ति, ४/५५७)। उनके शरीर की ऊँचाई सात हाथ प्रमाण थी (तिलोयपण्णत्ति, ४/५९४)। वे स्वर्ण सदृश पीत वर्ण के थे (तिलोयपण्णत्ति, ४/५८९), उनका चिह्न सिंह था (तिलोय., ४/६१२)।

तीर्थङ्कर भगवान् महावीर के गर्भ और जन्म कल्याणक का स्थान जैन-अजैन शास्त्रों एवं जनश्रुतियों के आधार पर विदेह देशस्थ कुण्डपुर माना जाता है, जिसकी पहचान वर्तमान में भारत देश के बिहार प्रदेशान्तर्गत मुजफ्फरपुर से २२ मील दूर बसाढ़ गाँव में कुण्डपुर 'वासोकुण्ड' के रूप में की गयी है। यह विहार में गंगा नदी के उत्तरवर्ती क्षेत्र में स्थित है। वैशाली से सम्बद्ध होने के कारण ही कहा गया कि—

विशाला जननी यस्य विशालं कुलमेव च।
विशालं वचनं चास्य तेन वैशालिको जिनः।।

— (सूत्रकृतांग-शीलाङ्काचार्य टीका, २/३)

अर्थात् जिनकी माता विशाला है (त्रिशला) है, जिनका कुल विशाल है, जिनके वचन विशाल हैं, इससे 'वैशालिक' नामक जिन (महावीर) हुए। उन्होंने विवाह नहीं किया था। उनका कुमार काल ३० वर्ष था।

३. तप कल्याणक : तिलोयपण्णत्ति (४/६७४) के अनुसार—

मग्गसिर-बहुल-दसमी-अवरण्हे उत्तरासु णाथ-वणे।
तदिय - खमणम्मि गहिदं, महव्वदं वड्ढमाणेण।।

अर्थात् वर्धमान भगवान् ने मगसिर (मार्गशीर्ष) कृष्णा दशमी के अपराह्न में उत्तरा फाल्गुनी नक्षत्र के रहते नाथवन में तृतीय उपवास के साथ महाव्रत ग्रहण किये। ईस्वी सन् के अनुसार यह तिथि दि. २९ नवम्बर ई. पूर्व ५६९ सिद्ध होती है। उनका छद्मस्थ काल बारह वर्ष प्रमाण रहा (तिलोयपण्णत्ति, ४/६८५)।

४. केवलज्ञान कल्याणक : तीर्थङ्कर महावीर को वैशाख शुक्ल दशमी अपराह्न में हस्त नक्षत्र के रहते (जृम्भक गाँव के) ऋजुकूला नदी के तट पर केवल ज्ञान की उत्पत्ति हुई। केवल ज्ञान-प्राप्ति स्थल जृम्भिक गाँव की पहचान वर्तमान बिहार के मुंगेर से दक्षिण की ओर जमुई गाँव के रूप में की गयी है। यहाँ बहने वाली क्विल नदी को ऋजुकूला नदी का अपभ्रंश नाम माना गया है (तीर्थङ्कर महावीर और उनकी आचार्य-परम्परा, पृ. १/१७९)।

भगवान् महावीर के प्रथम गणधर गौतम बने। 'तिलोयपण्णत्ति' के अनुसार तीर्थङ्कर भगवान् महावीर की श्रावणमास के कृष्णपक्ष की प्रतिपदा के दिन प्रथम देशना प्रसवित् हुई।

जिस विपुलाचल पर्वत पर केवल ज्ञानी भगवान् महावीर की प्रथम दिव्य देशना हुई वह राजगृह के निकट नैऋत्य दिशा में स्थित है। वर्तमान में यह स्थान बिहार राज्य की राजधानी पटना से १०२ किलोमीटर दक्षिण-पूर्व में नालन्दा जिले में स्थित है।

५. निर्वाण कल्याणक : तीर्थङ्कर भगवान् महावीर का निर्वाण कल्याणक कार्तिक कृष्ण अमावस्या के दिन 'पावा' से होना माना जाता है। वर्तमान में बिहार प्रान्त की राजधानी पटना जिलान्तर्गत पावापुरी स्थित है।

इस तरह तीर्थङ्कर महावीर के पाँचों कल्याणकों के विषय में संक्षिप्त वर्णन यहाँ किया गया। भगवान् महावीर का लोकव्यापी प्रभाव एवं महत्त्व जो आज भी है। उनके पञ्चकल्याणकों की पुण्य भूमियाँ आज भी उनके दर्शन-वन्दन-पूजन करने वालों की मनोकामनाओं को पूर्ण करने में समर्थ है।

●

ब्राह्मी लिपि : उद्‌भव और विकास

-डॉ. (श्रीमती) मुन्नी पुष्पा जैन, वाराणसी

हमारे लिए यह गौरव और गर्व की बात है हमारे प्रथम तीर्थङ्कर ऋषभदेव ऐसे अद्वितीय महापुरुष हुए, जिनके पिता नाभिराज के नाम पर अपने देश का सर्वप्राचीन नाम 'अजनाभवर्ष' था और जिनके ज्येष्ठ पुत्र भरत चक्रवर्ती के नाम पर आज अपने देश का नाम 'भारतवर्ष' है। साथ ही उनके द्वारा अपनी बड़ी पुत्री ब्राह्मी को सिखायी गयी अक्षर विद्या से उस अक्षर लिपि का नाम 'ब्राह्मी लिपि' प्रसिद्ध हुआ और दूसरी पुत्री सुन्दरी को अंकविद्या सिखाकर गणित का सूत्रपात हुआ। राजा ऋषभ के रूपमें जिन्होंने एक नहीं अनेक विधियों से १. असि = युद्धकला, २. मसि = लेखनकला, ३. कृषि = खेती, ४. विद्या = शिक्षा, ५. वाणिज्य = व्यापार और ६. शिल्प = कलायें— इन छह विद्याओं के प्रवर्तन से मानवीय जीवन को पूर्णता प्रदान कर नये युग का सृजन किया।

भारतीय संस्कृति के अध्येता सूर्यकान्त वालीजी ने अपनी पुस्तक 'भारतगाथा' (पृ. ३२) में लिखा भी है कि— जो लोग भारत में लेखन कला को बहुत बाद में शुरु हुआ मानते हैं उनके लिए निवेदन यह है कि वे कृपया ऋषभदेव की पुत्री ब्राह्मी के बारे में परिचय प्राप्त करें जिनके माध्यम से पिता ऋषभदेव ने लेखनकला का इस देश में इतने पुराने समय में प्रवर्तन कर डाला था। यूँ ही नहीं भारत की प्राचीनतम लिपि को **ब्राह्मी लिपि** कहा जाता।

इस प्रकार संसार को सब कुछ देकर संसार से ऊपर उठकर आध्यात्मिक ऊँचाई प्राप्त करने वाले, ऐसे महान् दार्शनिक राजा ऋषभ ने संयम साधनापूर्वक तीर्थङ्कर जैसे अमर पद को प्राप्त कर सदा के लिए अमर हो गये। भारत उनका सदा ऋणी रहेगा।

भगवान् ऋषभदेव द्वारा सृजित यही ब्राह्मी लिपि भारत की प्राचीनतम लिपि है। भारत की अधिकांश प्राचीन और आधुनिक लिपियों का विकास इसी लिपि से हुआ है, अत: ब्राह्मी लिपि को अनेक लिपियों की जननी कहा गया है। आदिकाल से ब्राह्मी लिपि मूल भारतीय लिपि के रूप में प्रतिष्ठित रही और आज भी विभिन्न रूपों में पूरे भारत में विस्तरित है। यह भारतीय संस्कृति की उत्कृष्ट पहिचान है; किन्तु आश्चर्य है कि हम भारतीय अपनी इस महत्त्वपूर्ण मूल लिपि को लगभग दो शताब्दी पूर्व तक पूरी तरह भूल चुके थे। कुछ पाश्चात्य और कुछ भारतीय विद्वानों के हम ऋणी हैं कि बड़े परिश्रम से उन्होंने इस भूली-बिसरी अपनी इस लिपि को पढ़ने में क्रमश: सफल हुए और इस लिपि में उल्लिखित सैकड़ों शिलालेखों को पढ़कर हम अपने भारत की विशाल और प्राचीन गौरवशाली सांस्कृतिक विरासत को समझने में सक्षम बन सके। इस सबके बावजूद अभी भी इस लिपि के विशेषज्ञ विद्वान् बहुत कम हैं। अत: हमें समय रहते इसका पूर्ण परिज्ञान कर लेना आवश्यक है। जन-जन में इसका इतना प्रचार-प्रसार हो कि प्रत्येक व्यक्ति इसमें अपने विचार अपनी वर्तमान नागरी लिपि की तरह लिखने पढ़ने में सक्षम बन सकें, यही मेरी भावना है। इसी भावना से प्रेरित होकर देश के श्रेष्ठ विद्वानों से प्रसिद्ध शोध संस्थानों द्वारा आयोजित कार्यशालाओं में अनेक वर्षों तक इस विस्मृत ब्राह्मी लिपि का प्रारम्भिक ज्ञान प्राप्त करने का मुझे सौभाग्य मिला है और मैंने इसके व्यापक प्रसार हेतु प्रशिक्षण शिविरों का भी आयोजन किया है।

फिर भी मैं अभी भी अपने को इस लिपि की छात्रा ही मानती हूँ।

वस्तुत: हमारा जो भी गौरवपूर्ण इतिहास अभिलेखों एवं शिलालेखों के माध्यम से अब तक सुरक्षित रह पाया है, वह अधिकांश इसी ब्राह्मी लिपि में लिखा गया है। सम्राट् अशोक के शताधिक शिलालेख एवं जैन सम्राट् खारवेल का हाथीगुम्फा (उदयगिरि- खण्डगिरि) शिलालेख इस ब्राह्मी लिपि के प्राचीन प्रमुख उदाहरण हैं। यह पहले ही कहा गया है कि प्रथम तीर्थङ्कर ऋषभदेव ने अपनी दो पुत्रियों में से प्रथम ब्राह्मी नामक पुत्री को अपने दायीं ओर बैठाकर लिपिविद्या और सुन्दरी नामक पुत्री को बायीं ओर बैठाकर अंक विद्याएं सिखायी थीं। इस तरह लिपि विद्या की प्रथम छात्रा के रूप में भगवान् ऋषभदेव ने सर्वप्रथम जिसे लिपि लिखना-पढ़ना सिखाया था, उस ब्राह्मी कन्या के नाम पर ही इस लिपि का नाम ब्राह्मीलिपि प्रचलित हुआ।

आदिनाथचरित (३/१४) में लिखा है—

अक्षराणि विभु ब्राह्मया अकारादीन्यवोचत्।
वामहस्तेन सुन्दर्य्या गणितं चाप्यदर्शयेत्।।

इस लिपि का ज्ञान भगवान् ऋषभदेव जब एक प्रथम राजा के रूप में राजशासन का सञ्चालन कर रहे थे तब उन्होंने पूर्वोक्त षट्कर्मों का सर्वप्रथम प्रवर्तन करते हुए संसार में अज्ञान को दूर करने वाली और जगत का कल्याण करने वाली ज्योति के रूप में इस ब्राह्मी लिपि का परिज्ञान करवाया। उनके द्वारा करवाये गये ज्ञान से उनकी यह ब्राह्मी कन्या लेखन विज्ञान में इतनी पारङ्गत हो गयी और उन्होंने इसे इतना आत्मसात कर लिया कि उस लिपि का नाम ही ब्राह्मी लिपि प्रसिद्ध हो गया। अभिधान राजेन्द्र कोष में लिखा है कि—

लेखो लिपिविधानं तद्दक्षिणहस्तेन जिनेन ब्राह्मया दर्शितम् इति।
तस्माद ब्राह्मी नाम्नी सा लिपि।

'पण्णवणासुत्त' (प्रज्ञापनासूत्र) नामक प्राकृत आगम ग्रन्थ में उल्लिखित अट्ठारह प्रकार की लिपियों में सर्वप्रथम 'बंभी' लिपि का नाम है। बौद्ध-ग्रन्थ 'ललितविस्तर' में भी ६४ प्रकार की लिपियों के नाम दिये गये हैं जिनमें प्रथम नाम ब्राह्मी का ही है। इतना ही नहीं जैन आगम भगवतीसूत्र में 'नमो बंभीए लिविए' कहकर ब्राह्मी लिपि को नमस्कार करके उसके प्रति पूर्ण श्रद्धा व्यक्त की गयी है। इस तरह आधुनिक देवनागरी लिपि का मूलस्रोत प्राचीन राष्ट्रीय लिपि ब्राह्मी से सम्बद्ध है और उसके विकास, स्वरूप की एक सुनिश्चित परम्परा है।

प्राप्त साक्ष्यों, ग्रन्थों, लेखों, शिलालेखों आदि के आधार पर यही निष्कर्ष निकलता है कि भारत की प्राय: समस्त प्राचीन, मध्यकालीन और आधुनिक लिपियों का उद्गम 'ब्राह्मी' ही है। उत्तरी शैली और दक्षिणी शैली के अनुसार ब्राह्मी लिपि से ही अन्यान्य लिपियों का विकास हुआ। ब्राह्मी लिपि के अक्षरों का विकास होते-होते आज की देवनागरी, गुजराती, बंगला, आसामी, उड़िया, मैथिली, तेलगु, तमिल, मलयालय आदि लिपियों की उत्पत्ति हुई। यही नहीं तिब्बती, नेवारी, सिंहली, बर्मी तथा दक्षिण-पूर्व एशिया की सभी लिपियां इसी से निकली हैं। ३५० ई. के बाद से इसकी उत्तरी और दक्षिणी दो शैलियाँ हो गयी जिससे दोनों की विभिन्न शाखाओं से उत्तरी और दक्षिण भारत की लिपियों का विकास हुआ। ब्राह्मी से निकली लिपियों के विकास की एक सुनिश्चित परम्परा रही है।

ब्राह्मी लिपि सहज और सरल लिपि है। इसे दूसरी लिपियों की अपेक्षा कम समय में सीखा जा सकता

है तथा निरन्तर अभ्यास करने से इसकी सहायता से अन्य लिपियों को समझने में सरलता रहती है। प्रसिद्ध विद्वान् राहुल सांकृत्यायन ने भी कहा है– यदि कोई एक ब्राह्मी लिपि को अच्छ तरह सीख जाए तो वह अन्य लिपियों को थोड़े ही परिश्रम से सीख सकता है। साधारण ज्यामीतिक (रेखा गणित) चिन्हों– रेखा, कोण, वृत्त, अर्धवृत्त, आड़ी तिरछी तथा पड़ी रेखाओं आदि विभिन्न संयोगों से ब्राह्मी का निर्माण हुआ है। मात्राओं का प्रयोग एवं संयुक्ताक्षर इसकी प्रमुख उल्लेखनीय विशेषताएँ हैं। इसमें प्रमुख ६, स्वर ३३ व्यञ्जन अर्थात् ३९ अक्षर प्राप्त होते हैं।

ब्राह्मी को सीख लेने से हस्तलिखित प्राचीन पाण्डुलिपियों को पढ़ने-समझने में बहुत सहायता मिलती है। प्राचीन पाण्डुलिपियों में अनेक अक्षर ब्राह्मी अक्षरों से मिलते-जुलते पाये जाते है तथा देवनागरी में कोई-कोई अक्षर ज्यों का त्यों ब्राह्मी का ही जैसे 'ढ'। कहावत भी है किसी भी व्यक्ति के स्वभाव में कुछ भी परिवर्तन न होने पर उसे कहा जाता है– "आप तो ढ के ढ ही रहे"

सन् १८३३ में मि. प्रिन्सेप जैसे विद्वान् ने अनेक वर्षों तक कड़े परिश्रम, लगन से इस लिपि को पढ़ने में सफलता प्राप्त की। इनके पहले भी प्रयत्न हुए परन्तु इस लिपि की भाषा संस्कृत भाषा समझ लेने और इसे ही आधार मानकर इस लिपि को पढ़ने में असफल रहे। वस्तुत: प्राकृत भाषा इन शिलालेखों की भाषा है— यह निश्चित होने पर ही इस लिपि को पढ़ा जा सका। आरम्भ में 'द' और 'न' अक्षर (दान) पढ़ लेने के बाद से इस लिपि को समझ लेने का उद्घाटन हुआ। इसके बाद लम्बे समय के क्रमश: अभ्यास के बाद इसके सभी अक्षर और यह लिपि पूरी तरह पढ़ने में विद्वान् सक्षम बन सके।

प्राचीन भारतीय शासकों के सबसे प्राक्कालीन पुरालेखीय विवरण प्राकृत-भाषा में मिलते हैं। मूलत: सारे भारत की पुरालेखीय भाषा प्राकृत थी, जो शिलालेखीय प्राकृत के नाम से जानी जाती है। अशोक के पूर्व अधिकांश अभिलेख जनभाषा प्राकृत में लिखे हुए मिलते हैं। भारत का प्रथम भाषाविज्ञान का सर्वे अशोक के अभिलेखों से हुआ। स्थान विशेष से भाषा में कथञ्चित अन्तर हैं इसे वैभाषिक प्रवृत्ति कहा जाता है। उदाहरण के रूप में पश्चिमोत्तर में पैशाची प्राकृत, पूर्व में मागधी प्राकृत, दक्षिण-पश्चिम में शौरसेनी और मागधी की मिश्रित प्रवृत्ति पायी जाती हैं। अर्थात् इन प्राचीन शिलालेखों की भाषा 'प्राकृत' और लिपि 'ब्राह्मी' है। कालान्तर के बाद यह संस्कृत मिश्रित प्राकृत पाई गई।

इस प्रकार जो तत्त्व हमें साहित्य में नहीं मिलते, वे शिलालेखों में प्राप्त होते हैं। हमें अपने इतिहास को समझने के लिए ब्राह्मी लिपि को पढ़ना-लिखना सीखने के लिए जागरूक होना आवश्यक है। 'भारतवर्ष' ही हमारे देश का नाम है इसका शिलालेखीय एकमात्र प्रमाण सम्राट खारवेल के 'हाथीगुम्फा' (उड़ीसा) शिलालेख में उल्लिखित है, जिसकी दसवी पंक्ति में 'भरधवस' लिखा गया मिलता है।

इस तरह मैंने अपने मूल आलेख में सभी लिपियों की जननी ब्राह्मी लिपि की विस्तार से विवेचना प्रस्तुत की है। मेरी यही भावना है कि "जणा-जणा, मणा-मणा, बम्ही बम्हरूपिणा" अर्थात् जन-जन के मन बसे ब्राह्मी का ब्रह्म स्वरूप।

●

श्रमण परम्परा और श्रुतस्थापना

-रतनचन्द नेमिनाथ कोटि, इण्डी

श्रमण अर्थात् जैन संन्यासी निर्ग्रन्थ रहकर श्रमण संस्कृति का पालन करते हैं। अर्थात् निर्ग्रन्थ सम्प्रदाय जैन संस्कृति का पालन करते आए— ऐसा कह सकते हैं। श्रमण संस्कृति निवृत्ति प्रधान है। तीर्थङ्कर वृषभदेव और भगवान् महावीर से आज तक जैन श्रमणों ने अहिंसामय धर्म मोक्ष के साधन के लिए ही आचरण करते आए हैं। इसलिए जैनधर्म में निर्ग्रन्थ मुनियों को प्रथम स्थान में प्रतिष्ठापित करके उनके ही द्वारा संस्कृति श्रमण-परम्परा द्वारा प्रवर्तित है। संस्कृति का अर्थ बहुत विशाल है। मानवों के आत्मोद्धार के लिए मार्गस्थ लाने वाले संस्कारित आत्मा की परिणति ही संस्कृति कहलाती हैं।

यह भारतीय आध्यामिक साधना पर अवलम्बित है। संस्कृति लोगों के अन्तरंग में जैसा संस्करित होता है वैसे ही मोक्ष मार्ग परिपूर्ण होता है। भारतीय संस्कृति में प्रथम से श्रमण संस्कृति और वैदिक संस्कृति ऐसे भिन्न-भिन्न मार्ग से प्रवाहित हुए है। इसमें श्रमण संस्कृति को ही जैन-संस्कृति को सुरक्षित रखने का श्रेय है, क्योंकि श्रमण ही जिन के उपासक ही होते है। यह संस्कृति विकसित होने के लिए त्रिषष्ठीशलाकापुरुषों से लेकर श्रमण मुनियों से यह धर्म यहाँ तक प्रवाह रूप में आया है। पृथ्वी पर सम्यग्दृष्टि मनुष्य ही देव है, ऐसा श्री नयसेन कवि के अभिप्राय में प्रकट होता है कि श्रमण ही जैनधर्म का प्रमुख आधारस्तम्भ हैं।

जैनधर्म का श्रेष्ठत्व

जैनधर्म विश्व में सभी धर्मों में अत्यन्त प्राचीन धर्म है। जिन का पूजन करने वाले जैन हैं और जैनों ने जो धर्म पालन किया है वह धर्म जैनधर्म है। दूसरे प्रकार से जिन ने दिव्यध्वनि से उपदेश किया हुआ धर्म जैनधर्म है। जिन शब्द का अर्थ जीतने वाला होता है जिसने अपने सब कर्म और इन्द्रियों को जीत लिया है वही जिनेन्द्र भगवान् है। प्रत्येक जीव पुरुषार्थ करके जिन हो सकते है। जिनेन्द्र को ही सर्वज्ञ कहा है। वही वीतरागी है। जिन का उपदेश किया हुआ धर्म प्रमाणबद्ध है। यह स्याद्वाद भूमिका पर आधारित है। इनके साथ सम्यग्दर्शन, ज्ञान और चरित्र का भी महत्त्व है। यह अहिंसा पर आधारित है। इसलिए जैन-संस्कृति में आत्मशुद्धि के लिए आचार और विचार दोनों का एक दूसरे के साथ पूरक है।

जैनधर्म जीवों को मुक्ति मार्ग पर ले जाने वाला उत्कृष्ट धर्म है। यही विश्वधर्म और आत्मधर्म है। यथार्थ में इसी धर्म से वस्तु स्वभाव का दर्शन होकर सिद्ध दशा प्राप्त होती है। यही जैनधर्म भगवान् महावीर के समय निग्गण्ठधम्म याने निर्ग्रन्थ धर्म कहा जाता था इसलिए इसे श्रमण धर्म भी कहते है। इस श्रमण धर्म का इतिहास परम्परा से आया हुआ है, ऐसा समझना आत्मशुद्धि के लिए बहुत कार्यकारी है। जैनधर्म विश्व में अद्भुत, अनन्य, पूर्वापर विरोध से रहित ऐसा धर्म है। विश्व का कोई भी ध्गर्म इसके साथ तुलना नहीं कर सकता, क्योंकि इसमें रहने वाले अनन्त विशेषताएँ यथार्थताएँ और सत्यांश भी इसका कारण हो सकता है। इसको ही दयाधर्म, आत्मधर्म और अहिंसा धर्म से कहा जाता है।

भगवान् महावीर स्वामी के दिव्यध्वनि से प्राकृत-भाषा में उपदेश किया हुआ श्रुतज्ञान समोवशरण में गौतम गणधर ने द्वादशांग रूप में ग्रहण किया। यही ११ अंग और १४ पूर्व से प्रसिद्ध हुआ है। इसमें धर्म, दर्शन, नैतिक विचार, नानाकला, ज्योतिष, आयुर्वेद और विज्ञान ऐसे अनेक विषयों का समावेश होने से इसको भारतीय ज्ञानकोष ही कहलाता है। दुर्भाग्य से यह सभी सुरक्षित नहीं है।

श्रमण-परम्परा

श्री गौतम गणधर के बाद उनके शिष्य सुधर्माचार्य और उनके शिष्य जम्बुस्वामी इस प्रकार अनुक्रम से यह श्रुतज्ञान प्राप्त करके ६२ वर्षों तक देश में इसका प्रसार-प्रचार किया। यह तीनों केवली प्रसिद्ध और पूज्य हो गये। अन्तिम केवली जम्बूस्वामी मोक्ष होने के बाद १. विष्णुनन्दी, २. नन्दीमित्र, ३. अपराजित, ४. गोवर्धन, ५. भद्रबाहु ये पाँच श्रुतकेवली हो गये। ये द्वादशांग पाठी और श्रुतज्ञान के पारगामी होकर १९२ वर्षों तक विहार करते हुए इन्होंने भव्य जीवों के लिए धर्मोपदेश किया।

अन्तिम श्रुतकेवली भद्रबाहु के बाद सम्पूर्ण श्रुतज्ञान के पाठी कोई भी नहीं रहे। अनन्तर १. विशाखाचार्य, २. प्रोष्ठिलाचार्य, ३. क्षत्रिय, ४. जयसेन, ५. नागसेन, ६. सिद्धार्थ, ७. धृतिसेन, ८. विजय, ९. बुद्धिसेन, १०. गंगदेव, ११. धर्मसेन ऐसे ११ परम निर्ग्रन्थ मुनि ग्यारह पूर्व के धारक थे। इन्होंने अनुक्रम से १८३ वर्षों तक यथावत ६ द्रव्य, ७ तत्त्व, ९ पदार्थ और अनेक सिद्धान्तों की प्ररूपणा किया।

अनन्तर धर्मसेन के पश्चात् १. नक्षत्र, २. जयपाल, ३. पाण्डू, ४. ध्रुवसेन, ५. कंसाचार्य– ये पांच एक दशांग के ज्ञान के पारगामी हुए। उन्होंने क्रम से २२० वर्ष तक यथावत पदार्थों का प्ररूपणा किया। उनके पश्चात् १. सुभद्र, २. यशोभद्र, ३. भद्रबाहु, ४. महायश, ५. लोहाचार्य ये पांच मुनि एक प्रथम अंग के धारक ११८ वर्षों तक अनुक्रम से यथावत पदार्थों का प्ररूपणा किया। तदनन्तर १. विनयधर, २. श्रीदत्त, ३. शिवदत्त, ४. अरहदत्त– ये चार आचार्यों को अंग पूर्व के कुछ भागों का अध्ययन हुआ था। इस प्रकार श्रुत का ह्रास होता है ऐसा जानकर उसकी रक्षा के लिए चिन्तन करके पाटलिपुत्र में, दूसरे शतक में स्कन्धिल मुनि के सान्निध्य में, मथुरा में क्रि.श. ४५० में और वलभी में श्री देवर्धि मुनि के सान्निध्य में चर्चा करके संगृहीत हुआ सिद्धान्त को आगम कहने लगे। कलिंग चक्रवर्ती खारवेल के काल में ओरिसा (उड़िसा) राज्य में जैनधर्म राष्ट्रीय धर्म था। वो राजा भी धर्मप्रिय थे। इसलिए भारत में सब यति तपस्वियों को गौरवपूर्वक बुला के जैनधर्म की वाचना एवं सम्मेलन करके जैन श्रुतज्ञान की रक्षा करने के लिए उपाय का चिन्तन करके कार्य रूप में ले आया।

यहाँ तक सब आचार्य भगवान् महावीर के मूलसंघ के सदस्य थे। तदनन्तर मुनि संघ में अपने-अपने आचार्यों के अभिप्राय के अनुसार विभाग हो गये। उन्हीं में नन्दीसंघ, देवसंघ, सेनसंघ, भद्रसंघ ऐसे अनेक संघ स्थापित हुए। इन सबकी लम्बी आचार्य परम्परा है।

●

पालि-साहित्य में उल्लिखित जैनधर्म विषयक प्राचीन सन्दर्भ

— प्रोफेसर धर्मचन्द्र जैन, कुरुक्षेत्र

भगवान् महावीर और सम्यक् सम्बुद्ध गौतम बुद्ध दोनों ही समकालीन हैं। धर्म के प्रचार-प्रसार का क्षेत्र भी दोनों का प्राय: एक-सा रहा है। जैन साधु हो या उपासक-श्रद्धालु पालि वाङ्मय में उसे 'निगण्ठ' शब्द से सम्बोधित किया गया है। भगवान् महावीर को यहाँ निगण्ठनात (ट) पुत्त कहा गया है जो बुद्ध की दृष्टि में यथार्थ सर्वज्ञ, केवली एवं आप्तपुरुष हैं, भूत, भविष्य एवं वर्तमान के ज्ञाता भी वहीं हैं— **'निगण्ठो आवुसो नातपुत्तो सव्वञ्ञू सव्वदस्सावी अपरिसेसं ञाणदस्सनं पटिजानाति-चरतो च तिट्ठतो च सुतस्स च जागरस्स च सततं समितं ञाणदस्सनं पच्चुपट्ठितं ति।'**

दीघनिकाय के सामञ्ञफलसुत्त में बुद्ध और मगधनरेश अजातशत्रु के संवाद के अन्तर्गत आपको छठा तीर्थङ्कर तथा चातुर्यामसंवर का प्रवर्तक बतलाया गया है। वह चातुर्यामसंवर है— सब्बवारिवारितो च होति, सब्बवारियुतो च, सब्बवारिधुतो च, सब्बवारिफुटो च। एवं खो महाराज, निगण्ठो चातुयामिसंवर संवुतो होति।' ये निगण्ठनातपुत जैनधर्म के अन्तिम तीर्थङ्कर भगवान् महावीर हैं। वस्तुत: चातुर्यामसंवर के प्रवर्तक वह नहीं बल्कि आपके पूर्ववर्ती तीर्थङ्कर पार्श्वनाथ थे। जैनागमों में पार्श्वनाथ द्वारा प्रज्ञप्त चातुर्यामसंवर— 'सब्बातो पाणातिवायाओ वेरमणं, सब्बातो मुसावायाओ वेरमणं, सब्बातो अदिन्नादाणाओ वेरमणं, सब्बातो बहिद्धा दाणाओ वेरमणं' है। (ठाणांग., सूत्र २६६)

धर्म एवं व्यक्तित्व से प्रभावित होकर एक दूसरे के अनुयायियों का धर्म-परिवर्तन करना स्वाभाविक है जिसके प्रचुर उल्लेख त्रिपिटक में विशेषकर दीघनिकाय, मज्झिमनिकाय, संयुक्तनिकाय, अंगुत्तरनिकाय तथा महावस्तु में मिलते हैं। अभय राजकुमार, अचेल कश्यप, सच्चक तार्किक, सीहसेनापति, असिबन्धकपुत्र तथा चित्तगहपति इनमें प्रमुख हैं।

सिद्धार्थ गौतम यथार्थवक्ता सम्यक्सम्बुद्ध हैं। बुद्ध की दृष्टि में उचित रीति से चिन्तन-मनन करना, पापकर्म से भय एवं लज्जा का होना, संयमी होना, अल्पाहारी होना, जागरूकता, सहनशीलता, स्मरणशीलता, विशुद्ध आजीविका एवं आन्तरिक आह्लाद प्राणीमात्र के जीवन को समुन्नत बनाते हैं। बुद्ध ने त्याग (अलोभ), मैत्री (अद्वेष) और प्रज्ञा (अमोह) तथा आत्मप्रत्यवेक्षण पर अधिक बल दिया है। मानव की अशान्ति का कारण है— रूप, शब्द, रस, गन्ध एवं स्पर्श— इन पाँच काम-गुणों के आस्वादन के पीछे उनका दौड़ते रहना।'

सिद्धार्थ गौतम बुद्ध ने जिन-जिन धर्मगुरुओं के पास जाकर ज्ञान-ध्यान-योग-साधना की शिक्षा ली उनमें आराडकलाम और उद्दकरामपुत्र प्रमुख हैं। ये दोनों ही जैन निर्ग्रन्थ साधु थे। निर्ग्रन्थ जैन सन्त पिहितास्रव (पार्श्वापत्य) से प्रव्रजित होकर शाक्य पुत्र गौतम ने बुद्धकीर्ति नाम से कुछ समय तक जैन ध्यान साधना का अभ्यास किया था। जैनधर्म की शिक्षाओं का उन्होंने विधिवत् पालन किया था, जिसका कुछ-कुछ प्रभाव बौद्धधर्म पर स्पष्ट लक्षित होता है।

समागत उपर्युक्त सन्दर्भों से निश्चित ही कहा जा सकता है कि बुद्ध निर्ग्रन्थ जैनधर्म से प्रभावित होने के साथ-साथ बुद्ध पूर्व निर्ग्रन्थ-धर्म नाम से जैनधर्म का विद्यमान होना जैनधर्म की प्राचीनता को स्वत: सिद्ध करता है।

जैन एवं बौद्ध-परम्परा में निर्ग्रन्थ विवेचन

– डॉ. विजयकुमार जैन, लखनऊ

जैन-परम्परा अनादिकालीन है, पर 'जैन' शब्द बहुत प्राचीन नहीं है। हमारे तीर्थङ्करों को पहले अर्हत्, जिन, निर्ग्रन्थ श्रमण आदि नामों से पुकारा जाता था। यही कारण है कि जैन-परम्परा की प्राचीनता को लेकर लोगों में भ्रम पैदा होते रहते हैं। बौद्ध-साहित्य में भगवान् महावीर एवं उनके अनुयायियों को क्रमशः निगण्ठनाठपुत्त एवं निगण्ठ कहा गया है। विद्वान् इस बात को स्वीकार कर चुके हैं कि ये सन्दर्भ भगवान् महावीर के ही हैं।

जैन ग्रन्थों में भी निर्ग्रन्थ शब्द प्रयुक्त है। तत्त्वार्थसूत्र में निर्ग्रन्थों के पाँच भेद बतलाएं हैं —

पुलाक-बकुश-कुशील-निर्ग्रन्थ-स्नातका निर्ग्रन्थाः। (त.सू., ९/४६)

ये निर्ग्रन्थ सभी तीर्थङ्करों के शासन में होते हैं।

तत्त्वतः 'निर्ग्रन्थ' वह है जिसमें राग-द्वेष की ग्रन्थि का अभाव हो; किन्तु व्यवहार में अपूर्ण होने पर भी जो तात्त्विक निर्ग्रन्थता का अभिलाषी है, भविष्य में वह स्थिति प्राप्त करना चाहता है उसे भी निर्ग्रन्थ कहा जाता है। अतः चारित्र परिणाम की हानि वृद्धि एवं साधनात्मक योग्यता के आधार पर निर्ग्रन्थ को पांच भागों में विभाजित किया गया है— १. पुलाक, २. बकुश, ३. कुशील, ४. निर्ग्रन्थ तथा ५. स्नातक। मूलगुण तथा उत्तरगुण में परिपूर्णता प्राप्त करते हुए भी जो वीतराग-मार्ग से कभी विचलित नहीं होते, वे 'पुलाक निर्ग्रन्थ' है। शरीर और उपकरणों के संस्कारों का अनुसरण करने वाले सिद्धि तथा कीर्ति के अभिलाषी, सुखशील, अविवक्त परिवार वाला, शबल अतिचार दोषों से युक्त को 'बकुश निर्ग्रन्थ' कहते है। इन्द्रियों के वशवर्ती होने से उत्तम गुणों की विराधनामूलक प्रवृत्ति करने वाला 'प्रतिसेवना कुशील' और कभी-कभी तीव्र कषाय के वश न होकर कदाचित् ! मन्द कषाय के वशीभूत हो जाने वाला 'कषाय कुशील' है। सर्वज्ञता न होने पर भी जिसमें राग-द्वेष से अत्यन्त अभाव हो और अन्तर्मुहुर्त बाद ही सर्वज्ञता प्रकट होने वाली हो, उसे 'निर्ग्रन्थ' कहते हैं तथा जिसमें सर्वज्ञता प्रकट हो गयी हो, वह 'स्नातक' कहलाता है।

णाह, णाय, णात– ये सब एक अर्थ के वाचक हैं। दिगम्बर-परम्परा के अनुसार भगवान् महावीर णाह वंश या नाथवंश के क्षत्रिय थे।

कुण्डपुरपुरवरिस्सर सिद्धत्थक्खत्तियस्स णाहकुले।
तिसिलाए दीवए देवीसदसेवभाणाए।।१।। (जयधवला, भाग १, पृ. ७८)

– णाहोग्गवंसेसु वि वीर पासा।। (ति.प.,अ. ४)

श्वेताम्बरीय उल्लेखों के अनुसार भगवान् महावीर णाय कुल के थे।

– णातपुत्ते महावीर एवमाह जिणुत्तमे। सूत्र १, श्रु. अ. १ उ

– अरहा नायपुत्ते भगवं वेसालिए वियाहिए।। सूत्र १, श्रु. २, २ अ. २३०.

इसी तरह भगवान् महावीर को 'नाए नायपुत्ते नायकुलनिव्वत्ते विदेहे विदेहजच्चे विदेह सूमो तीसं वासाइ विदेहं सित्तिं कट्ट आगारमज्झे विसित्त' (आचा.सू. २-३-४०२ सू.) इत्यादि लिखा है जिसका आशय है कि भगवान् महावीर नाथ या ज्ञातृकुल के और विदेह देश के थे।

बौद्ध-ग्रन्थों में भगवान् महावीर अपनी जाति तथा वंश के आधार पर णाटपुत्त कहे जाते थे। संस्कृत में यह ज्ञातिपुत्र है जिसका अर्थ ज्ञाति का पुत्र।

श्री बेवर ने अपनी पुस्तक 'इण्डियन सेक्ट ऑफ जैनाज' में माना है कि बुद्ध के लिए शाक्यपुत्रीय श्रमण शब्द का प्रयोग है। अत: निगण्ठों या निर्ग्रन्थों के प्रमुख नाटपुत्त या ज्ञातिपुत्र हैं। ज्ञातवंश के उत्तराधिकारी तथा निर्ग्रन्थ अथवा जैन समुदाय के अन्तिम तीर्थङ्कर वर्धमान एक ही व्यक्ति है। बौद्ध ग्रन्थों में निगण्ट नाटपुत्त के सन्दर्भ में कहा गया है कि वे अपने को अर्हत् और सर्वज्ञ कहते हैं ..... अपने शरीर को ढाकने से घृणा करते थे। इनको प्रभावशाली भी बतलाया गया है।

नाटपुत्त (महावीर) पर टिप्पणी में राहुलजी ने लिखा है — 'नाटपुत्त' ज्ञातृपुत्र। ज्ञातृ लिच्छवियों की एक शाखा थी, जो वैशाली के आसपास रहती थी। ज्ञातृ से ही वर्तमान जथरिया शब्द बना है। महावीर और जथरिया दोनों का गोत्र काश्यप है। आज भी जथरिया भूमिहार ब्राह्मण इस प्रदेश में बहुत संख्या में है। उनका निवास रत्ती परगना भी ज्ञातृ=नत्ती=लत्ती=रत्ती से बना है। (बु.च., पृ. ११० का टि. ३)।

वैदिक-परम्परा में भी निर्ग्रन्थ शब्द का प्रयोग हुआ है।

इस प्रकार निर्ग्रन्थ भगवान् महावीर एवं जिन या अर्हत् की तरह जैन तीर्थङ्करों की यह संज्ञा हैं। निर्ग्रन्थ एवं उसके विभिन्न सन्दर्भों के प्रस्तुतीकरण के साथ मूल निबन्ध में विस्तृत विवेचना की गयी है।

●

जिनसेनाचार्यकृत आदिपुराण में प्रतिपादित भरतचक्रवर्ती चरित्र-चित्रण

– सुश्री वीणा जैन, लाडनूँ

आदिपुराण की कथावस्तु के प्रधान नायक आदि तीर्थङ्कर ऋषभदेव और उनके पुत्र शलाकापुरुष भरत चक्रवर्ती हैं। प्रस्तुत लेख में भरत चक्रवर्ती का चरित्र चित्रित करने का प्रयास किया गया है। उनका समस्त जीवन भोग से योग, राग से विराग, आसक्ति से विरक्ति, अहङ्कार से विनम्रता और बन्धन से मुक्ति की ओर क्रान्तिकारी प्रस्थान है। राजा भरत चक्रवर्ती के व्यक्तित्व की भविष्यवाणी उनके जन्म से पहले ही हो चुकी थी जब ऋषभदेव की पत्नी यशस्वती देवी के गर्भ में आये। उनकी माता ने स्वप्न देखे। उनके मन में अद्‌भुत पराक्रमी बातें उत्पन्न होती थी। महारानी अपने मुख की शोभा दर्पण में न देखकर असि दर्पण में देखा करती थी।

रानी के चैत्र कृष्ण नवमी को तेजस्वी पुत्र उत्पन्न हुआ जिसका नाम भरत रखा। जन्म से पूर्व यशस्वती देवी द्वारा देखे गये स्वप्नों से स्पष्ट जाहिर हो रहा था कि १०० पुत्रों में से सबसे बड़ा पुत्र चक्रवर्ती, आत्मबली, दिग्विजयी तथा चरमशरीरी अर्थात् उसी जन्म से मुक्त होने वाला होगा।

जन्म से ही भरत एक ओर बाह्य शारीरिक सौन्दर्य, धन, बल, शक्ति, मधुर भाषण, कलाओं में निपुणता के धनी थे तो दूसरी ओर आत्मिक गुणों — सत्य, शौच, क्षमा, त्याग, इन्द्रिय निग्रह, विनय आदि गुणों से सम्पन्न थे। छः खण्डों में रहने वाले देवों और मनुष्यों के बल से कई गुणा बल केवल चक्रवर्ती भरत की भुजाओं में था। वे एक दिव्य पुरुष थे। भगवान् ऋषभदेव ने अपने निष्क्रमण से पूर्व प्रजा के हितार्थ भरत को अपना उत्तराधिकारी राज्य पद सौंपा और शेष पुत्रों में उचित रूप से पृथ्वी का विभाजन कर दिया।

शम, दम आदि गुणों के साथ भरत राज्य कर रहे थे उन्होंने एक बार तीन बातें एक साथ सुनी कि — १. भगवान् ऋषभदेव को केवलज्ञान उत्पन्न हुआ है। २. उनके पुत्र उत्पन्न हुआ है। ३. आयुधशाला में चक्ररत्न की उत्पत्ति हुई है। एक तिराहे पर खड़े एक यात्री की भाँति उनके चित्त में द्वन्द्व पैदा हुआ कि सर्वप्रथम किसका स्वागत करना चाहिए, किसे प्राथमिकता देनी चाहिए? ये तीनों उपलब्धियां धर्म, काम एवं अर्थ— इन तीन अलग-अलग पुरुषार्थ के फल हैं, जो एक साथ प्राप्त हुए हैं। भरत ने चिन्तन कर समाधान किया कि काम और अर्थ पुरुषार्थ तब तक ही उपयोगी हैं जब तक कि वे धर्म पुरुषार्थ से आप्लावित हैं। ये दोनों भी धर्म की ही निष्पत्ति हैं, इसलिए सबसे पहले धर्म का कार्य करना चाहिए। उन्होंने भगवान् ऋषभदेव को केवलज्ञान उत्पनन होने जैसे पावन कार्य को प्रमुखता दी और भरतेश्वर ने भगवान् की पूजा करने का सर्वप्रथम निर्णय लिया।

भरत की दिग्विजय

ज्ञानकल्याणक महोत्सव मनाने के बाद नई ऊर्जा, उत्साह, प्रेरणा, बल से अयोध्या लौटकर भरत ने लौकिक कार्यों में अपनी शक्ति लगायी। आयुधशाला में जाकर चक्ररत्न की पूजा की उसके पश्चात् पुत्र उत्पन्न होने का उत्सव मनाया। महाराजा भरत अपने भारत देश में एक व्यवस्थित एवं संगठित शासनतन्त्र द्वारा एक अखण्ड भारतीय संस्कृति वाले विराट भारतवर्ष की स्थापना के लिए प्रयत्नशील थे। इस आकांक्षा को मूर्तरूप देने के लिए दिग्विजय के लिए निकले। भरत कूटनीतिज्ञ थे। वे जानते थे कि किन्हें सरलता से अपने मार्ग से

हटाया जा सकता है, किन्हें अधीन किया जा सकता है, किन्हें अपने वश में किया जा सकता है। साम, दाम, दण्ड, भेद की नीति अपनाकर कार्य को सिद्ध करना राजा की निपुणता होती है। भरतेश्वर ने ना तो कभी तलवार पर अपना हाथ लगाया था और न डोरी ही धनुष पर चढ़ाई और केवल अपनी प्रभुत्व शक्ति से मार्ग में किन्हीं को सन्धि द्वारा, किन्हीं को युद्ध द्वारा, किन्हीं को द्वेधीभाव द्वारा जीतते गये और राज्य का विस्तार करते गये।

अभिमान क्षय से विशुद्धि

दिग्विजय के पश्चात् जिनेन्द्र देव के दर्शनों का आनन्द लेकर भरत अपने नगर अयोध्या लौटे। नगर के द्वार पर शस्त्रागार के बाहर उनकी दिग्विजय का चक्र रुक गया जो उनकी दिग्विजय को चुनौति दे रहा था। सोचने लगे कि राज्य के बाहर की सीमाओं के सभी राज्यों को तो जीत लिया है, परन्तु कोई राज्य ऐसा है जो अभी अविजित है अर्थात् बाहर के सभी मण्डल तो जीत लिये, परन्तु अन्तर्ममण्डल की विशुद्धता अर्थात् घर के लोगों की अनुकूलता अब तक भी प्राप्त नहीं हुई है। सचमुच अन्दर का एक भी शत्रु बाहर के हजारों शत्रुओं से अधिक शक्तिशाली होता है। पूरे विश्व को विजय प्राप्त कर, अठानवें भाइयों का राज्य प्राप्त करने के पश्चात् भी भरत तृप्त नहीं हुए, क्योंकि उनके एक भाई बाहुबली ने उनकी अधीनता स्वीकार नहीं की। भरत और बाहुबली दोनों के बीच आत्माभिमान की रक्षा ने युद्ध को अनिवार्य कर दिया। बाहुबली के स्वाभिमान ने भरत को ललकारा कि भरत मुझे पराजित किये बिना वह इस पृथ्वी का उपभोग नहीं कर सकता। शूरवीरता केवल वचनों से नहीं अब तो युद्धरूपी कसौटी पर ही मेरा और भरत का पराक्रम होना चाहिए।

भरत का क्रोध क्षणभर के लिए जागृत हो गया। वास्तव में वह व्यक्ति जीता हुआ भी हारे के समान है जिसने क्रोध पर विजय प्राप्त नहीं की। भरत को क्रोधाग्नि व अभिमान को शान्त करते हुए सलाह दी कि दोनों चरमशरीरी है, दिव्यशक्तिधारी हैं, दोनों के पास सशस्त्र सेना है,यदि युद्ध हुआ तो भारी नरसंहार होगा और भगवान् ऋषभ की सन्तान होने से निन्दा भी होगी।

शक्ति परीक्षण के लिए केवल भरत-बाहुबली के बीच जलयुद्ध, मल्लयुद्ध एवं दृष्टियुद्ध हुआ। तीनों ही अहिंसक युद्धों में बाहुबली विजयी हुए तब भरत ने कुपित होकर अपनी पूरी शक्ति से आवेश में आकर और मर्यादा को विस्मृतकर बाहुबली का शिरश्छेदन हेतु चक्ररत्न का प्रयोग किया पर चक्र बाहुबली की प्रदक्षिणा कर पुन: भरत के पास लौट गया। भरत बाहुबली का कुछ भी नहीं बिगाड़ सका, अपितु बाहर के युद्ध के बजाय अन्दर का युद्ध प्रारम्भ हो गया। भावों के चढ़ते परिणामों से बाहर से भाई को जीतने की चाह समाप्त हो गयी। अपने को जीतने की चाह जागृत हो गयी। बाहुबली ने विरक्त होकर जंगल में जाकर दीक्षा ले ली। एक ओर दिशा बदली तो दूसरी ओर अहङ्कार झुक गया। भरत बाहुबली के प्रति प्रणत हो गये।

योगी और न्यायप्रिय राजा

दिग्विजय के पश्चात् अयोध्या में लौटने पर भरत एक अनासक्त योगी की तरह न्यायपूर्ण शासन करने लग गये। विराट् राज्य वैभव का उपभोग करने पर भी वे अनासक्त रहे थे। सम्राट् होने पर भी साम्राज्यवादी नहीं थे। तन से गृहस्थाश्रम में थे पर मन से उपरत् थे। वे राजशास्त्र, धर्मशास्त्र एवं सभी कलाओं के धनी थे। समाज की व्यवस्था किस प्रकार स्वस्थ बनायी जाए इसके लिए उन्होंने राजनैतिक, सामाजिक-व्यवस्था सम्बन्धी अनेक महत्त्वपूर्ण दिशा-निर्देश दिये। यथा—

१. समाजवाद का सिद्धान्त— भरत ने धन कमाने का मुख्य फल बताया कि व्यक्ति धन का स्वयं उपभोग करे तथा दूसरों में भी विभाजित करें। अर्थार्जन के साथ विसर्जन भी हो, सम्यक् वितरण भी हो, जिससे स्वस्थ समाज की संरचना हो सके।

२. वर्ण-व्यवस्था— भगवान् ऋषभदेव ने क्षत्रिय, वैश्य एवं शूद्र— इन तीन वर्णों की स्थापना की। चक्रवर्ती भरत ने इन तीन में एक और जोड़ते हुए चौथे ब्राह्मण वर्ण की स्थापना की। व्रत धारण करके ब्राह्मण व्रती के रूप में स्थापित हुए थे। उनका कार्य संयमपूर्वक अध्ययन-अध्यापन, स्वाध्याय, यजन-याजन निश्चित किया। आदिपुराण में जो वर्ण-व्यवस्था का प्रावधान है वह केवल वृत्ति आजीविका को व्यवस्थिति रूप देने के लिए ही किया गया है।

३. संस्कारों का महत्त्व— जीवन को उज्ज्वल बनाने के लिए सुसंस्कारों का विशेष महत्त्व होता है। भरत ने ५३ गर्भान्वय, ४८ दीक्षान्वय तथा ७ कर्त्तन्वयक्रियाओं का उपदेश दिया। उन्होंने सात परम स्थानों का भी प्रतिपादन किया था, जो इस प्रकार है— १. सज्जाति, २. सद्गृीत्व, ३. पारिव्राज्य, ४. सुरेन्द्रता, ५. साम्राज्य, ६. परमार्हन्त्य, ७. परमनिर्वाण।

४. श्रेष्ठ राजा का धर्म— क्षत्रिय का धर्म द्विविध न्याय का पालन करना है। अर्थात् दुष्टों का निग्रह करना और शिष्टों का परिपालन करना। राजा भरत ने सामाजिक स्थिति के लिए केवल प्रजा के विषय में ही योगक्षेम (योग यानि नवीन वस्तुओं को प्राप्त करना, क्षेम यानि प्राप्त हुई वस्तु की रक्षा करना) की चिन्ता नहीं की थी अपितु प्रजा की रक्षा करने वाले अन्य राजाओं के विषय में भी उन्होंने योगक्षेम की चिन्ता की। राजा भरत ने राजा के लिए पांच प्रकार के धर्म बताये हैं— १. कुल का पालन करना, २. बुद्धि का पालन करना, ३. अपनी रक्षा करना, ४. प्रजा की रक्षा करना। प्रजा दो प्रकार की पायी जाती है— एक वह प्रजा जिसकी रक्षा करनी चाहिए, दूसरी वह जो रक्षा करने में तत्पर है। ५. समञ्जसपना अर्थात् पक्षपातरहित होना। भरत ने राजनैतिक शिक्षा दी कि राजा को अपने राज्य में छोटे से छोटे शत्रु को भी नजरअन्दाज नहीं करना चाहिए, क्योंकि यह भी पीड़ा देने वाला हो सकता है।

५. भरत की समयज्ञता— भरत चक्रवर्ती ने जिस धर्म राज्य की स्थापना की, न्यायपूर्वक राज्य किया, स्वयं और प्रजा की धर्म में अनुरक्त किया, राजा और प्रजा के कर्त्तव्यों का भान कराया उसका आगामी काल में क्या स्वरूप बनेगा, उसका स्वप्न भी उन्होंने अपने काल में ही ले लिया था। वे भविष्यवक्ता थे। उन्हें अपने स्वप्नों के माध्यम से ज्ञात हो गया था कि भरतक्षेत्र में आगे आने वाले पञ्चमकाल में सामाजिक, राजनैतिक एवं धार्मिक स्थिति का क्या स्वरूप बनेगा?

भरत चक्रवर्ती का जीवन आदर्श योगी गृहस्थ का जीवन था। चक्रवर्ती होते हुए भी उन्होंने अहिंसा धर्म की आराधना को सर्वोपरि स्थान दिया। भरतेश्वर पर्व के दिन उपवास करते, मुनियों को आहार देते। उनका चरित्र उन्नत था। उनकी जिनेन्द्र भक्ति अपूर्व थी। उनको अन्तर्मुहूर्त में केवलज्ञान प्राप्त हो गया। भगवान् ऋषभ के निर्वाण का प्रभाव भरत के अन्तःकरण में गहरा पड़ा। कालान्तर में उन्होंने अपने मस्तक के श्वेत केश को देखा और उसे भगवान् ऋषभदेव के पास से आये हुए देव के रूप में समझा। उन्होंने अपने पुत्र अर्ककीर्ति को राज्य सौंप दिया। वे दिगम्बर मुनि बने। तत्काल उन्हें मनःपर्यय ज्ञान उत्पन्न हुआ और अन्तर्मुहूर्त में केवलज्ञानी हो गये। भरत चक्रवर्ती का जीवन आज के शासकों के लिए, धनार्जन करने वाले वर्ग के लिए, धार्मिक व्यक्तियों के लिए। एक प्रकाशद्वीप की तरह मार्गदर्शन दे रहा है तथा उनका जीवन जनता को गृहस्थ में रहते हुए भी धर्माचरण करने की प्रेरणा देता है।

●

भरत-बाहुबली

(आयुध-संस्कृति की वर्जना के पुरोधा)

– सुरेश जैन 'सरल', जबलपुर

अजनाभवर्ष (अब भारतवर्ष) के महाराज ऋषभदेव के सौ पुत्रों में ज्येष्ठ भरत और उनके अनुज बाहुबली का प्रसंग सर्वविदित हैं, जिनके आचार-विचार में मानाभिमान से परे, वात्सल्य का सागर लहराता था, पर समकालीन व्यक्ति और पारिवारिकजन उन्हें शीघ्रता से नहीं समझ पाये। (चूँकि यहाँ सारांश दिया जा रहा है, लेख या कथा नहीं, अत: इसकी प्रस्तुति भी उसी 'ट्रेक' पर की जा रही है) दरअसल तीर्थङ्कर होने वाले शासनकर्ता- महाराज- ऋषभदेव के पुत्र राज्य, सेना, मारकाट, सुख-सुविधा की चाह, सीमातिक्रमण की भावना, आयुधों के भण्डारण के भाव आदि न रखते हुए, पिता द्वारा प्रदत्त अपने-अपने राज्यें की जनता का 'पितृवत् पालन करते हुए सेवा, सदाचार, विद्यार्जन और कुलीन संस्कारों का वपन कर रहे थे। शिक्षा, चिकित्सा, धर्म, क्रीड़ा, साहित्य और मनोरंजन के स्वस्थ साधन भी गांव-गांव में जुटा रहे थे। अभिप्राय यह कि महाराज ऋषभदेव के समय जो श्रेष्ठ न्याय-व्यवस्था और शासन-व्यवस्था स्थापित की गयी थीं, उन्हीं का सुन्दर और सार्थक प्रवर्तन कर रहे थे।

पिता द्वारा हर पुत्र को पृथक् राज्य (भू-भाग) सौंपा गया था, तदनुकूल राजा श्री भरतजी की राजधानी अयोध्या थी और राजा श्री बाहुबली की तक्षशिला स्थित पोदनपुर। एक राजा पूर्व का सूर्य तो दूसरा पश्चिमाञ्चल का चन्द्र। कुछ वर्षों के बाद दोनों राजाओं को, अपने पिता की तरह, वैराग्य भाव हो आया। वे पुत्रों को राजपाट देकर स्वत: वन-वाट पर चलने का मन बना बैठे। पर मन्त्रियों के समझाने से कुछ काल के लिए योजना स्थगित कर दी। इस बीच श्री भरत के मन्त्रियों और समीपी मित्रों ने उन्हें चक्रवर्ती- पद प्राप्त करने का परामर्श प्रदान किया। चक्रवर्ती माने सब राजाओं (शासकों) के ऊपर महाराजा, सम्राट्, महाशासक, महान्यायविद्, महाशास्त्रविद्, महावास्तुविद्, महापुराविद् आदि-आदि और महापालक, महासेवक और महासंरक्षक भी।

भरतजी और उनका मन्त्री परिकर जानते थे कि सभी राजागण परोपकार की भावना से भरे हुए है, अत: उनका प्रस्ताव सहज स्वीकार्य हो जावेगा, केवल रश्म-अदायगी करना है। भरतजी को चक्रवर्ती के लौकिक-पद से अधिक श्रेष्ठ दिगम्बर-मुनि का पद था;किन्तु वे मौन रह गये।

चक्रवर्ती का प्रस्ताव लेकर राज्यचर विभिन्न राजाओं की ओर गये- आये। शीघ्र ही राजागण उन्हें चक्रवर्ती स्वीकार कर, स्वत: जैनेश्वरी दिगम्बर-मुनि-दीक्षा प्राप्त करने कैलाश पर्वत पर अवस्थित महामुनि, आचार्य (भगवान्) ऋषभदेव के संघ में चले गये। राजा बाहुबली कुछ सोच में पड़ गये थे। सहज ही अग्रज को 'चक्रवर्ती' स्वीकार कर लूँ।

(यहाँ, इस लेखन से, यह बतलाने का प्रयास किया है कि युद्ध की भावना दोनों भाइयों में नहीं थी)

भरतजी अपने अनुज की भावभूमि जानने, विविध भेंटों के साथ, उनसे मिलने चल पड़े। सेना, पालकी, रथ, गाजे-बाजे। अनुज भी उनकी भावभीनी अगवानी के लिए तत्पर थे। पोदनपुर द्वार पर दोनों राजाओं (भाइयों) का मिलन, दोनों समूहों का मिलन। (फिर भरत द्वारा आयुध के उपयोग बिना, युद्ध करने की भावना बतलाना

जिससे रक्तपात न हो और महायुद्ध हो जावे) संसार की किसी भी संस्कृति और जाति में रक्तहीन-युद्ध की चर्चा नहीं है। न सैनिक मारे जावें, न नगर उजाड़े जावे, न राज्य नष्ट किये जावें और युद्ध सम्पन्न हो जावे। बाहुबली मौन थे। भरतजी ने आगे बतलाया 'भैया बाहुबली, यदि हम दोनों अपने पौरुष का उपयोग कर पहले दृष्टि-युद्ध करे, फिर जल-युद्ध और फिर मल्ल-युद्ध तो अन्य को कोई क्षति न होगी। न हिंसा होगी, न सहायता शिविरों में विकलांगों की पंक्तियाँ लगेगी, न सैनिकों के परिवार उनका शव खोजते फिरेंगे।

मगर बाहुबली उक्त तीन युद्धों में अग्रज के प्रति मर्यादा का खण्डन देख रहे थे। उन्होंने कहा— मैं अग्रज से दृष्टि-युद्ध आदि कर निर्लज्ज नहीं बनना चाहता।

(पूरे लेखन में— लोकमत की भावना का ध्यान रखते हुए, एक महान् प्रवर्तन किया गया है जो सदियों तक अहिंसा के उपासकों के साथ-साथ, हिंसा का नग्न-नाच करने वालों का मार्गदर्शन करेगा। आज संसार को ऐसे ही साहित्य की आवश्यकता है, कृपया पूर्व प्रेषित मूल-कथानक पर दृष्टिपात करें)।

तीनों युद्ध श्रेष्ठ धरातल पर बाहुबली द्वारा खारिज कर दिये गये, तब उनकी महानता से भरत इतने प्रभावित हुए कि उन्हें नमन करने का मन हो आया। उनसे पूछकर भरत ने अपना चक्र, उनकी 'विनय-परिक्रमा' के लिए छोड़ा। (पृ. १० देखें)।

उक्त घटना के बाद बाहुबली ने निर्जन वन की ओर जाकर मुनि-दीक्षा धारण की और तपश्चर्या में लीन हो गये। भरतजी वापिस आ गये। वे 'चक्री' घोषित हो गये। चक्रवर्ती महाराज भरत।

बाहुबली के तप का वर्णन। सर्प की वामियाँ। हिंसक जानवर। ऋतुएं। ठण्ड, ग्रीष्म, वर्षा का प्रभाव। विषधरों का लिपटना। एक वर्ष का उपवास।खबर आचार्य ऋषभदेव तक पहुँच गयी। महाराज भरत उनके दर्शन-वन्दन करने उनके पास गये। (पृ. १३) तीन परिक्रमा कर पूजन-पाठ किया। फिर भरत द्वारा सम्बोधन। वे बाहुबली जी के हृदय में जमी शल्य को हटाने का प्रयास कर रहे थे। उन्होंने निवेदन किया— 'अयुद्ध संस्कृति के पुरोध! कृपया निःशल्य होइए।'

तभी आचार्य ऋषभदेव का सन्देश लेकर बाहुबली की दो बहिनों, ब्राह्मी और सुन्दरी का आगमन हुआ, उन्होंने गुरु के निर्देशानुसार मृदुवाणी में एक श्लोक का उच्चारण किया—

आज्ञापयति तातस्त्वा, ज्येष्ठार्य भगवानिदम्।
हस्तिस्कन्धाधिरूढ़ानां, उत्पयेत न केवलम्।।

हे वरिष्ठ आर्य! पूज्य पिता भगवान् ऋषभदेव ने कहलाया है कि गजराज के कन्धे पर चढ़े हुए को कैवल्य-रत्न की उपलब्धि नहीं होती। उनकी वाणी की भनक से महायोगी बाहुबली का मानस झंकृत हो उठा, वे सोचने लगे— "हाथी के कन्धे पर चढ़ा व्यक्ति माने अहङ्कार के स्कन्ध पर चढ़ा साधु।"

उनकी तन्द्रा की अन्तिम कड़ी चटख गयी, उन्होंने नेत्र खोले, भगवान् ऋषभदेव की दिशा में हाथ जोड़कर नमोस्तु किया और विहार करने कदम बढ़ाया। पहले कदम पर ही उन्हें केवलज्ञान की प्राप्ति हो गयी। निमिषमात्र में लोक से परलोक तक व्याप्त गये। वसुधा की सुधा के बाद, मोक्ष लक्ष्मी के भी अधिकारी बने।

●

गृहविरत भरत और योगीश्वर बाहुबली की आध्यात्मिक पृष्ठभूमि

– अध्यात्म रत्नाकर पण्डित रतनचन्द भारिल्ल, जयपुर

कर्नाटक प्रदेश के श्रवणबेलगोला के विन्ध्यगिरि पर स्थित ५७ फुट उत्तंग सर्वाङ्ग सुन्दर योगीश्वर गोम्मटेश बाहुबली की सहस्राधिक वर्ष प्राचीन ऐतिहासिक उपसर्ग एवं परीषहजयी मूर्ति मूर्तिकला की दृष्टि से तो अद्यावधि बेजोड़ है ही; साथ ही यह सम्पूर्ण संकुचित, साम्प्रदायिक सीमाओं को लांघकर देश-विदेश के जैन/जैनेत्तर सभी धर्मनिष्ठ और मूर्तिकला प्रेमियों की श्रद्धा-भक्ति की केन्द्र भी बनी हुई है।

परमशान्त मुद्रायुक्त, वीतरागता की संवाहक, लखों लोगों के कल्याण में निमित्त बनने वाली गोम्मटेश बाहुबली की मूर्ति की स्थापना को एक सहज सुख संयोग ही कहना होगा, जो भव्य जीवों के भाग्य से सर्वप्रथम गंगवंशी राजा राजमल्ल के राज्यमन्त्री एवं सेनाध्यक्ष चामुण्डराय के मन-मस्तिष्क में कल्पना के रूप में प्रसूत हुई थी और बाद में उन्हीं के सत् प्रयासों से अद्भुत कलाकृति के साथ तप-त्याग की सर्वोत्कृष्ट प्रतीक प्रतिमा के रूप में आविर्भूत हुई।

यह भी एक सहज संयोग रहा कि सभी तीर्थङ्करों के गर्भ-जन्म-तप आदि पाँचों कल्याणक उत्तर भारत में ही हुए। इस कारण समस्त तीर्थस्थान उत्तर भारत में ही हैं। उनके दर्शनार्थ दक्षिण भारतीयों का उत्तर भारत में आना तो स्वाभाविक ही था, परन्तु उत्तर भारतीयों को दक्षिण में जाने के लिए ऐसा कोई आकर्षण नहीं था, जिसके कारण उत्तर के भारतीय दक्षिण में पहुँचते।

एतदर्थ अत्यन्त दूरदर्शी, राष्ट्रीय एकता के प्रति प्रतिबद्ध एवं सामाजिक संगठन के लिए समर्पित, वीर मार्तण्ड, समरकेसरी, सुभट चूड़ामणि आदि अनेक उपाधियों से अलंकृत बहु आयामी व्यक्तित्व के धनी चामुण्डराय द्वारा यह विशालतम मूर्ति निश्चित रूप से दक्षिण एवं उत्तर भारत की जैन समाज को एकता के सूत्र में बांधने के पावन उद्देश्य से स्थापित की गयी थी, जो आज भी अपने उद्देश्य में पूर्ण सफल है।

आश्चर्यजनक यह है कि सम्पूर्ण विश्व में फैली जैन जनता को इस मूर्ति ने अपने सौन्दर्य और परमशान्त वीतराग छवि से इतना अधिक प्रभावित किया कि आज भारत के कोने-कोने में इस मूर्ति की प्रतिकृति के रूप में लाखों मूर्तियाँ विराजमान हो गयी हैं और अभी भी अनवरत रूप से वैसी ही या उससे मिलती-जुलती मूर्तियों का निर्माण हो रहा है।

जर-जोरु और जमीन के निमित्त से भाई-भाई में और साधर्मी भाइयों में संघर्ष होने की परम्परा तो बहुत पुरानी है ही, धर्म की आड़ में साम्प्रदायिक दंगे भी कम नहीं हुए। आज भी ऐसे अनेक तीर्थस्थान हैं, जिन पर चल रहे मुकदमों के कारण साधर्मी भाई-भाई भी आये दिन कोर्ट-कचहरियों के चक्कर काटा करते हैं। ऐसे किसी विवाद के विषय भगवान् बाहुबली न बने, इस दूरदर्शी दृष्टिकोण से ही सम्भवत: चामुण्डराय द्वारा उक्त मूर्ति को खड्गासन के रूप में सम्पूर्ण दिगम्बरत्व के लक्षणों से युक्त बनवाया गया है। फलत: यह सम्पूर्ण जैन/जैनेतर समाज की श्रद्धास्पद होते हुए भी निर्विवाद है।

कह नहीं सकते कि किसी मंगलमय मुहूर्त में, किस शुभ घड़ी में इस अप्रतिम प्रतिमा की स्थापना हुई, जिसके फलस्वरूप आज सहस्त्रादिक वर्ष बाद भी यह मूर्ति दर्शकों को नित्य नवीनता लिए जीवन्तवत दिखायी देती है। दर्शकों को ऐसा लगता है कि देखते ही रहें, देखते ही रहें। देखते-देखते दर्शकों का मन ही नहीं भरता। मूर्ति के माध्यम से मूर्तिमान का स्मरण आते ही भक्तों की भक्ति-भावना और भी सहस्त्रगुणी प्रबलहो जाती है। विचार आता है कि "धन्य हैं वे बाहुबली, जिन्होंने अपने अग्रज चक्रवर्ती भरत से तीनों शारीरिक युद्धों में विजय पाकर भी असार संसार का स्वरूप देखकर संसार-शरीर एवं भोगों से विरक्त होकर वैराग्य धारण कर लिया और आत्म साधना में ऐसे जमें कि आहार-विहार की सब सुध-बुध खोकर तत्त्व विचार में जमे ही रहे। स्वरूप में ऐसे रमें कि जब तक केवलज्ञान नहीं हुआ तब तक रमें ही रहे; एक वर्ष तक हिले-डुले ही नहीं।

तन पर बेले चढ़ गयी, सांपों ने बांबियाँ बना लीं। छिपकुलियाँ और बिच्छु जैसे विषैले प्राणी और डांस-मच्छर शरीर को काटते रहे, फिर भी योगीश्वर बाहुबली तपश्चरण से विचलित नहीं हुए। धन्य थी उनकी वह साधना, आत्मा की आराधना।" यह सब देखकर एवं स्मरण करके भक्तों का हृदय भक्तिभाव से द्रवित हुए बिना नहीं रहता।

तीर्थङ्करों की प्रतिमाएँ प्रतिष्ठित करने की परम्परागत परिपाटी को गौण करके इस अद्‌भुत, अभूतपूर्व, बहुउद्देशीय, दिगम्बरत्व की दिग्‌दर्शक उपसर्ग और परिषहजयी योगीश्वर बाहुबली की मूर्ति को सुदूरवर्ती दक्षिण भारत के विन्ध्यगिरि पर्वत पर स्थापित करने के पीछे जिनेन्द्र भक्त सेनाध्यक्ष चामुण्डराय का क्या उद्देश्य और प्रयोजन रहा होगा? यह जिज्ञासा सहज स्वाभाविक ही है।

यदि यही जिज्ञासा कोई चामुण्डराय के सामने प्रगट करता तो सर्वप्रथम तो तत्त्ववेत्ता जिनागम के मर्मज्ञ सिद्धान्त चक्रवर्ती आचार्य नेमीचन्द के शिष्य चामुण्डराय आचार्य अमृतचन्द के कथनानुसार अपनी अकर्तृत्व भावना को ऊर्द्ध रखते हुए यही कहते कि — "भैया! मैंने इसमें क्या किया? मैं तो मात्र विकल्पों का कर्त्ता हूँ और विकल्प मेरा कर्म है। पर पदार्थ रूप पाषाण में तो जो होने वालाथा, वही हुआ। मैंने तो मात्र अपना विकल्प ही किया है। हाँ, उस मूर्ति के निर्माण में मेरा विकल्प निमित्त अवश्य बना है। इस कारण व्यवहार से मुझे उसका कर्त्ता कहा गया है।

वस्तु में तो जब/जहाँ/जो होना होता है; तब/वहाँ/वही होकर रहता है। उसे इन्द्र और जिनेन्द्र भी टस से मस नहीं कर सकते। उस कार्य के अनुसार सब कारण भी स्वत: मिलते जाते हैं।

जैसा कि स्वामी अकलंकदेव ने कहा है—

तादृशि जायते बुद्धि, व्यवसायोऽपि तादृश:।
सहाया तादृश: सन्ति यादृशि भवितव्यता।।

अर्थात् जैसी होनहार हो, जैसा भवितव्य हो; तदनुसार विकल्प कर्ता की बुद्धि हो जाती है, पुरुषार्थ (प्रयत्न) या कार्य सम्पन्न होने की विधि भी तदनुसार स्वत: संचालित (सक्रिय) हो जाती है। सहायक कारण के रूप में निमित्त कारण भी वैसे ही स्वत: मिलते जाते हैं। सभी पाँचों समवाय स्वत: अपने आप मिलते जाते हैं और कार्य निष्पन्न हो जाता है।

यही बात योगीश्वर बाहुबली की मूर्ति के निर्माण पर घटित होती है। जब जैसा कार्य होने की योग्यता आई,

काल पका; तदनुसार चामुण्डराय की बुद्धि उस दिशा में सक्रिय होती गयी और भवितव्यानुसार कार्य सम्पन्न हो गया। यद्यपि सारी दुनिया चामुण्डराय को ही बहुमान देती है। सो उनका कहना भी सही है; क्योंकि वे निमित्त की मुख्यता से ऐसा कहते हैं। लोकव्यवहार में सारा कथन निमित्त की मुख्यता से ही होता है।

यहाँ यह जानना भी जरुरी है कि जिससे जगत् पूज्य परमात्मपद प्राप्त करते हैं वह आध्यात्मिकता क्या वस्तु है, जिसकी पृष्ठभूमि में ऐसे मुक्तिरूप वटवृक्ष के बीज विद्यमान होते हैं उसे जानना अति आवश्यक है, अन्यथा हमें उस मार्ग पर चलना सम्भव नहीं हो सकेगा। अत: आध्यात्मिकता की संक्षिप्त व्याख्या प्रस्तावित है—

लौकिक दृष्टि से यद्यपि समस्त धार्मिक क्रियाओं को आध्यात्मिक क्रियायें कहने का व्यवहार है, परन्तु आत्मज्ञान के बिना बाह्य धार्मिक क्रियाओं के आध्यात्मिक कहना सार्थक नहीं है। 'आध्यात्मिक' शब्द अध्यात्म का भाव वाचक है और अध्यात्म शब्द अधि+आत्म इन दो शब्दों से बना है, जिसका अर्थ है आत्मज्ञान। यद्यपि यह 'आत्मज्ञान' शब्द कहने-सुनने में सरल लगता है, परन्तु एतदर्थ आत्मद्रव्य का यथार्थ स्वरूप समझना अत्यन्त आवश्यक है।

यद्यपि 'आध्यात्मिक' शब्द का शाब्दिक अर्थ आत्मा का ज्ञान होता है, परन्तु भरत-बाहुबली की आध्यात्मिक पृष्ठभूमि के सन्दर्भ में 'आध्यात्मिक' शब्द का अर्थ बहुत व्यापक है। यह जैनदर्शन के 'वस्तुस्वातन्त्र्य' के सिद्धान्त का द्योतक है। जैनदर्शन के अनुसार जगत् में जो अनन्त आत्माएँ हैं, वे सभी स्वभाव से सिद्ध परमात्मा की भाँति शुद्ध-मात्र ज्ञातादृष्टा हैं, कारण परमात्मा हैं, पर्याय में पूर्णता प्राप्त करने के लिए पूर्ण स्वतन्त्र एवं स्वावलम्बी हैं, परमुखापेक्षी नहीं हैं।

न केवल आत्माएँ, बल्कि पुद्गल का प्रत्येक पुद्गल का परमाणु भी अपने आपमें परमेश्वर है, अपने परिणमन में पूर्ण स्वतन्त्र है। सभी द्रव्य स्वभाव सेध्रुव होते हुए भी अपने-अपने निरन्तर परिणमन करते रहते हैं। इन्हें परिणमाने वाला अन्य कोई नहीं है। सभी द्रव्य उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य स्वभावी हैं। अत: एक द्रव्य दूसरे द्रव्य का कर्त्ता-भोक्ता नहीं है।

इस प्रकार की सच्ची समझ और श्रद्धा वाले व्यक्ति ही आध्यात्मिक व्यक्ति हैं। इसी श्रद्धा के बल पर भरत और बाहुबली घर में रहते हुए भी गृह विरत थे।

यद्यपि चारित्र मोह के निमित्त और अपनी वर्तमान पुरुषार्थ की कमजोरी के कारण राज-काज करने का भाव एवं न्याय-नीत से अपने साम्राज्य की सुरक्षा और बढ़ाने का भाव भी आता था; पर श्रद्धान में कोई कमी नहीं थी, तभी तो आत्म सम्मुखता का पुरुषार्थ जागृत होते ही अपने-अपने स्वकाल में सारे राज-काज के रागात्मक विकल्प शमित हो गये और उनका राग वैराग्य में बदल गया। उस बीजरूप में विद्यमान आध्यात्मिकता अंकुरित हो उठी और दोनों ही भ्राता मुक्तिमार्ग अग्रसर होकर परमात्मा बन गये।

हम भी उन्हीं के आदर्शों पर अग्रसर होकर शीघ्र परमात्मा बनें— इस मंगल भावना के साथ विराम।

ॐ नम:।

●

गोम्मटेश्वर बाहुबली : एक नया चिन्तन

– डॉ. हुकमचन्द भारिल्ल, जयपुर

भारत एक विशाल देश है। उत्तर में हिमालय से लेकर दक्षिण में कन्याकुमारी तक हजारों किलोमीटर लम्बाई में फैले इस भारतवर्ष में रहन-सहन, खान-पान एवं भाषा आदि अनेक विभिन्नताएँ भी इससे कम नहीं हैं। अनेक जातियों और सम्प्रदायों का भी यह भारत अजायबघर है।

इस प्रकार अखण्ड भारत की एकता के शत्रु साम्प्रदायिकता, जातिवाद, भाषावाद, धार्मिक उन्माद आदि अनेक विघटनकारी तत्त्वों के रहते हुए भी यह भारत यदि संगठित है, एकता के सूत्र में आबद्ध है; तो उसका एकमात्र कारण हमारे ये तीर्थ हैं, जो उत्तर से लेकर दक्षिण एवं पूर्व से पश्चिम तक फैले हुए हैं। ये एक ऐसे मजबूत सूत्र हैं, जिनमें विभिन्न वर्णों और गन्ध वाले पुष्प सुगठित रूप से पिरोये हुए हैं, संगठित हैं और सुशोभित हो रहे हैं। तीर्थों रूपी सूत्र में आबद्ध होकर भारत की इन विभिन्नताओं ने एक रंग-बिरंगे सुगन्धित पुष्पों की आकर्षक माला का रूप ले लिया है; विघटनकारी विभिन्नता ने आकर्षक एकता का रूप ले लिया है।

यह भी एक विचित्र संयोग ही कहा जाएगा कि श्रमण-संस्कृति के चौबीसों तीर्थङ्कर और वैदिक-संस्कृति के चौबीसों अवतार उत्तर भारत में ही हुए हैं तथा दोनों ही संस्कृतियों के प्रमुख आचार्य दक्षिण भारत की देन हैं।

यद्यपि यह तथ्य भारत के सभी धर्मों, संस्कृतियों और तीर्थों पर समान रूप से प्रतिफलित होता है, तथापि यहाँ जैनधर्म और श्रमण संस्कृति के सन्दर्भ में विचार अपेक्षित है।

जैनधर्म व श्रमण संस्कृति से सम्बन्धित जितने भी सिद्धक्षेत्र हैं, वे सभी उत्तर भारत में हैं, एक भी सिद्धक्षेत्र दक्षिण भारत में नहीं है। अत: दक्षिण भारत वाले तो सिद्धक्षेत्रों की वन्दना करने के लिए उत्तर भारत में सहज आते; पर यदि दक्षिण भारत में गोम्मटेश्वर बाहुबली की इतनी विशाल मूर्ति नहीं होती तो उत्तर भारत के धार्मिक यात्री दक्षिण भारत किसलिए जाते? यह एक विचारणीय प्रश्न है।

दक्षिण भारत में इतनी विशाल मूर्ति के निर्माण के कारण अनेक हो सकते हैं और ऐतिहासिक एवं किंवदन्तियों के आधार पर अनेक बताये भी जाते हैं, पर मेरी दृष्टि में सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण कारण दक्षिण-भारत में धार्मिक इतिहास या पुराणों के अनुसार तीर्थङ्करों के कल्याणक आदि महत्त्वपूर्ण स्थान न होने के कारण उत्तर भारत के धार्मिक यात्रियों को दक्षिण भारत आने के लिए आकर्षण पैदा करना भी हो सकता है।

यदि सम्मेदशिखर और गिरनार पर कोई आकर्षक मन्दिर या मूर्ति न हो तो भी लोग उनकी यात्रा अवश्य करेंगे; कारण कि इन क्षेत्रों का सम्बन्ध तीर्थङ्करों के पञ्चकल्याणकों से है। पर दक्षिण भारत का सम्बन्ध तीर्थङ्करों के पञ्चकल्याणकों से न होने के कारण जब तक कोई विशेष आकर्षण न होगा, उत्तर भारत के यात्रियों का इतनी दूर आना, कम से कम उस युग में तो असम्भव ही था, जबकि यातायात के साधन सुलभ न थे। उत्तर से दक्षिण जाने में वर्षों लग जाते थे, रास्ते में अगणित कठिनाइयाँ थीं, जान की बाजी लगाकर ही जाना पड़ता था।

जिसने इस विशाल मूर्ति का निर्माण कराया है, उसके हृदय में यह भावना भी अवश्य रही होगी कि ऐसे आश्चर्यकारी जिनबिम्ब की स्थापना की जावे कि जो हिमालय की तलहटी तक अपना आकर्षण बिखरे सके। मूर्ति

के उत्तराभिमुख होने से भी इस बात की पुष्टि होती है।

उसकी भावना रही हो या न रही हो, पर इसमें कोई सन्देह नहीं कि हजार वर्ष से आज तक उत्तर भारत के जैन यात्रियों की दक्षिण यात्रा का आकर्षण बाहुबलीजी की यह विशालकाय मूर्ति ही रही है। दूसरा आकर्षण मूड़बद्री में विराजमान रत्नमयी जिनबिम्ब भी हैं। इनकी यात्रा करने के लिए लाखों यात्री प्रति वर्ष उत्तर भारत से दक्षिण भारत की ओर जाते हैं, बाहुबलीजी के दर्शनों की पावन भावना से खिंचे चले जाते हैं और उनके गुणगान करते वापस आते हैं। इतनी आकर्षक मूर्तियाँ बहुत कम होती हैं जो अपने आकर्षण से मूर्तिमान को भुला दें। बाहुबली का विशाल जिनबिम्ब ऐसा ही है कि लोग दर्शन करते समय मूर्ति के ही गीत गाते दिखाई देते हैं, मूर्तिमान की ओर उनका ध्यान ही नहीं जाता।

इस प्रकार की चर्चा करते लोग आपको कहीं भी मिल जावेंगे कि क्या विशाल मूर्ति है, पत्थर भी कितना साफ व बेदाग है, हजार वर्ष में कहीं कोई क्रेक भी नहीं आया। क्या मलक है, क्या दमक है, हजार वर्ष तक तो उसका पॉलिश भी फीका नहीं हुआ। धन्य है उस कारीगर को जिसने इसे गढ़ा है, वह भी कम धन्य नहीं जिसने इसे गढ़ाया है, आदि न जाने कितने गीत गावेंगे उनके जिन्होंने बनायी है, बनवायी है, या फिर पत्थर पॉलिश की चर्चा करेंगे। इन सबकी चर्चा में वे कहीं नहीं आवेंगे जिनकी यह मूर्ति है, जिन्होंने युग के आदि में घोर तपस्या कर सर्वप्रथम मुक्ति प्राप्त की थी। लोगों को हजार वर्ष याद आते हैं, हजार वर्ष की महिमा आती है, मूर्ति को हजार वर्ष हो गए; पर जिसकी यह मूर्ति है; उसे कितने हजार वर्ष हुए, इसकी ओर ध्यान नहीं जाता, महिमा नहीं आती।

सामान्य मूर्तियाँ तो मूर्तिमान की याद कराने वाली होती हैं, पर यह तो ऐसी अद्वितीय मूर्ति है जो दर्शक को इतनी अभिभूत कर देती है कि वह स्वयं को तो भूल ही जाता है, मूर्तिमान को भी भूल जाता है।

उत्तर और दक्षिण को जोड़ने वाली इस विशाल मूर्ति के सामने जब महामस्तकाभिषेक के अवसर पर बीस प्रान्तों से आये बीस भाषा-भाषी लाखों लोग खड़े होंगे, तब वे सब भेदभाव भूलकर यह अनुभव अवश्य करेंगे कि हम सक इस एक देव के उपासक है, एक हैं। इस एकता की प्रतीक है यह विशाल मूर्ति तथा बाहुबली के असीम धैर्य एवं ध्यान की भी प्रतीक है कि जिसमें उनके शरीर पर बेलें चढ़ गयी, जहाँ वे खड़े थे, वहाँ सर्पों ने बिल बना लिए; पर उनका धैर्य भंग नहीं हुआ, ध्यान भंग नहीं हुआ।

वे अन्तर में गये सो गये, फिर बाहर ही नहीं और कुछ क्षणों को उनका उपयोग आत्मा से हटा भी तो तत्काल फिर उसी में लगाने के उग्र पुरुषार्थ में लग गये। यद्यपि ऐसा कई बार हुआ पर वे उसी में लगे रहे और अपने अन्तिम लक्ष्य सर्वज्ञता को प्राप्त कर उसी में मग्न हो गये।

इस लघु निबन्ध के रूप में भगवान् बाहुबली को प्रणामाञ्जलि अर्पित करते हुए मैं इस मूर्ति और मूर्तिमान के सम्बन्ध में प्रचलित कथाओं और दन्त-कथाओं की चर्चा नहीं करना चाहता, क्योंकि एक तो वे इतनी चर्चित हो चुकी हैं, हो रही हैं और होंगी कि उनकी चर्चाओं में जाने से पिष्टपेषण के अतिरिक्त और कुछ नहीं होगा। दूसरे सम्बद्ध-असम्बद्ध बहुचर्चित चर्चाओं को दुहराकर गम्भीर पाठकों के समय का अपव्यय भी मुझे इष्ट नहीं है। मैं तो कुछ ऐसी चर्चा करना चाहता हूँ कि जो हमें उस मार्ग की ओर प्रेरित कर सके जिस मार्ग पर वह महातपस्वी युग की आदि में चला था और जिसका आख्यान हजार वर्ष से नहीं, अपितु युग की आदि से ही प्रेरणा देता आ रहा है।

जैन-साहित्य में भगवान् बाहुबली

– प्रो. डॉ. पुष्पलता जैन

जैन-परम्परा में भगवान् बाहुबली स्वाभिमान, साहस, बल और आत्मविश्वास के प्रतीक है। उन्होंने आदिनाथ स्वामी से भी पहले मोक्ष प्राप्त कर आत्मतप की श्रेष्ठता को जहाँ सिद्ध किया वहीं त्रेसठ शलाका पुरुषों की परिधि से बाहर रहकर भी भगवान् के अभिधान को प्राप्त किया। वे मूलत: अयोध्यावासी थे पर उन्होंने अपना कार्यक्षेत्र पोदनपुर बनाया, जो चाहे तक्षशिला हो या बम्बई का समीपवर्ती भाग या फिर श्रवणबेलगोला के रूप में दक्षिणापथ का कोई हिस्सा। यह इस तथ्य का प्रतीक तो है ही कि उनका चुम्बकीय व्यक्तित्व किसी परीधि में नही बाधा जा सकता। वे जाति, सम्प्रदाय, धर्म और सीमा से परे थे। यही कारण है कि उन्हें समग्र भारतवासी एक स्वर से आज भी सम्मान देते हैं, उनकी पूजा-अर्चना करते हैं।

यहाँ हम प्राचीन और अर्वाचीन जैन-साहित्य में वर्णित भगवान् बाहुबली पर उपलब्ध साहित्य का एक सर्वेक्षण प्रस्तुत कर रहे हैं जिससे यह अनुमान लगाया जा सकता है कि भरत-बाहुबली का प्रसंग लेखकों के बीच कितना लोकप्रिय और मनभावन रहा है। इस सर्वेक्षण को हम संस्कृत, प्राकृत-अपभ्रंश और हिन्दी भाषाओं में लिखित साहित्य तक ही अपने आपको सीमित रखेंगे।

१. संस्कृत-काव्य में बाहुबली कथा

सर्वप्रथम हम पौराणिक महाकाव्यों की ओर दृष्टिपात करें। कवियों ने तीर्थङ्करों पर जो भी महाकाव्य लिखे हैं उनमें प्रसंगवश भरत-बाहुबली का कथानक स्वभावत: आ गया है। महापुराण (आदिपुराण और उत्तरपुराण) आचार्य जिनसेन और गुणभद्र की विशाल महाकृति है। प्रथम ४७ पर्व आ. जिनसेन ने लिखे और शेष ४८-७६ तक पर्वों की रचना गुणभद्र ने की। इसमें कुल १९२०७ (११४२९ ७७७८) अनुष्टुप हैं। जिनसेन (सन् ७६३-८४३) ने आदिपुराण में तीर्थङ्कर ऋषभ के दशपूर्वभवों और वर्तमान भव का तथा भरत-बाहुबली के चरित्र का विस्तारपूर्वक वर्णन किया है। भरत-बाहुबली का विशेष सन्दर्भ २६ से ३८वें पर्वों तक आया है जिनमें भरत चक्रवर्ती की चक्ररत्न प्राप्ति से लेकर दिग्विजय तथा नगर-प्रवेश के पूर्व भरत-बाहुबली युद्ध, बाहुबली का वैराग्य एवं दीक्षा तथा भरत द्वारा ब्राह्मण वर्ण की स्थापना को अपना वर्ण्यविषय बनाया है।

इसी आधार पर दामनन्दि (शक सं. ९६९) का पुराणसार संग्रह, पं. आशाधर का त्रिषष्टि स्मृतिशास्त्र (वि.सं. १२९२), भट्टारक सकलकीर्ति का आदिपुराण-उत्तरपुराण, उपाध्याय पद्मसुन्दर का रायमल्लाभ्युदय, आचार्य हेमचन्द्र का त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित (वि.सं. १२२६), अमरचन्द्र सूरि का चतुर्विंशति जिनेन्द्र संक्षिप्तचरितानि (सन् १२३८), मेरुतुंग का महापुरुषचरित (१३वीं शती), मेघविजय उपाध्याय का लघुत्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित (वि.सं. १७०९) विशेष उल्लेखनीय है। कुछ स्वतन्त्र पौराणिक महाकाव्य हैं जिनमें भरत-बाहुबली के प्रसंग आये हैं। जैसे— आचार्य रविषेण (७वीं शती) के पद्मपुराण के चतुर्थ पर्व में आयी बाहुबली, कथा विनयचन्द्र का आदिनाथचरित (वि.सं. १३००), सकलकीर्ति का आदिनाथपुराण (१५वीं शती)। प्रथम चक्रवर्ती पर स्वतन्त्र रूप से लिखा गया महाकवि आशाधर (वि.सं. १२३७-१२९६) का

भरतेश्वराभ्युदय काव्य, कमलप्रभसूरि का पुण्डरीकचरित (वि.सं. १३७२), अज्ञात कविकृत बाहुबलिचरित्र, भट्टारक चन्द्रकीर्ति का वृषभदेवपुराण (वि.सं. १६८१) और रत्नाकरवर्णी का भरतेश वैभव (सन् १५५१)। इनमें रत्नाकरवर्णी का भरतेश वैभव संस्कृत के गीतगोविन्द से भी उच्चकोटि का काव्य है। कर्नाटक में तो यह लोगों का कण्ठहार बना हुआ है। संगीत की दृष्टि से यह काव्य बेजोड़ है।

इनके अतिरिक्त जिनेश्वर सूरि का कथाकोषप्रकरण (ई. ११०८), सोमप्रभकृत कुमारपाल प्रतिबोध (११९५ ई.), धनेश्वर सूरि का शत्रुञ्जय माहात्म्य (१३-१४वीं शती), पुण्यकुशलगणि का बाहुबली महाकाव्य भी उल्लेखनीय हैं। इनमें से हम भरत बाहुबली महाकाव्य पर आगे विचार कर रहे हैं जिनके अनुवादक मुनि दुलहराज हैं और जो जैन विश्व भारती, लाडनूं राजस्थान से १९७४ में प्रकाशित हुआ था।

२. प्राकृत और अपभ्रंश में बाहुबली कथा

तीर्थङ्कर ऋषभदेव पर प्राकृत में आदिनाहचरियं, रिसभदेवचरियं जैसे स्वतन्त्र काव्य और चउप्पन्न महापुरिसचरियं, वसुदेवहिण्डी, पउमचरिय, जम्बूदीवपण्णत्ति आदि जैसे संयुक्त काव्य हैं जहाँ आदिनाथ के साथ ही भरत और बाहुबली की कथा का प्रासंगिक रूप से वर्णन हुआ है। इनके अतिरिक्त कल्पसूत्र, आवश्यकनिर्युक्ति, आवश्यकचूर्णि, उत्तराध्ययनसूत्र की टीका जैसे ग्रन्थों में भी बाहुबली के जीवन प्रसंगों का उल्लेख मिलता है पर आश्चर्य का विषय है कि स्वतन्त्र ग्रन्थों का प्रणयन इस कथा पर बहुत कम हुआ है। शुभशीलगणि द्वारा विरचित भरतेश्वर बाहुबलि वृत्ति नामक ग्रन्थ प्राकृत में अवश्य मिलता है जिसमें बाहुबली कथा का वर्णन हुआ है।

लगता है, बाहुबली कथा कतिपय विकास के चरणों से गुजरी है। वसुदेवहिण्डी (चौथी शती) में बाहुबली कथा का संक्षिप्त रूप है। पउमचरिय में उनके मान कषाय का कोई उल्लेख नहीं। दीक्षा लेने के बाद ही केवलज्ञान होने का उल्लेख मिलता है (४.३८)। इसी तरह जंबुदीवपण्णत्ति में ऋषभ और भरत-बाहुबली के पारिवारिक सम्बन्धों का कोई उल्लेख नहीं। यहाँ तक्षशिला की जगह बहली का राज्य बताया गया है जिसे स्वतन्त्र राज्य के रूप में बाहुबली को ऋषभदेव ने दिया था। यह राज्य तक्षशिला के समीप अवस्थित था।

भरतेश्वर— बाहुबली वृत्ति में दोनों के बीच बारह वर्ष का भयंकर युद्ध हुआ बताया है जबकि पउमचरिय (४.४३) और आवश्यकचूर्णि (पृ. २१०) में अहिंसक युद्ध का प्रस्ताव बाहुबली ने रखा था ऐसा उल्लेख मिलता है। यह युद्ध कहीं दृष्टियुद्ध और मल्लयुद्ध के रूप में रहा है, कहीं जलयुद्ध को भी जोड़ दिया गया। जिनदासगणि महत्तर ने उसमें वाग्युद्ध भी सम्मिलित कर दिया। कहीं स्वरयुद्ध या दण्डयुद्ध को जोड़कर यह संख्या पांच कर दी। इन युद्धों में भरत की अपेक्षा बाहुबली को अधिक नीतिनिष्ठ के रूप में प्रस्थापित किया गया है।

बाहुबली कथा में चक्रप्रहार का मोटिफ एक विशिष्ट स्थान रखता है। वैराग्य के कारणों में यह कारण अन्यत्र दिखायी नहीं देता। इसका उल्लेख लगभग सभी कथाकारों ने किया है। पउमचरिय में उनकी मान कषाय का उल्लेख नहीं है, पर आगे के प्राकृत-ग्रन्थों में यह मिलता है कि बाहुबली ऋषभदेव के पास दीक्षा लेने इसलिए नहीं गये, क्योंकि उन्हें वहाँ पूर्व दीक्षित अपने छोटे भाइयों को नमस्कार करना पड़ता। इस मान कषाय ने उन्हें केवलज्ञान नहीं होने दिया। इसके बाद कुछ ऐसे भी पौराणिक ग्रन्थ है जहाँ 'मैं भरत के राज्य में खड़े होकर तपस्या कर रहा हूँ।'' इस प्रकार की मानकषाय केवलज्ञान प्राप्ति में बाधक रही, इसका वर्णन है।

जयन्तीचरित पर मलयप्रभसूरि की वृत्ति में ५६ गाथायें हैं जहाँ ऐसी ही मानकषाय का उल्लेख है। ऋषभदेव की पुत्री ब्राह्मी तपस्वी बाहुबली को इस मानकषाय से मुक्त होने की सलाह देती है। कथा की एक परम्परा यह भी है कि भरत स्वयं बाहुबली को इस मानकषाय से मुक्त होने की सलाह देते हैं।

आचार्य कुन्दकुन्द (प्रथम शती ई.) का भावपाहुड कदाचित प्रथम ग्रन्थ है जिसमें बाहुबली की इस मानकषाय का उल्लेख हुआ है (गाथा ४४)। तिलोयपण्णत्ति (५-६वीं शती) में यतिवृषभ ने उन्हें चौबीस कामदेवों में एक माना है। धर्मदासगणि की उवएसमाला में बाहुबलि दृष्टान्त प्रकरण में भरत और बाहुबली की कथा वर्णित है जो काफी अलंकृत शैली में है।

आचार्य नेमिचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्ती (१०वीं शती) की गोम्मटेस थुदि तो बड़ी लोकप्रिय रचना है ही, जिसका हिन्दी, कन्नड़ आदि भाषाओं में अनुवाद हुआ है।

३. हिन्दी-काव्य में बाहुबली कथा

हिन्दी जैन-काव्य में बाहुबली पर संस्कृत-प्राकृत की अपेक्षा अधिक लिखा गया है। उसमें हिन्दी के आदिकाल से लेकर आधुनिक काल तक प्रभूत ग्रन्थ उपलब्ध होते है। उनमें जो भी ग्रन्थ उपलब्ध हो सके हैं उनका विवरण हम यहाँ दे रहे हैं। इस विवरण को हम निम्न भागों में विभाजित कर सकते हैं— (१) रासा, वेलि आदि साहित्य, (२) प्रबन्धकाव्य, (३) नाट्य साहित्य, (४) पूजा-स्तोत्र साहित्य, (५) उपन्यास, (६) ऐतिहासिक/शोधात्मक साहित्य, (७) अन्य साहित्य।

१. रासा-साहित्य

रासा-साहित्य में भरतेश्वर बाहुबलिराय, जिनवररास, भरतबाहुबलिरास, बाहुबलि चौपई आदि का विवेचन हुआ है।

२. प्रबन्ध-काव्य

प्रबन्ध-काव्य के दो भेद है — महाकाव्य और खण्डकाव्य। बाहुबली कथा पर तीन महाकाव्य और एक खण्ड-काव्य लिखा गया है। महाकाव्यों में सर्वप्रथम डॉ. रमेशकुमार बुधौलिया का "परे जय-पराजय के" प्रकाशित हुआ नरसिंहपुर से १९८१ में। दूसरा महाकाव्य 'ऋषभायण' के शीर्षक से डॉ. छोटेलाल नागेन्द्र का निकला जैन भवन, मुरादाबाद से १९८७ में और तीसरे महाकाव्य का सृजन किया 'ऋषभायण' नाम से ही आचार्य महाप्रज्ञ ने जो जैन विश्वभारती लाडनूं से १९९९ में प्रकाशित हुआ। खण्डकाव्य की श्रेणी में प्रसिद्ध कवि मिश्रीलाल जैन का ही 'गोम्मटेश्वर' काव्य प्रकाश में आया है (राहुल प्रकाशन, गुना, १९८०)।

३. नाट्य-साहित्य

रूपक (नाटक)/नाटिका किसी भी परम्परागत कथा या नायक के व्यक्तित्व को समझने/समझाने का एक प्रभावक माध्यम है। भरत और बाहुबली की जीवन रेखाएं रूपक और एकाकी के माध्यम से लेखकों ने प्रस्तुत की है। विष्णु प्रभाकर, कस्तूरचन्द्र कासलीवाल, युगल आदि कुछ ऐसे लेखक हैं जिन्होंने इस माध्यम को स्वीकार किया है।

४. उपन्यास

ऐतिहासिक उपन्यासकार इतिहास और कल्पना का समन्वय करता है। वह इतिहास अथवा पौराणिक कथाओं या घटनाओं से जुड़े तथ्यों का संग्रह कर अपनी कल्पना द्वारा उन्हें अधिक आकर्षक, मनोरंजक, प्रभावशाली रूप में चित्रित करता है। आनन्द प्रकाश जैन, नीरज जैन जैसे विख्यात लेखकों ने इस विधा का उपयोग बाहुबली के व्यक्तित्व को चित्रित करने के लिए किया है। बाहुबली कथानक पर आधारित सबसे पहला उपन्या ''तन से लिपटी बेल'' आनन्द प्रकाश जैन द्वारा लिखा गया जो अहिंसा मन्दिर प्रकाशन, दिल्ली से सन् १९७० में प्रकाशित हुआ।

५. ऐतिहासिक / शोधात्मक साहित्य

बाहुबली की पौराणिक कथा के ऐतिहासिक तथ्यों को शिलालेखों और प्राचीन ग्रन्थों से खोजकर विद्वानों ने व्याख्यायित किया है। उनमें लक्ष्मीचन्द्र जैन, सतीश कुमार जैन, जस्टिस मांगीलाल जैन, नीरज जैन आदि विद्वानों का अच्छा योगदान है।

६. पूजा, गोमेटेश थुदि, स्तोत्र आदि साहित्य

आचार्य नेमिचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्ती द्वारा रचित गोम्मटेस थुदि प्राकृत में उपजाति वृत्त में लिखी जो माधुर्य और भक्ति रस से ओतप्रोत रचना है। इसमें ८ छन्द हैं जिनके अन्त में 'तं गोम्मटेसं पणमामि णिच्चं' की टेक है। इसके अनेक गद्य-पद्यानुवाद हुए हैं। सर्वप्रथम गद्यानुवाद आचार्य विद्यानन्दजी का है जो १९७९ ई. में जैन मठ श्रवण बेलगोल से प्रकाशित हुआ था। यह अनुवाद सरल, और सुबोध शैली में हुआ है। दूसरा अनुवाद डॉ. देवेन्द्र जैन का है जो उनकी अनुवाद कृति बाहुबलि आख्यान के अन्त में प्रकाशित हुआ है।

बाहुबलि विषयक दिगम्बर - श्वेताम्बर-परम्परा

उपर्युक्त साहित्यिक पर्यवेक्षण से यह स्पष्ट हो जाता है कि भ. बाहुबलि की लोकप्रियता जितनी दिगम्बर-परम्परा में है उतनी श्वेताम्बर-परम्परा में नहीं दिखायी देती। दोनों परम्पराओं की मान्यताओं में भी कुछ अन्तर है। श्वेताम्बर-परम्परा भरत को अनासक्त कर्मयोगी मानता है जल में अलिप्त कमल के समान। गृहस्थावस्था में रहते हुए भी वे अलिप्त रहे और उन्होंने उसी भव में ही कैवल्य प्राप्त किया, यह कल्पसूत्र की टीकाओं से पता चलता है। ''मूर्च्छा परिग्रहः'' की व्यावहारिकता चूंकि श्वेताम्बर-परम्परा का आदर्श है इसलिए भरत की अनासक्ति को अधिक मान्यता वहां मिली जबकि बाहुबली की वृत्ति अभिमान का प्रतीक मानी गयी। यही कारण है कि श्वेताम्बर मन्दिरों में बाहुबली की स्वतन्त्र प्रतिमाएं नहीं मिलती, भरत के साथ उनकी प्रतिमाएं उकेरी गयी हैं।

इसके विपरीत दिगम्बर-परम्परा में बाहुबली को जिन प्रतिमा के समान पूज्य माना गया है। इसका मुख्य कारण यह है कि दिगम्बर-परम्परा कठोर साधना में विश्वास करती है और बाहुबली जैसी कठोर साधना का अन्य उदाहरण नहीं मिलता। यहाँ मन्दिरों में बाहुबली की प्रतिमाएं बहुत मिलती हैं, उतनी भरत की नहीं। भरत-बाहुबली की कथावृत्त दोनों परम्पराओं में सम्मान्य होने के बावजूद आचार्यों ने उसे अपनी-अपनी परम्परानुसार मोड़ देने का प्रयत्न किया है। ये अन्तर-बिन्दु इस विस्तृत निबन्ध में दृष्टव्य हैं।

१. दिगम्बर-परम्परा में पुन्नाटसंघीय जिनसेन के हरिवंशपुराण और स्वयम्भू के पउमचरिउ तथा रविषेण के पद्मपुराण को छोड़कर प्राय: किसी ने भी भरत-बाहुबली की सेनाओं के बीच युद्ध होने का उल्लेख नहीं किया। श्वेताम्बर-परम्परा में भी वसुदेवहिण्डी, आवश्यकचूर्णि, चउप्पन्न महापुरिसचरिय और त्रिषष्टिशलाकामहापुरुषचरित्र दोनों सेनाओं के बीच हुए किसी युद्ध का उल्लेख नहीं करते जबकि विमलसूरि का पउमचरिय, शालिभद्रसूरि का भरतेश्वर बाहुबली रास तथा पुण्यकुशलगणि का भरत-बाहुबली महाकाव्य इस प्रकार के युद्ध का उल्लेख करते हैं।

२. हिंसक युद्ध से विरत रहने के लिए दिगम्बर-परम्परा में जिनसेन का आदिपुराण और स्वयम्भू का पउमचरिउ यह उल्लेख करते हैं कि अहिंसक युद्ध का प्रस्ताव मन्त्रीगण करते हैं, परन्तु रविषेण के पद्मपुराण में स्वयं बाहुबली से यह प्रस्ताव रखाया गया है। श्वेताम्बर-परम्परा में भी ये दोनों परम्पराएं मिलती हैं। आवश्यकचूर्णि, चउप्पन्नमहापरिसचरिय (शीलांक) एवं पउमचरिय (विमलसूरि) में बाहुबलि स्वयं अहिंसक प्रस्ताव रखते दिखायी देते हैं जबकि त्रिषष्टिशलाकापुरुषचरित्र (हेमचन्द्र) भरतेश्वर बाहुबलि रास व भरतेश्वर बाहुबलि वृत्ति में यह कार्य देवगणों से कराया गया है।

३. दिगम्बर-परम्परा प्राय: बाहुबलि के मन में मानकषायरूपी शल्य के अस्तित्व की बात करती है जिसके कारण उन्हें केवलज्ञान की प्राप्ति नहीं हो पाती पर जैसे ही तीर्थङ्कर ऋषभदेव से इस शल्य का पता चलता है, भरत स्वयं बाहुबलि के पास जाकर, ससम्मान इस शल्य का निराकरण करते हैं। बाहुबलि इससे सन्तुष्ट होकर निःशल्य होकर केवलज्ञान प्राप्त कर लेते हैं, परन्तु श्वेताम्बर-परम्परा में बाहुबली में मानकषाय की शल्य का होना तो सभी आचार्यों ने माना है पर उसे दूर करने के लिए ऋषभदेव की दोनों पुत्रियां (ब्राह्मी और सुन्दरी) साध्वियां अपने भाई बाहुबलि के पास उद्‌बोधन देने पहुंचती हैं और उनका उद्‌बोधन पाकर बाहुबलि निःशल्य हो जाते हैं, केवलज्ञान प्राप्त कर लेते हैं। दिगम्बर-परम्परा में आर्यिका के द्वारा किसी श्रमण भिक्षु के लिए उद्‌बोधन की परम्परा दिखायी नहीं देती।

४. दिगम्बर-परम्परा में साधारणत: दृष्टियुद्ध, जलयुद्ध और मल्लयुद्ध का उल्लेख आता है जबकि श्वेताम्बर-परम्परा में पांच युद्धों का वर्णन मिलता है — दृष्ट, मुष्टि, स्वर, बाहु और यष्टि या दण्डयुद्ध।

इस तरह संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश और हिन्दी भाषाओं में अभी तक भगवान् बाहुबलि पर प्रकाशित साहित्य का एक संक्षिप्त मूल्यांकन प्रस्तुत किया गया है। अभी कतिपय ऐसी भी अनेक कृतियां होगी जो हमारे दृष्टिपथ में न आई हों। इसका तात्पर्य यह नहीं कि वे स्तरीय नहीं हैं। वस्तुत: यह हमारी अज्ञानता और अजानकारी का फल है कि हम उन्हें प्राप्त नहीं कर सके।

●

मध्ययुग के जैन-काव्यों में बाहुबलिचरित

– डॉ. प्रेमचन्द्र रांवका, जयपुर

मध्ययुग (१०वीं शती से १७वीं शती तक) में जैन कवियों द्वारा निबद्ध साहित्य सामाजिक, सांस्कृतिक एवं आध्यात्मिक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण सामग्री प्रस्तुत करता है। इस युग का जैन-साहित्य भारतीय वाङ्मय का अपरिहार्य अंग है। इस मध्यकाल में जैन सन्त भक्त कवियों ने संस्कृत, अपभ्रंश, गुजराती, राजस्थानी व हिन्दी-भाषा में विशाल परिणाम में जैन-साहित्य रचा है। जैनाचार्यों, सन्तों एवं कवियों का भाषा-विशेष से कभी आग्रह नहीं रहा। उन्होंने सभी दृष्टियों से अपने समय में प्रचलित सभी भाषाओं में सभी विधाओं में लेखनी चलायी। यही कारण है कि प्राय: सभी प्राच्य भाषाओं में जैन कवियों द्वारा रचित साहित्य मिलता है।

मानवीय मूल्यों की प्रतिष्ठा और उसके विकास में मध्यकालीन जैन-साहित्य की प्रभावकारी भूमिका रही है। जैनधर्म-दर्शन जीवन्त धर्म है। उसमें मनुष्य की स्वतन्त्रता और समानता को सर्वाधिक महत्त्व दिया गया है। मनुष्य के गौरव और उसकी मुक्ति के व्याख्याता सहस्राधिक जैन कवि हो गये हैं। लेकिन शास्त्र भण्डारों में बन्द होने से उनका सम्यक्रूपेण मूल्याङ्कन नहीं हो पाया है।

जैन-साहित्य का निर्माण यद्यपि आध्यात्मिक धार्मिक भावना से प्रेरित होकर किया गया है; पर वह सम-सामयिक जीवन से कटा हुआ नहीं है। जैन कवि जनसामान्य के समीप रहे है। जैन-साहित्य तत्कालीन सामाजिक, सांस्कृतिक जीवन को समझने का सच्चा बैशेमीटर है। वहां जीवन की पवित्रता, नैतिक मर्यादा और उदात्त जीवनादर्शों का व्याख्याता होने के कारण यह साहित्य समाज के लिए सच्चा पथ-प्रणेता है। इसका अध्येता निराशा में आशा का सम्बल पाकर अन्धकार से प्रकाश की ओर चरण बढ़ाता है। काल को कला में, मृत्यु को मङ्गल में और ऊष्मा को प्रकाश में रूपान्तरित करने की क्षमता इस साहित्य में है।

ऐतिहासिक महापुरुषों के जीवनचरित को आधार बनाकर काव्य लिखने की प्रवृत्ति ७वीं शती से चली आ रही है। जैन-काव्यों के मुख्य प्रतिपाद्य त्रेसठ महापुरुषों के चरित्र है, जिनमें २४ तीर्थङ्कर, १२ चक्रवर्ती, ४ बलदेव, ९ वासुदेव और ९ प्रतिवासुदेव हैं। पुण्य पुरुषों के चरित्र वर्णित होने से ये पुराण एवं चरित-काव्य कहे जाते हैं। इनमें महापुराण (आदिपुराण, उत्तरपुराण), हरिवंशपुराण और पद्मपुराण। रामचरित आदि मुख्य ही परवर्ती कथाकाव्यों के ये आधार ग्रन्थ हैं।

प्रथम तीर्थङ्कर ऋषभदेव, उनके पुत्र द्वय भरत और बाहुबली के जीवनवृत्त को लेकर मध्ययुग के जैन कवियों ने संस्कृत, अपभ्रंश, राजस्थानी और गुजराती आदि भाषाओं में लघु-बृहद् महाकाव्यों (खण्ड एवं प्रबन्ध काव्यों) की रचनाएं की है। बाहुबलि प्रथम कामदेव थे। पिताश्री ने उन्हें पोदनपुर का राज्य दिया। भरत चक्रवर्ती के सारा भूमण्डल विजय करने के पश्चात् बाहुबलि ने उनकी अधीनता स्वीकार नहीं की। दोनों भाइयों में परस्पर युद्ध हुआ। बाहुबलि ने विजयी होने के बाद भी वैराग्य ले लिया और कठोर साधनोपरान्त पिता ऋषभदेव से पूर्व मुक्त हो गये। इसी आख्यान को लेकर आचार्य सन्त कवियों ने काव्य रचे।

जैनाचार्यों, सन्तों एवं कवियों ने प्रथम तीर्थङ्कर ऋषभदेव के साथ भरत और बाहुबली के जीवन चरित्र को समवेत एवं पृथक् रूप से भी रूपायित किया है। आठवीं शती के आचार्य जिनसेन के आदिपुराण में १०वीं शती के पुष्पदन्त के महापुराण में भरत बाहुबलि का वृत्त वर्णित है। आचार्य जिनसेन (प्रथम) के आदिपुराण में भरत बाहुबलि के आख्यान को सुनकर चामुण्डराय की माता को बाहुबलि की पोदनपुर (तक्षशिला- पाकिस्तान) स्थापित प्राचीन मूर्ति के दर्शन की अभिलाषा हुई थी।

संवत् १२४१ में रचित शालिभद्रसूरि का 'भरतबाहुबलिरास' राजस्थानी भाषा की संवतोल्लेख वाली प्रथम रचना है। इसमें २०३ पद्य है। १३वीं शती में वज्रसेनसूरि द्वारा ४५ पद्यों में विरचित भरतेश्वर बाहुबलि घोर ऐसी ही रचना है। ये दोनों रचनाएं रासा साहित्य की अपभ्रंश की अन्तिम, प्रारम्भिक व राजस्थानी की काव्यकला एवं भाषाविज्ञान के अध्ययन की दृष्टि से ये उपयोगी रचनाएं हैं। अपभ्रंश प्रभावित मरुगुर्जर-भाषा की इन दोनों रचनाओं में भरत-बाहुबलि का युद्ध वर्णित है। १५वीं शती के कवि धनपाल ने अपभ्रंश-भाषा में वि.सं. १४५४ में बाहुबलिचरित की रचना की। ये गुजरात के पुरवाड़ वंश के तिलक स्वरूप थे। १५वीं शती के भट्टारक सकलकीर्ति एवं ब्रह्म जिनदास के संस्कृत व हिन्दी में आदिपुराण एवं आदिनाथरास में भरत-बाहुबलि का जीवनचरित वर्णित है। ब्र. जिनदास के सं. १५०८ में रचित राम सारो में (जिसका उल्लेख हिन्दी के विदेशी विद्वान् फॉदर कॉमिल बुल्के ने रामकाव्य-परम्परा में किया है) ऋषभ, भरत व बाहुबलि का प्रसंग वर्णित है। बाहुबलि के सोमपुत्र से सोमवंश चला।

१६वीं शती के भट्टारक वीरचन्द्र ने (सं. १५५६-८२) बाहुबलि वेलि की रचना की यह एक लघु रचना है, जिसमें विभिन्न छन्दों का प्रयोग किया गया है। १७वीं शती के भट्टारक कुमुदचन्द्र ने 'भरतबाहुबलि' छन्द की सं. १६५६ में रचना की, जो खण्डकाव्य है। इसमें भरत-बाहुबलि के युद्ध का वर्णन है। इसमें दूत और बाहुबलि के सुन्दर उत्तर-प्रत्युत्तर है। १७वीं शती के भुवनकीर्ति की भरत बाहुबलि चौपइ रचना है। वि. की १७वीं शती में पुण्यकुशलगणि ने 'भरतबाहुबलिकाव्यम्' की संस्कृत भाषा में रचना की।

इस प्रकार मध्ययुग के जैन कवियों ने बाहुबलि के महनीय चरित्र को अपनी साहित्यिक विधाओं में व्यञ्जित किया है। काव्य-साहित्य में बाहुबलि पावन-पात्र हैं। मैंने अपने मूल विस्तृत आलेख में मध्ययुग के अनेक जैन काव्यों में वर्णित बाहुबलि के चरित्र का विस्तृत विवेचन किया है।

●

अमरचन्द्रकृत 'पद्मानन्द महाकाव्य' में भगवान् बाहुबली का चित्रण

— डॉ. शेखरचन्द्र जैन, अहमदाबाद

पद्मानन्द महाकाव्य अमरचन्द की संस्कृत में लिखी गयी श्रेष्ठ अमर कृति है। सन् १९३२ में बड़ौदा की ओरियण्टल इन्स्टीट्यूट द्वारा इसका प्रकाशन किया गया था। पू. अमरचन्दसूरि महान् जैन आचार्य एवं संस्कृत-भाषा के उत्कृष्ट पण्डित थे। आपने यह महाकाव्य जो भगवान् आदिनाथ का सम्पूर्ण चरित्र है उसे महाकाव्य की शैली में प्रस्तुत किया है। श्री अमरचन्दसूरिजी जिनदत्तसूरि के शिष्य थे, जिन्होंने विवेक-विलास नामक महाकाव्य की रचना की थी।

ऐसा कथन प्राप्त होता है कि गुरु-परम्परा में श्री राशिलसूरि महाराज अणहिलवाड़ शहर में चातुर्मास हेतु विराजमान थे। जहाँ पर मन्त्री पद्म एवं श्रावकों द्वारा चौबीस जिनेश्वरों का चरित्र सुनने के लिए समाज प्रार्थना करता है और आचार्यश्री जिनदत्तसूरीश्वर के श्रेष्ठ शिष्य और अपने गुरुभाई श्री अमरचन्द से उनकी प्रार्थना पूरी करने के लिए कहते हैं। इस प्रकार पद्म नामक मन्त्री द्वारा एवं समाज के समर्थन से श्री अमरचन्दसूरि ने २४ तीर्थङ्करों का जिनेन्द्र चरित्र उन्हें सुनाया जो सबको बड़ा ही रुचिकर लगा और इसी हेतु उन्होंने इस महान् संस्कृत महाकाव्य की रचना की। ऐसा उल्लेख मिलता है कि उन्होंने पद्मनाभ काव्य की रचना संवत् १२७७ में खम्भात में की थी। ऐसा भी उल्लेख है कि इस पद्मानन्द महाकाव्य पर कलिकाल सर्वज्ञ हेमचन्द्राचार्य के त्रिषष्ठिशलाकापुरुष का प्रभाव है। यह सत्य है कि आचार्य अमरचन्द ने इस महाकाव्य को लिखकर संस्कृत-साहित्य को समृद्ध किया है। विद्वान् श्री एच.आर. कापडियाजी ने तो इसकी तुलना कालिदास और भवभूति तक से की है। संस्कृत वाङ्मय की दृष्टि से यह संस्कृत-साहित्य की अमर कृति है।

कृति के १७वें सर्ग में भगवान् बाहुबली के चरित्र का, उनके शौर्य का एवं उनके वैराग्य का बड़ा ही आलंकारिक भाषा में वर्णन हुआ है। १७वें सर्ग के उपरान्त कवि ने प्रसंगानुसार १०वें और १३वें सर्ग में भी उनका उल्लेख किया है एवं उन्हें सिखाई गयी पुरुष, स्त्री, हस्ति एवं अश्व परीक्षण की कला का भी उल्लेख है।

कवि ने सर्वत्र कथानक के साथ प्रसंगानुसार अलंकृत भाषा में वर्णन प्रस्तुत किये हैं। चाहे वह नगर की सजावट का वर्णन हो या बाहुबली के रूप सौन्दर्य का वर्णन हो। जब ऋषभदेव विहार करते हुए बहली नामक देश की तक्षशिला नगरी के उपवन में पधारे और बाहुबलीजी समाचार प्राप्त करते हैं और सारी नगरी को सजाने का आदेश देते हैं, उसका एक ही उदाहरण देखें "तरंगों की तरह उछलते वस्त्रों की श्रेणी जैसे सौभाग्य लक्ष्मी का अंचल हो ऐसे शोभित होने लगी। हर स्थान ऐसा सुशोभित था मानो बाहुबली के गुणरूपी लक्ष्मी हेतु विलास करने के लिए कमल की शैय्या के समान थी।" इसी प्रकार उनके रूप, शृङ्गार, सेना आदि के बड़े ही आलङ्कारिक वर्णन कृति में किये गये हैं।

कृति में ऐसा उल्लेख है कि जब बाहुबली भगवान् आदिनाथ के विहार करने के कारण दर्शन नहीं कर सके तब मन्त्री ने उन्हें अनेक उदाहरण देकर समझाया और उनकी चरणपादुका की पूजा करने की सलाह दी एवं बाहुबली ने वज्र एवं मत्स्यादी से चिह्नित परमात्मा की दोनों चरणपादुकाओं का निर्माण कराया और चरणों की आसातना न हो इसलिए एक योजन ऊँचा, आठ योजन विशाल सहस्र किरणों से सूर्य की तरह चमकदार रत्नत्रय धर्मचक्र की स्थापना करायी। कृति में ऐसा उल्लेख है कि भगवान् आदिनाथ ने बाहुबली को तक्षशिला का राज्य प्रदान किया था।

दिग्विजय करने निकले भरत का वर्णन प्राय: सभी ग्रन्थों में समान ही है। भरत भी बाहुबली को अपनी आधीनता स्वीकार करने के लिए सन्देश भेजते है और बाहुबली भी उससे मना करते हैं और युद्ध करने के लिए तत्पर होते है, परन्तु उससे पूर्व उनके मन में एक प्रश्न हमेशा उमड़ता रहता है कि जब हमने उनका कोई नुकसान नहीं किया तो वे हमें इस प्रकार मजबूर क्यों कर रहे हैं?

जब हम पूरी कृति का अध्ययन करते हैं तो हमें दिगम्बर और श्वेताम्बर मान्यताओं में कुछ तथ्यों में स्पष्ट अन्तर दिखायी देता है, जो इस प्रकार है—

जैसाकि पहले उल्लेख कर चुके हैं कि भगवान् बाहुबली का चरित्र सभी सम्प्रदायों में लगभग समान है, परन्तु कुछ अन्तर भी दृष्टव्य है। दिगम्बर सम्प्रदाय में आचार्य जिनसेन का आदिपुराण सर्वमान्य पुराण है। इसमें भी भरत और बाहुबली के चरित्र को बड़े ही सुन्दर ढंग से प्रस्तुत किया गया है। कभी-कभी अमरचन्द की कृति को पढ़ते समय लगता है कि उन पर आदिपुराण का प्रभाव परिलक्षित है। जैसे बाहुबली द्वारा भरत के चक्र को एक कुम्हार का चक्र कहना आदि अनेक प्रसंगों में साम्यता है। यद्यपि युद्ध में दोनों पक्षों के नुकसान की चिन्ता प्रस्तुत हुई है। इसी प्रकार बाहुबली का वैराग्य और कैलाश पर पहुँचना सभी समान है, परन्तु दृष्टव्य अन्तर यह है कि जहाँ अमरचन्दजी ने बाहुबली के पास सुवेग नामक दूत को अपना सन्देश देकर भेजा वहाँ आदिपुराण में किसी दूत का नाम नहीं है। दूसरे अमरचन्दजी ने बाहुबली की राजधानी तक्षशिला अंकित किया है, जबकि आदिपुराण में यह पोदनपुर के नाम से उल्लिखित है। जहाँ अमरचन्दजी की कृति में इस युद्ध के विनाश की चिन्ता देवतागण करते हैं और देवतागण ही दोनों को समझाने का प्रयत्न करते हैं, और सफल भी होते हैं। वहाँ दिगम्बर सम्प्रदाय में देवताओं द्वारा समझाने के स्थान पर दोनों तरफ वे राजा, मन्त्रीगण युद्ध के विनाश पर चर्चा करके दोनों को समझाते भी हैं और युद्ध टालने के लिए मात्र दोनों के युद्ध की सम्मति प्राप्त करते हैं।

जहाँ श्रीअमरचन्दजी ने दोनों सेनाओं के आमने-सामने आने पर युद्ध का वर्णन किया है एवं अनेक योद्धाओं की मृत्यु आदि का वर्णन किया है वहाँ दिगम्बर शास्त्रों में किसी भी युद्ध का प्रारम्भ नहीं बताया है अपितु युद्ध से पहले ही दोनों पक्षों को यह समझाने का वर्णन है कि वे दोनों ही तीन प्रकार के युद्ध से निर्णय कर लें ताकि विशाल जनसंहार रोका जा सके। जहाँ अमरचन्दजी या श्वेताम्बर सम्प्रदाय की मान्यता के अनुसार दृष्टियुद्ध, वाग्युद्ध, भुजायुद्ध, मुष्टियुद्ध एवं दण्डयुद्ध की योजना है वहीं दिगम्बर सम्प्रदाय में मात्र जलयुद्ध, दृष्टियुद्ध और मल्लयुद्ध या बाहुयुद्ध की चर्चा है। श्वेताम्बर सम्प्रदाय में जलयुद्ध की चर्चा नहीं है जबकि दिगम्बर सम्प्रदाय में वाग्युद्ध, मुष्टियुद्ध और दण्डयुद्ध इन तीन की चर्चा नहीं है। इसी प्रकार जब बाहुबली को पूरा एक

वर्ष तपस्या करते हुए व्यतीत हो गया और केवलज्ञान उत्पन्न नहीं हो रहा था उस समय ब्राह्मी और सुन्दरी को उपदेश देने हेतु भगवान् ऋषभदेव ने भेजा, ऐसा उल्लेख है। जो उन्हें 'हे वीर! हाथी से नीचे उतरो' का उपदेश देती हैं और बाहुबली को एकाएक केवल ज्ञान प्राप्त होता है। दिगम्बर सम्प्रदाय में यह उल्लेख है कि एक वर्ष तक भगवान् बाहुबली ने घोर तपस्या की। उन्होंने अपने कर्मों को काटने के हेतु समस्त २२ परिषहों को सहा और उन पर विजय प्राप्त की। उन्हें मनःपर्याय ज्ञान तक का चतुर्थ ज्ञान भी हो गया लेकिन उनके मन में यह शल्य थी कि 'वह भरतेश्वर मुझसे संक्लेष को प्राप्त हुआ है अर्थात् मेरे निमित्त से उसे दुःख पहुँचा है– यह विचार बाहुबली के हृदय में विद्यमान रहता था।' जैसे ही भरत योगी बाहुबली की पूजा करते हैं तो बाहुबली का मन निश्चिन्त हो जाता है, विद्यमान शल्य दूर होती है और उन्हें केवलज्ञान की प्राप्ति होती है। ऐसे केवलज्ञानी की भरत बड़े ही भक्तिभाव से पूजा करते हैं। वह अनेक प्रकार से उनकी स्तुति करता है। बाहुबली अपनी इस तपस्या के दौरान अनेक ऋद्धियों को भी प्राप्त करते हैं। इसी प्रकार बाहुबली का अपने राज्य में भगवान् ऋषभदेव से मिलने जाना उनके न मिलने पर विलाप करना एवं मन्त्री के समझाने पर चरणपादुका की स्थापना व पूजा करना आदि उल्लेख दिगम्बर ग्रन्थों में नहीं है।

कृति में सबसे महत्त्वपूर्ण अंश है कथोपकथन के, जो भरत के दूत और बाहुबली के बीच एवं युद्ध के समय भरत और बाहुबली के बीच हुए। कृति की दूसरी सबसे बड़ी विशेषता है इसकी वर्णनशैली। कवि ने भगवान् ऋषभदेव, भरत, बाहुबली, नगर, सेना, चक्ररत्न इन सबका बड़ा ही मनोहारी आलङ्कारिक भाषा में वर्णन किया है जिसके अंश पढ़ने से मन प्रसन्न हो जाता है और सबसे बड़ी बात तो यह है कि भाषा वर्णन के अनुरूप है और उसका शब्द चयन ऐसा है कि जैसे पूरा चित्र ही सामने खड़ा हो जाता है। हमें महसूस होता है जैसे हम स्वयं यह सब देख रहे हों। जिन चार प्रकार के युद्धों का वर्णन किया है उसका वर्णन बड़ा ही हृदयङ्गम करने वाला है।

कायोत्सर्ग मुद्रा में खड़े बाहुबली की मुनि मुद्रा का वर्णन देखिए— "दुष्कर्मरूपी गहन जंगल में अत्यन्त निर्मल ध्यान अग्नि द्वारा कर्मों को जलाते हुए बाहुबली दावानल की विषम किरणों को सहन करने लगे। वे ग्रीष्म ऋतु की उड़ती धूल से ढक गये, परन्तु अन्तःकरण को पङ्करहित बना दिया। भयङ्कर मेघ वर्षा भी उनको चलित नहीं कर सकी। उनके चरणों के नीचे बहती हुई जल की धारा उनके चरणों को भिगो रही थी मानो कृष्ण और नील लेश्यायें उनसे दूर नहीं होना चाहती थीं। उनकी स्थिर देह हिमालय की स्थिरता से स्पर्धा कर रही थी। छह ऋतुओं में से कोई भी ऋतु उन्हें चलित नहीं कर सकी। देह के आसपास लतायें चढ़ गयी। लगता था जैसे मुक्तिरूपी स्त्री के नीलकमल की कान्ति से नेत्र कटाक्ष से व्याप्त हो गये हो, ऐसे वे सुशोभित हो रहे थे। उनके शरीर में पशु-पक्षियों ने अपने घोंसले बना दिये।"

कृति में वर्णन के साथ-साथ कवि ने आध्यात्मिक भावों को अधिक महत्त्व दिया है। चूँकि कृतिकार स्वयं जैन सन्त है। अत: प्रत्येक वर्णन में उनका लक्ष्य आध्यात्म का ही वर्णन रहा है और रस में भी शान्तरस ही प्रमुख रहा है। कवि ने अनेक अलङ्करों का प्रयोग किया है जिनमें उपमा, उत्प्रेक्षा, रूपक, मानवीकरण आदि उल्लेखनीय हैं। अनेक सूक्तिवाक्य इसके महत्त्वपूर्ण अंश हैं। पूरी कृति में ये भाव सर्वत्र बिखरे हुए हैं। अनेक उदाहरणों में से एक उदाहरण देखिए जब बाहुबली को आत्मग्लानि होती है तो वे सोचते हैं कि — 'अब मुझे

राज्य का लोभ और भरत के प्रति क्रोध को त्याग कर पिताजी के मार्ग पर चलते हुए दीक्षा ग्रहण करनी चाहिए। यदि यह राज्यलक्ष्मी ही सम्पूर्ण सुखदायक होती तो पिताजी इसका त्याग क्यों करते? मुझे तुरन्त इसका त्याग करना चाहिए।' ऐसा ही आत्मचिन्तन और आत्मनिन्दा का भाव भरत के मन में भी अन्त में प्रस्तुत हुआ है।

इस प्रकार यह एक उत्तम चरित्र काव्य कृति है जिसमें बाहुबली के उज्ज्वल, वीरतापूर्ण एवं त्यागमय जीवन की कथा अंकित है।

●

बाहुबली की राजधानी पोदनपुर तक्षशिला

– प्रो. प्रेमसुमन जैन, उदयपुर

तक्षशिला में बाहुबली का राज्य था, इसका उल्लेख प्राकृत के प्राचीन ग्रन्थों में उपलब्ध है। आचार्य विमलसूरि के पउमचरियं में कहा गया है कि बाहुबली तक्षशिला के राजा थे, जो कि राजा भरत के प्रतिकूल थे और वे उनकी आज्ञा नहीं मानते थे—

तक्खसिलाए महप्पा बाहुबली तस्स निच्च पडिकूलो।
भरहनरिन्दस्स सया, न कुणइ आणा-पमाणं सो।।

– (पउमचरियं, ४.३८)

आवश्यकनिर्युक्ति (पृष्ठ १८०-१८१) में कहा गया है कि उस उत्तरापथ में बाहुबली की राजधानी तक्षशिला थी— **'तत्थ बाहुबलिस्स रायहाणी तक्खसिला नाम।'**

इस ग्रन्थ के अनुसार भगवान्ऋषभदेव भी बाहुबली की राजधानी तक्षशिला गये थे। यथा—

ततो भगवं विहरमाणो बहलीविसयं गतो।
तत्थ बाहुबलिस्स रायहाणी तक्खसिला णामं।।

– (आवश्यकसूत्र निर्युक्ति, पृ. १८०-८१)

अर्थ— तब वे भगवान् वृषभ बहली प्रदेश में विचरण करते हुए बाहुबली की राजधानी तक्षशिला की ओर प्रस्थान कर गये।

आचार्य पूज्यपाद ने निर्वाणकाण्ड में, पोदनपुर में बाहुबली की वन्दना करने का उल्लेख किया है— 'बाहुबलि तह वंदामि पोदनपुरे।' यह पोदनपुर तक्षशिला का प्राचीन नाम है।

प्रसिद्ध विद्वान् प्रो. सी.डी. दलाल ने 'भविसयत्तकहा' की प्रस्तावना में पोदनपुर और तक्षशिला को एक ही नगर माना है। उन्होंने कहा है कि शक राजाओं ने तक्षशिला पर राज्य किया था, इसलिए इसे शाकेय नगरी भी कहा जाता था। प्रसिद्ध आगम विद्वान् मुनि जिनविजयजी ने भी अपना अभिमत व्यक्त किया है कि 'पोदनपुर तक्षशिला का दूसरा नाम प्रतीत होता है। विमलसूरि के 'पउमचरियं' में जहाँ-जहाँ तक्षशिला नाम आता है, वहाँ-वहाँ उसी के भाषान्तर स्वरूप पद्मपुराण में 'पोदनपुर' नाम है।

पोदनपुर और तक्षशिला दोनों की अवस्थिति सिन्धदेश के उत्तर में निश्चित होती है। लगता है तक्षशिला के निकट ही पश्चिमोत्तर में गान्धार की ओर पोदनपुर की अपनी स्वतन्त्र स्थिति रही और तब तक तक्षशिला का प्रादुर्भाव ही नहीं रहा होगा। दिगम्बर मान्यता में स्वीकृत उसी पोदनपुर नगर को बाद में श्वेताम्बर-परम्परा द्वारा तक्षशिला नाम दे दिया गया होगा।

हरिषेण कथाकोष (कथा २३) के पोदनपुर के सम्बन्ध में साधारण-सा संकेत इस प्रकार दिया

गया है—

अथोत्तरापथे देशे पुरे पोदननामनि।
राजा सिंहरथो नाम सिंहसेनास्य सुन्दरी।।३।।

इससे स्पष्ट होता है कि पोदनपुर नामक नगर उत्तरापथ देश में था।

इसी प्रकार कथा २५ में 'तथोत्तरापथे देशे पोदनाख्ये पुरेऽभवत्' यह पाठ है। इससे तो लगता है कि पोदनपुर दक्षिणापथ में नहीं, उत्तरापथ में अवस्थित था।

सोमदेव विरचित 'उपासकाध्ययन (यशस्तिलक चम्पू)' में लिखा है—

'रम्यकदेशनिवेशोपेतपोदनपुरनिवेशिनो।'

अर्थात् रम्यक देश में विस्तृत पोदनपुर के निवासी।

यहाँ भी पोदनपुर को रम्यक देश में बताया है। पुण्यास्रव कथाकोष कथा-२ में 'सुरम्य-देशस्य पोदनेश' वाक्य है। अर्थात् उसमें भी पोदनपुर को सुरम्य देश में माना है।

गोम्मटसार की गाथा ९६८ की संस्कृत टीका में तीन को नमस्कार किया गया है — (१) गोम्मट संग्रहसूत्र, (२) चामुण्डराय के जिनालय ऊपर स्थित गोम्मट जिण (नेमीश्वर का जिनबिम्ब) और (३) चामुण्डराय के द्वारा निर्मित 'दक्षिण कुक्कुट जिन'। यथा—

गोम्मट संगहसुत्तं गोम्मटसिहरुवरि गोम्मटजिणो य।
गोम्मटराय- विणिम्मिय दक्खिण कुक्कुडजिणो जयदु।। (गाथा, ९६८)

यहाँ पर भगवान् बाहुबली की मूर्ति को ही दक्षिण-कुक्कुड जिन कहा गया है।

इस उल्लेख से स्पष्ट है कि श्रवणबेलगोला में स्थित बाहुबली की मनोहारी प्रतिमा दक्षिण कुक्कुड जिन के रूप में प्रसिद्ध हुई तो उसके पूर्व उत्तर भारत के पोदनपुर (तक्षशिला) आदि के समीप कोई मूर्ति उत्तर कुक्कुड जिन के नाम से विख्यात रही होगी, जिसके कारण दक्षिण भारत की बाहुबली प्रतिमा को दक्षिण कुक्कुड जिन भगवान् कहना पड़ा।

उत्तर भारत में पोदनपुर (तक्षशिला) के समीप एक कुक्कुटगिरि नामक प्रसिद्ध पर्वत होने का उल्लेख ईसा पूर्व पाँचवीं शताब्दी के प्रसिद्ध वैयाकरण पाणिनि ने अपने ग्रन्थ में किया है।

उत्तर भारत की इस कुक्कुटगिरि पर ही सम्भवतः बाहुबली ने तपस्या की थी और इसी दौरान उस पर्वत पर रहने वाले कुक्कुट सर्पों ने उनके चरणों में बामियाँ बनायी होंगी। इन्हीं के कारण वह प्रदेश आवागमन के लिए दुर्गम माना जाने लगा था। इसी कुक्कुटगिरि पर तपस्या और कुक्कुट सर्पों से घिरे हुए बाहुबली उत्तर भारत के कुक्कुट जिन कहे जाते रहे होंगे। तभी चामुण्डराय के समय श्रवणबेलगोला के बाहुबली के 'दक्षिण कुक्कुटाजिन' कहा गया है।

हस्तलिखित अपभ्रंश बाहुबली चरित (धनपाल) में बाहुबली का राज्य काश्मीर तक फैला हुआ बताया गया है। इस ग्रन्थ में भरत अपने दूत को कहता है कि तुम बाहुबली के समीप तुरन्त काश्मीर जाकर उसे मेरा सन्देश दो। अयोध्या से दूत थोड़े दिनों में काश्मीर जाकर बाहुबली को सन्देश देता हैं बाहुबली से युद्ध करने भी भरत काश्मीर ही जाते हैं। इस ग्रन्थ के अनुसार ऐसा प्रतीत होता है कि बाहुबली का राज्य तक्षशिला से काश्मीर तक फैला हुआ था। वितस्ता नदी भी दोनों नगरों के समीप थी। एक जैन राजा द्वारा श्रीनगर को समृद्ध करने के पीछे भी यही भावना थी।

बाहुबलि-चरिउ : एक अप्रकाशित अपभ्रंश रचना

– डॉ. कस्तूरचन्द सुमन, श्रीमहावीरजी

अखिल भारतवर्षीय दिगम्बर जैन विद्वत्परिषद् स्वर्णजयन्ती वर्ष समापन समारोह के अवसर पर जून २००१ में प्रकाशित ज्ञानायनी के पृष्ठ १४६-१४७ में डॉ. श्री नेमिचन्द्र जी ज्योतिषाचार्य आरा ने अपने अध्यक्षीय भाषण में अनेक अप्रकाशित अपभ्रंश रचनाओं का नामोल्लेख किया है जिनमें कवि धनपाल रचित चौदहवीं शती की रचना बाहुबलिचरिउ का नाम भी सम्मिलित किया है। उन्होंने इसके प्रकाशन को प्राथमिकता दिये जाने की आवश्यकता दर्शायी है।

प्रस्तुत ग्रन्थ अठारह सन्धियों में है। प्रत्येक पृष्ठ में नौ पंक्तियाँ हैं। कम से कम इसके हिन्दी अर्थ सहित सम्पादन में ढ़ाई वर्ष का समय लगने की सम्भावना है। इस पावन अवसर पर इस अप्रकाशित रचना के प्रकाशन की ओर ध्यान देना आवश्यक है।

(२)

श्रवणबेलगोला के प्रकाशित शिलालेखों के सम्बन्ध में सुझाव

श्रवणबेलगोल के अभिलेख भारतीय ज्ञानपीठ दिल्ली द्वारा जैन शिलालेख संग्रह, भाग प्रथम में प्रकाशित हुए हैं। अभिलेखों के मूलपाठ पंक्तिबद्ध नहीं हैं। अनुस्वारों के स्थान पर अनुनासिकों का व्यवहार हुआ है। यही नहीं मूलपाठों में भी कहीं-कहीं परिवर्तन-परिवर्द्धन किया गया है।

मैंने चन्द्रगिरि के समस्त लेखों में सुधार किया है। उनके मूलपाठ कर्णाटिका भाग दो के अनुसार लिपिबद्ध किये है। मूलपाठों का हिन्दी अनुवाद भी दिया है। प्रयुक्त श्लोकों में व्यवहृत छन्दों का परिचय देते हुए मूलपाठों की वर्तमान स्थिति का नामोल्लेख भी किया है। जो मूलपाठ कन्नड़ लिपि में रहे उन्हें कन्नड़भाषी विद्वान् श्री जागीरदार जी से परामर्श कर लिपिबद्ध किया है। ३०३ लेख है। यदि इनका भी इस अवसर पर प्रकाशन हो तो संस्कृति की बड़े सेवा होगी। आगे भारतीय जैन अभिलेखों का सांस्कृतिक अध्ययन किया जा सकेगा। कृपया इस सन्दर्भ में भी प्रयत्न कीजिएगा।

●

श्री गोमटेश्वर स्तुतिमालै

– डी. जम्बूकुमारन, पोलल, चेन्नई

इस काव्य-ग्रन्थ में १२८ तमिल श्लोक के द्वारा गोमटेश्वर के इतिहास के साथ-साथ, उनके जीवन की घटनाओं का विवेचन है। जैनधर्म के सिद्धान्तों को कवि ने काल्पनिक शक्तियों का भरपूर प्रयोग करके एक भक्त भगवान् के सामने अपने जन्म पापों को दूर कर मोक्ष पद की प्रार्थना करता है। इसमें दस-पन्द्रह श्लोकों में कर्नाटक प्रान्त में जहाँ-जहाँ भी बाहुबली की मूर्तियाँ है उनका भी वर्णन अतिसुन्दर ढंग से किया है। अन्य कुछ श्लोकों में श्रवणबेलगोला में स्थित चामुण्डराय द्वारा निर्मित भव्य मूर्ति के अंग-प्रत्यंगों को भक्ति भाव से भरपूर वर्णन किया है।

यह ग्रन्थ श्री श्रवणबेलगोला, श्री चन्द्रगिरि महोत्सव (२९.१.०१ — ७.२.०१) में एस.डी.जे.एम.ए. समिति द्वारा प्रकाशित है। इस महोत्सव में तमिल में अनूदित क्रिया-कलाप, सम्मेदशिखर पूजा-विधान नामक दो ग्रन्थ भी तमिल में प्रकाशित किया गया है।

The Images of Bhagwan Bahubali and their Features and Importance

- Prof. Dr. Maruti Nandan Pd. Tiwari, Varanasi

Bhagawāan Bāhubalī, also known as Gommaṭeshvara in southern tradition, occupies singularly venerated position in Ianin tradition and worship and hence in visual art. It is particularly important to note that Bāhubalī was neither a Jina (or Tīrthaṅkara - highest in Jaina worship) nor does he figured in the list of the 63 Śalakāpurushas (great men), enunciated in Jaina texts. Bāhubalī was the second son of the first Jina Rishabhanātha who in a fierce fight with his elder brother Bharata Chakravartin emerged as a victor and at the final moment of his triumph, the reality of the futility of worldly possessions dawned in Bāhubalī's mind and he consequently renounced the worldly possessions for attaining omniscienceand hence salvation. As an ascetic he performed rigorous austerities by standing erect in the Kāyotsarga posture (associated exclusively with the Jinas) for a whole year and finally attained Kevala-Jñāna (omniscience).

To suggest his rigorous tapas, Bāhubalī in visual representation is shown not only in the Kāyotsarga-mudrā, but also with creepers entwining his limbs. Another strange feature is the rendering of snakes, lizards and scorpions with Bāhubalī either shown nearby or creeping over his body. The presence of deer and sylvan backdrop is another feature to be found in Bāhubalī's images from Ellora. These representational characteristics distinctly suggest the aparigraha and long passage of time in which Bāhubalī was absorbed in tapas and deep trance. The Kāyotsarga-mudrā and nudity of Bāhubalī are symbolic of complete renunciation and perfect self-control. The profound observance of renunciation, non-violence and austerities inspired both the Śvetāmbara and Digambara Jainas to worship Bāhubaliī, as a result, became a powerful symbol as well as material image evocative of the aparigraha and self-sacrifice preached by the Jinas. The entwining creepers and the figures of scorpions, lizards, snakes and deer with Bāhubalī symbolize the intimate relationship and co-existence of man and nature and hence images of Gommaṭeshvara Bāhubalī thus can also be National symbol to suggest and sustain our notion and need of harmonious relationship between Man and Nature.

The literary references to Bāhubalī are found from about 4th century A.D. Of all such literary works, the Paumacariya of Vimalasūri (A.D. 473), the Vasudevahiṇḍī and the Āvaśyakaniryukti (c. early 6th century A.D.), the Padamapurāṇa of Raviṣeṇa

(A.D. 676), Harivamshapurāṇa of Jinasena (A.D. 783), the Ādipurāṇa of Jinasena (after A.D. 837), the Triṣaṣtshalakāpuruṣacaritra of Hemachandra (c. mid 12th century A.D.) and the Caturvimshati-Jina Carita of Amarchandra Suri (13th century A.D.) are the most important ones.

During the courseof my study I came across some such images of Bāhubalī, which had so far not been properly studied and which reveal some very significant iconographic features which led me to believ e that in Jaina tradition and art particularly in Digambara Jaina tradition both of North and Sluth India, a gradual process of elevating the position of Bāhubalī started as early as late 6th or early 7th century A.D. at Badāmī and Aihole. The process culminated in bringing Bāhubalī almost at par with the Jinas who were highest in Jaina worship. Through the concept and ikmages of Gommaṭeshvara Bāhubalī virtually a model was introduced in Jainism to suggest that even a common man through the observance of aparigraha and sadhanā can attain such an exalted position to become an object of highest veneration. It was not merely a coincidence that the tallest image in Jaina context was carved of Gommaṭeshvara Bāhubalī at Shravaṇbeḷgoḷ who was not a Jina. The final result of the process of this elevation of Gommaṭeshvara Bāhubalī was that in Karkal (Karnataka) inscription of A.D. 1432 he is referred to as Gommaṭa Jinapati and in the sculptures (c. 9th - 12th century A.D.) from Deogarh (U.P.) and Ellora (Maharashtra) the symbol of highest world power and royalty Bharata is shown sitting in the attitude of supplication at the feet of Gommaṭeshvara Bāhubalī. This combination of Bharata-Bāhubalī represents the very essence and soul of Indian culture wherein aparigraha and ahiṁsā are always at the top. Even today one may find highest political dignitary sitting at the feet of the spiritual preachers. The images of Gommaṭeshvara Bāhubalī thus carries very important and relevant socio-culturalmessage of India.

●

भगवान् बाहुबली : चित्रकला के परिप्रेक्ष्य में

– प्रो. डॉ. विमला जैन 'विमल', फिरोजाबाद

भगवान् बाहुबली आदि तीर्थङ्कर ऋषभदेव के पुत्र तथा महारानी सुनन्दा के नन्दन भरत चक्रवर्ती के अनुज, पोदनपुर के सम्राट् थे। उनका रूप लावण्य अद्वितीय था, अत: प्रथम कामदेव के रूप में पौराणिक पुरुष थे। सर्वार्थसिद्धि से च्युत हो इक्ष्वाकु वंश में जन्म ले चरम शरीर युग के प्रथम सिद्धेश्वर के रूप में अनुपमेय व्यक्तित्व के धनी थे। पिता प्रदत्त साम्राज्य के संरक्षक तथा स्व-प्रजा के सुख-शान्ति के संवर्धक थे। आदिगुरु ऋषभेश्वर ने उन्हें कामनीति, आयुर्वेद, स्त्री-पुरुष के लक्षण ज्ञान तथा अश्व-गज आदि के लक्षण जानने के तन्त्र एवं रत्न परीक्षा के सम्पूर्ण ज्ञान में पारङ्गत किया था। शान्तिप्रिय सौम्य स्वाभिमानी सम्राट् के रूप में सत्ता सुख का लौकिक जीवन हर्षानन्द से व्यतीत कर रहे थे। अग्रज भरत अयोध्यापति षट् खण्ड पृथ्वी विजय कर चक्ररत्न के साथ गृह नगर में प्रवेश करते हैं, परन्तु चक्र रूक जाता है अयोध्या में प्रवेश नहीं करता। अभी बन्धु-बान्धवों को जीतना शेष है।

भरतेश्वर के सभी अनुज सत्ता छोड़ जैनेश्वरी दीक्षा ले लेते है, परन्तु गोमटेश बाहुबली अधीनता ग्रहण नहीं करते है, अत: शक्ति परीक्षण के लिए युद्ध का बिगुल बज जाता है। मन्त्रियों के सद्परामर्श से हिंसक युद्ध, रक्त-पात टल जाता है और भरत-बाहुबली को आपस में शक्ति परीक्षण को कहा जाता है। शान्तिप्रिय परामर्शदाता जलयुद्ध, दृष्टियुद्ध तथा मल्लयुद्ध यह तीन प्रतियोगिता रखते हैं। गोमटेश बाहुबली सवा पाँच धनुष तथा भरतेश्वर मात्र पाँच धनुष उत्तंम थे। चक्रवर्ती का बल उसकी सेना, अस्त्र-शस्त्र परिकर में होता है। यहाँ दोनों भाइयों को निहत्थे शारीरिक शक्ति परीक्षण को उतारा गया था। तीनों प्रतियोगिताओं में महाबलेश्वर गोमटेश विजयी हो जाते हैं। अन्तिम युद्ध मल्ल क्रीड़ा में बाहुबली भरत को ऊँचा उठा स्नेह एवं आदर से नीचे जमीन पर खड़ा कर देते हैं। चारों तरफ से गोमटेश विजय की गूँज सुनायी देने लगती है। इस अनहोनी हार से भरत तिलमिला जाते है और चक्ररत्न चला देते हैं। चक्ररत्न बाहुबली की प्रदक्षिणा कर उन्हीं के पास रूक जाता है। भरत अत्यधिक लज्जित होते हैं तथा बाहुबली को वैराग्य हो जाता है। वे अग्रज के चरण स्पर्श कर इस अपमानजनक स्थिति के लिए क्षमा याचना करते हैं तथा तीर्थङ्कर ऋषभदेव के समवशरण में जा दीक्षा ले लेते हैं। एक वर्ष का 'प्रतिमायोग' ले अविचल एकासन से ध्यानस्थ हो जाते हैं। एक वर्ष होते-होते भरत चक्रवर्ती आ उनकी स्तुति करते हैं और उसी समय उन्हें केवलज्ञान की उपलब्धि हो जाती है।

इस अनुपमेय उदात्त कथानक को आदिपुराण (सचित्र) में महाकवि पुष्पदन्त ने अपभ्रंश-भाषा में महाकाव्य के रूप में लिखा है। इसका आधार महापुराण है। इसकी रचना ई.सन् ९५९ से ९६५ के मध्य हुई है। इस हस्तलिखित ग्रन्थ में ३४४ पत्र (६८७ पृष्ठ) तथा विषयानुकूल ५४१ रंगीन चित्र बनाये गये हैं। चित्रकार हरिनाथ कायस्थ ने दृष्टान्त चित्र के रूप में इस अनूठे कथानक को चारुशिल्प से सजा अद्वितीय तथा महान् दुर्लभ कृति बना दिया है। भरत बाहुबली कथानक ६०-६५ पृष्ठों में है और ५०-५५ चित्र इसी कथानक के है। प्रस्तुत आलेख में भगवान् बाहुबली के चित्रों की लोकप्रियता तथा प्राचीनता के विषय में भी बताया गया है।

मोहन-जोदड़ों, हड़प्पा के प्राप्त अवशेषों में लता मण्डप वेष्टित नग्नाकृति तथा जोगीमारा की गुफाओं में प्राप्त भित्तचित्रों में लतावेष्टित बाहुबली आदि चित्र प्रागैतिहासिक कला तथा प्राचीन कला में बाहुबली रूपांकन की लोकप्रियता का प्रमाण है। पोथी चित्रों में प्रस्तुत ग्रन्थ सचित्र आदिपुराण बहुत ही महत्त्वपूर्ण है। चित्रकला, काव्यकला, साहित्य और संगीत में ही नहीं मूर्तिकला में विश्व की अनुपम, अनूठी मूर्ति श्रवलबेलगोला की दशमी शताब्दी में बनी बाहुबली गोमटेश की ५७ फुट ऊँची प्रतिमा विश्व के आठ आश्चर्यों में सम्मिलित है। प्रस्तुत सचित्र ग्रन्थ इसी काल (दशवी शताब्दी) का आलेखित और रूपाकिंत महान् ग्रन्थ है।

प्रस्तुत आलेख में इस ग्रन्थ के दृष्टान्त चित्रों के रंगीन फोटोग्राफ (4) तथा फोटोस्टेट (7) संलग्न किये गये है, जो रूपाकृतियों का कलात्मक स्वरूप तथा आधिदैविक प्रतीकात्मक भाव व्यञ्जना को अभिव्यक्त कर रहे हैं। इस सन्दर्भ ग्रन्थ-सूची में आलेख की प्रामाणिकता स्पष्ट की गयी है। आलेख में काव्य, चित्र, मूर्तिकला के समन्वय से आध्यात्मिक छटा को उद्योतित किया गया है। काव्यकला श्रव्यकला के रूप में भावात्मक रसानुभूति कराती है वहीं चित्रकला दृश्यकला में रूपाभिव्यक्त कर नेत्रों को आनन्दित करती हुई हृदय को भावानुभूति प्रदान कर सरस कर देती है। इन पोथियों में दृष्टान्त चित्रों के माध्यम से विषय को हृदयांगम कराया गया है। ये लघु चित्र रूप भेद प्रमाण, भाव, सादृश्य, लावण्य योजना तथा वर्णिका भंग के अन्तर्गत रूप, रस, रंग की रम्यता में उत्कृष्ट है। कथानक के शोष्ठव को वृद्धिगत करने में अद्वितीय भूमिका का निर्वहन करते हैं।

आचार्य नेमिचन्द्र-सिद्धान्त चक्रवर्ती और गोम्मटेश्वर की प्रतिमा

– निर्मल जैन, सतना

आचार्य नेमिचन्द्र-सिद्धान्त चक्रवर्ती आर्ष-परम्परा के उन जाज्वल्यमान नक्षत्रों में से थे जिन्होंने साधना की उत्कृष्टता के साथ ही भगवान् महावीर की दिव्यध्वनि द्वारा निःसृत जैनदर्शन के कल्याणकारी गूढ़ सिद्धान्तों को सहज सरल भाषा में लिपिबद्ध करके श्रुत सम्पदा को अक्षय सम्पन्नता प्रदान की।

जिनवाणी के चार अनुयोगों में करणानुयोग अत्यन्त जटिल विषय माना जाता है। आचार्य नेमिचन्द्र महाराज ने इसी अनुयोग को विशेष रूप से चिन्तन का विषय बनाकर उस पर अपनी लेखनी चलायी। करणानुयोग में कर्म-सिद्धान्त और तीन लोक विवेचन दोनों सन्दर्भों में आचार्य महाराज ने शास्त्र सृजन किये। उनके द्वारा रचित गोम्मटसार (कर्मकाण्ड-जीवकाण्ड), लब्धिसार और क्षपणासार में कर्म प्रकृतियों का सूक्ष्म विवेचन हुआ है तथा त्रिलोकसार में उन्होंने जैन गणित के आधार पर तीनों लोकों की विशद व्याख्या की है। श्रुत सम्पदा के संवर्धन में उनका यह उपकार चिरकाल तक आत्मार्थियों के लिए प्रेरणा स्रोत रहेगा।

गंग राज्यवंश की तीन पीढ़ियों तक राज्य के प्रधानमन्त्री और सेनापति जैसे उत्तरदायित्वपूर्ण पदों का एक साथ निर्वहन करने वाले परमवीर चामुण्डराय ने आचार्य नेमिचन्द्र के चरणों में बैठकर ज्ञानार्जन किया, कन्नड़ और संस्कृत में शास्त्रों की रचना की। श्रद्धावान् श्रावक तो वे पहले से ही थे। उन्होंने अपनी माता काललदेवी की इच्छा पूर्ति के लिए आचार्य नेमिचन्द्र-सिद्धान्त चक्रवर्ती की प्रेरणा और आशीर्वाद से श्रवणबेलगोल के विन्ध्यगिरि पर्वत पर भगवान् बाहुबली की सत्तावन फुट उत्तुंग लोकोत्तर प्रतिमा की स्थापना करायी।

चामुण्डराय के एक नाम गोमट के कारण गोमटेश नाम से विख्यात एक हजार पच्चीस वर्ष पूर्व स्थापित प्रथम कामदेव बाहुबली की मूर्ति अपनी नयनाभिराम सुन्दरता, विशाल देहयष्टि, मनमोहक भावभंगिमा एवं वीतराग निर्निमेष दृष्टि जैसे अनेक कारणों से दर्शकों को इस प्रकार आकर्षित करती है कि सब ठगे से निहारते ही रहते हैं। इस जीवन्त प्रतिमा की कीर्ति चतुर्दिक व्याप्त है। देश-विदेश से आकर श्रद्धालु श्रावक ही नहीं सामान्य दर्शक भी मन्त्रमुग्ध होकर दर्शन करते हैं।

अनेक अतिशय भी इस प्रतिमा के साथ जुड़े हैं। मूर्ति की छाया नहीं पड़ती, उस पर पक्षी नहीं बैठते, हजार वर्ष बीत जाने पर भी उसकी चमक कम नहीं होती। मूर्ति चामुण्डराय द्वारा निर्मापित है इसका उल्लेख चरणों के आसपास कन्नड़, तमिल और मराठी में अंकित है।

●

भरत-बाहुबली की मूर्ति का प्रतिमा वैज्ञानिक अध्ययन

– नन्दलाल जैन, रीवा

प्रस्तुत आलेख में मूर्ति, मूर्ति-निर्माण कला, मरनक मापन तथा प्रतिमा लक्षणों के आधार पर भरत-बाहुबली की मूर्ति का अध्ययन किया गया है। मूर्ति पूजा देवोपासना का एक रूप है। यह अतीत के संरक्षण, अव्यक्त के व्यक्तिकरण, गुणस्मरण-शुभोपयोग, ध्यान-योग सिद्धि एवं भाव-पवित्रता की प्रतीक है। जैनों में मूर्ति-पूजा अतिप्राचीनकाल से है, पर जिन-मूर्तियां ईसा पूर्व कुछ सदियों से ही उपलब्ध होती हैं। मूर्ति पूर्णावयवी होनी चाहिए। इसके निर्माण में १६ द्रव्य काम आते है, पर जैन मूर्तियां पाषाण धातु या रत्नों से ही बनायी जाती है। प्रत्येक द्रव्य की प्रतिमा का विशेष फल होता है।

ऐसा प्रतीत होता है कि जैनों ने हिन्दुओं की अनेक मान्यताओं के समान प्रतिमाविज्ञान के मानव आकृति के आधार पर विकसित (मानव ही तो देव या जिन बनता है) मानक मान भी मत्स्यपुराण से लिए हैं। यह प्रतिमा के चारों रूप एवं छः अंगों से परिपूर्ण रूप से निर्मित हुए है। मूर्ति प्रायः १०८-१२० अंगुल या ९-१० ताल की होती है। यह देखा गया है कि मूर्ति की ऊंचाई किसी भी यूनिट में तो, उसके अंगोपांगों का अनुपात प्रायः स्थिर रहता है। भरत-बाहुबली की खड्गासन प्रतिमा के चित्र तथा वास्तविक मूर्ति के साथ मानक मान तथा कुछ अन्य प्रतिमाओं के मानों के तुलनात्मक आंकड़ों एवं निष्कर्षों को सारणीबद्ध कर यह बताया गया है कि भरत-बाहुबली की प्रतिमा में मानक माप-मान की यथार्थता ९०-९५ प्रतिशत तथा प्रतिमालक्षण शत-प्रतिशत रूप में पाये जाते है। फलतः यह प्रतिमा प्रतिमा-वैज्ञानिक दृष्टि से पूजनीय एवं वन्दनीय है।

आलेख में प्रसंगोपात्र अनेक विषय भी समाहित किये गये है।

●

श्री गोम्मटेश्वर बाहुबली की मूर्ति और उनका मस्तकाभिषेक

– कपूरचन्द पाटनी, गुवाहाटी

जिस पावन प्रतिमा ने एक हजार पचीस वसन्त, एक हजार पचीस बरसातें और मध्यकालीन अनेक संघर्ष देखे हैं वह पावन प्रतिमा आचार्य श्री नेमीचन्द्रजी सिद्धान्तचक्रवर्ती के सान्निध्य में सेनापति एवं प्रधान अमात्य श्री चामुण्डराय के द्वारा सन् ९८१ में स्थापित की गयी थी— उस पावन प्रतिमा का महामस्तकाभिषेक आगामी फरवरी २००६ में अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर मनाया जा रहा है। इस १०२५ वर्ष के दीर्घकालीन युग ने क्या नहीं प्रस्तुत किया— सब कुछ तो किया, संघर्ष की कमी नहीं रही, एक-दो नहीं अनेक-अनेक आक्रमण और युद्ध हुए— यहाँ तक कि विश्वयुद्ध भी हुए, अनेक नवीन संस्कृतियों ने जन्म लिया— सब कुछ सहन करते हुए महामानव जीवन्त बाहुबली की भांति अदम्य साहस के साथ यह प्रतिमा आज भी आकाश को छूते हुए हम सबके समक्ष खड़ी हुई है और ऐतिहासिकता, पावनता, त्याग एवं वीतरागता का पाठ पढ़ाने वाली यह पाषाण प्रतिमा किसी जीवन्त प्रतिमा से कम नहीं है।

जिस प्रकार यह बाहुबली प्रतिमा आज समस्त शिल्पकलाओं में अप्रतिम है उसी प्रकार बाहुबली स्वयं अपने समय में भी तो अप्रतिम ही थे— उनका बल, उनका ध्यान, उनका केवलज्ञान और उनका मोक्षप्रयाण सब कुछ तो अप्रतिम ही था। बाहुबली के पूज्य पिता तीर्थङ्कर वृषभदेव तो बाद में मोक्ष गये, पहले बाहुबली मोक्ष गये। वास्तव में बाहुबली में क्या-क्या गुण थे— इसका वर्णन लिखना शक्य नहीं है। भगवान् बाहुबली ने दीक्षोपरान्त— मोक्ष प्रयाण तक १ ग्रास भी आहार ग्रहण नहीं किया। लगता है समग्र मानवों की शक्ति मानों एक में ही समाहित होकर महामानव के रूप में प्रगट हो गयी थी।

भगवान् आदिनाथ के पुत्र बाहुबली प्रथम कामदेव थे। अद्वितीय सौन्दर्य, बल और पौरुष के धनी थे वे। भगवान् आदिनाथ अपने सभी पुत्रों को अपना-अपना राज्य सम्भला कर साधना व तप में लीन हुए और कैवल्यनिधि को प्राप्त कर चुके थे। तभी बड़े भ्राता भरत को चक्ररत्न की प्राप्ति हो चुकी थी और वे छह खण्ड विजय करने हेतु निकल पड़े थे। बाहुबली ने पूर्ण विनम्रता, आदर व सम्मान सहित भगवान् आदिनाथ से प्राप्त अपने राज्य की रक्षार्थ— भरत का आधिपत्य स्वीकार नहीं किया। परिणामस्वरूप होने वाले युद्ध की विभीषिका तो सुयोग्य मन्त्रियों की मन्त्रणा के फलस्वरूप टल गयी, पर सुनीतिपूर्वक हुए दृष्टि, जल और मल्लयुद्ध में भरत-बाहुबली पर विजय न पा सके, परास्त हो गये। पराजय की क्षुब्धता असह्य और विवेकहीन हो गयी और भरत ने चक्र का प्रहार कर दिया, परन्तु चक्र बाहुबली की प्रदक्षिणा देकर वापस लौट आया। इस घटना से बाहुबली संसार से विरक्त हो गये, राज्य छोड़ कर दिगम्बर मुनि हो गये और घोर तपस्या में लीन हो गये। पर वे भरत की भूमि पर खड़े हैं— मान की इस तनिक सी शल्य के कारण ज्ञान पर से आवरण हट नहीं सका। भरत को भगवान् आदिनाथ से जब इस तथ्य का पता चला तो वे बाहुबली की वन्दना करने आये और निवेदन किया कि किसका राज्य? किसी भूमि? स्वात्म से उसका कैसा सरोकार? बाहुबली को जैसे ही बोध हुआ— मानकषाय के बन्धन टूट गये और कैवल्य बोध से मुक्ति लक्ष्मी का वरण किया। उन्हीं बाहुबली भगवान् की

प्रतिमा विन्ध्यगिरि पर आज संसार को उनकी जीवन गाथा का स्मरण करा रही है। वहाँ ही चन्द्रगिरि पर्वत पर भद्रबाहु मुनिराज की तपोभूमि रही है— कितनी शान्त, कितनी मनोरम ! वहाँ का वातावरण साधना से सिक्त परमाणुओं का पूंज है, केन्द्र है।

श्रवणबेलगोला में प्राप्त एक शिलालेख में इस विशाल मूर्ति का परिचय इस प्रकार लिखा है— 'गोम्मटेश्वर' प्रथम तीर्थङ्कर ऋषभदेव के पुत्र थे। इनका नाम बाहुबली या भुजबली था। इनके ज्येष्ठ भ्राता भरत थे। ऋषभदेव के दीक्षित होने के पश्चात् भरत और बाहुबली दोनों भाइयों में साम्राज्य के लिए युद्ध हुआ। युद्ध में बाहुबली की विजय हुई। पर संसार की गति (राज्य जैसी तुच्छ चीज के लिए भाइयों का परस्पर में लड़ना) देख कर बाहुबली विरक्त हो गये और राज्य अपने ज्येष्ठ भ्राता भरत को देकर तपस्या करने के लिए वन में चले गये। एक वर्ष की कठोर तपस्या के उपरान्त उन्हें केवलज्ञान प्राप्त हुआ। भरत ने, जो सम्राट् हो गये थे, बाहुबली के चरणों में पहुँच कर उनकी पजा एवं भक्ति की। बाहुबली के मुक्त होने के पश्चात् उन्होंने उनकी स्मृति में उनकी शरीराकृति के अनुरूप ५२५ धनुष प्रमाण की एक प्रस्तर मूर्ति स्थापित करायी। कुछ काल के पश्चात् मूर्ति के आस-पास का प्रदेश कुक्कुट सर्पों से व्याप्त हो गया, जिससे उस मूर्ति का नाम कुक्कुटेश्वर पड़ गया। धीरे-धीरे वह मूर्ति लुप्त हो गयी और उसके दर्शन अगम्य एवं दुर्लभ हो गये। गंगनरेश रायमल्ल के मन्त्री चामुण्डराय ने इस मूर्ति का वृतान्त सुना और उन्हें उसके दर्शन करने की अभिलाषा हुई, पर उस स्थान (पोदनपुर) की यात्रा अशक्य जान उन्होंने उसी के समान एक सौम्य मूर्ति स्थापित करने का विचार किया और तदनुसार इस मूर्ति का निर्माण कराया।

इस मूर्ति का निर्माण किसी शिल्पी ने किया है यह निश्चित रूप से कुछ नहीं कहा जा सकता है। चन्द्रगिरि पर एक शिलाखण्ड पर भरतेश्वर की अपूर्ण मूर्ति है। इस पर अरिष्टनेमि का नाम अंकित है। उसी के आधार से लोग अनुमान लगा लेते हैं कि बाहुबलि मूर्ति का कलाकार अरिष्टनेमि रहा होगा।

मूर्ति प्रतिष्ठा का समय

बाहुबलीचरित में प्रतिष्ठा तिथि दी गयी है—

कल्क्यब्दे षट्शताख्ये विनुत विभव संवत्सरे मासि चैत्रे।
पंचाम्यां शुक्लपक्षे दिनमणि दिवसे कुंभलग्ने सुयोगे।।
सौभाग्ये मस्तनाम्नि प्रकटित भगणे सुप्रशस्तरं चकार।
श्रीमच्चामुण्डराजो वेल्गुलनगरे गोम्मटेश प्रतिष्ठाम्।।

अर्थात् काल्कि सं. ६०० में विभव संवत्सर में चैत्र शुक्ला पंचमी रविवार को कुम्भ लग्न, सौभाग्ययोग, मृगशिरा नक्षत्र में चामुण्डराय ने बेल्गुल नगर में गोमटेश की प्रतिष्ठा करायी।

इस निर्दिष्ट तिथि के सम्बन्ध में विद्वानों में मतभेद है। फिर भी पं. नेमिचन्द्र ज्योतिषाचार्य लिखते हैं कि "भारतीय ज्योतिष गणना के आधार पर विश्वसंवत्सर चैत्र शुक्ला पंचमी रविवार को मृगशिरा नक्षत्र का योग १३ मार्च सन् १९८१ में घटित होता है। अत:मूर्ति का प्रतिष्ठाकाल सन् ९८१ होना चाहिए।"

इस बाहुबली मूर्ति की सुन्दरता अपने आप में अपूर्व ही है। दोनों चरणों के आस-पास में सर्प की वामियां दिखायी गयी जिनके अग्रभाग से सर्प मुख फाड़े हुए देख रहे हैं। ऊपर चलकर लताएं बड़ी ही सुन्दरता से जांघों से निकलकर भुजाओं को वेस्टित कर रही है। मूर्ति के एक तरफ पाषाण में गहरे अक्षरों में खुदा हुआ है "चावुंडराजे करवियले, गंगराजे सुताले कर वियले।" यह मराठी-भाषा है। अर्थात् इस मूर्ति का निर्माण चामुण्डराय ने करवाया है और इसके चारों तरफ की प्रदक्षिणा गंगराज ने बनायी है।

इस मूर्ति को देखकर देश क्या विदेश के लोग भी भव्य शान्तमुद्रा से प्रभावित होकर अच्छे-अच्छे उद्‌गार व्यक्त करते रहते हैं। सो ऐसा प्रतीत होता है कि भगवान् बाहुबली ने प्रारम्भ में ध्यानावस्था से क्रूर पशु-पक्षियों को भी परम शान्ति प्राप्त करायी थी। उनके ध्यान के प्रभाव से जात-विरोधी जीव भी जन्मजात वैर को छोड़ कर परस्पर में प्रीति करने लगे थे। यही कारण है कि आज उनकी प्रतिमा के सामने भी जैनेतर लोग दिगम्बरत्व के प्रति द्वेष-भाव को छोड़ कर परम प्रीति को प्राप्त हो जाते हैं।

आज जैनों को इसके नग्नत्व का कितना गौरव है सो क्या शब्दों से कहा जा सकता है ? यहाँ तो इतना ही कहना पर्याप्त है कि भारतवर्ष में आज यही एक मूर्ति ऐसी है कि जो अनेक मूर्ति द्रोही आततायीजनों के दर्भावों को खण्डित कर नग्नता को, दिगम्बरत्व को जीवित रखे हुए हैं और दिगम्बर जैन अनुयायियों का मस्तक सारे विश्व में ऊंचा किये हुए है।

गोम्मटेश्वर स्वामी का दर्शन करने वाला प्रत्येक विचारशील व्यक्ति उनकी मौनी मुद्रा से बहुत कुछ सीखकर आता है और इतना अधिक सीखता है कि उनकी वीतरागता की छाप हृदयपटल पर सदा अंकित रहती है। उनके दर्शन से यह बात समझ में आ जाती है कि वीतराग भावों से पूर्ण दिगम्बर मुद्रा सर्वत्र शान्ति तथा निर्विकारता का साम्राज्य उत्पन्न करती है। पूज्यपाद स्वामी के शब्दों में कहना होगा कि वाणी के बिना प्रयोग किये वे आकृति से ही मोक्षमार्ग का उपदेश देते रहते हैं।

महामस्तकाभिषेक

भगवान् बाहुबली गोम्मटेश्वर की इस ५७ फीट ऊंची भव्य प्रतिमा की प्रतिष्ठा १३ मार्च सन् ९८१ में आचार्य नेमिचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्ती की उपस्थिति में सफलतापूर्वक सम्पन्न हुई थी। उस दिन इस दिव्य मूर्ति का पंचामृत से महामस्तकाभिषेक हुआथा। तब से लेकर आज तक प्रत्येक १२ साल के अन्तराल से इस महान् मूर्ति का महामस्तकाभिषेक हो रहा है। द्वितीय महामस्तकाभिषेक सन् ९९३ में सम्पन्न हुआ था। इस शुभ अवसर पर जैनधर्म की महान् प्रचारिका और दानशीला महिलारत्न अत्तिमाब्बे भी उपस्थित थी। ऐतिहासिक दृष्टि से इसके महामस्तकाभिषकों का वर्णन ई. सन् १५००, १५९८, १६१२, १६७७, १८२५ और १८३७ ई. के उत्कीर्ण शिलालेखों में मिलता है। इनमें कई मस्तकाभिषेक मैसूर नरेशों और उनके मन्त्रियों ने स्वयं कराये हैं। सन् १९०९ में भी मस्तकाभिषेक हुआ था, उसके बाद मार्च १९२५ में भी हुआ जिसे मैसूर नरेश महाराज कृष्णराज बहादुर ने अपनी तरफ से करायाथा और अभिषेक के लिए पांच हजार रुपये प्रदान किये थे तथा स्वयं पूजा भी की थी। इसके अनन्तर सन् १९४० में भी गोम्मटेश्वर की इस मूर्ति का महामस्तकाभिषेक हुआ था। उसके पश्चात् ५ मार्च १९५३ में महामस्तकाभिषेक किया गया था। उस समय भारत के कोने-कोने से लाखों जैन इस अभिषेक में सम्मिलित हुए थे।

इसके पश्चात् २१ फरवरी १९८१ में जो महामस्तकाभिषेक हुआ, वह सहस्रावधि-महामस्तकाभिषेक महोत्सव था। इस महोत्सव का महत्त्व पिछले महोत्सवों से बहुत अधिक रहा। कर्नाटक राज्य के उस समय के माननीय मुख्यमन्त्री गुंडुराव और उनके सहयोगी अनेक मन्त्रियों ने इस महोत्सव को राजकीय महोत्सव माना और राज्य की ओर से उसकी सारी तैयारियां की गयी। तत्कालीन प्रधानमन्त्री श्रीमती इन्दिरा गांधी और अनेक केन्द्रीय मन्त्रीगण भी उक्त अवसर पर पहुँचे थे।

१९ दिसम्बर १९९३ से प्रारम्भ इतिहास का नवम महामस्तकाभिषेक बीसवीं शताब्दी का अन्तिम आयोजन होने के कारण बहुत महत्त्वपूर्ण रहा। सबसे पहले श्री क्षेत्र पर महामहिम राष्ट्रपति डॉ. शंकरदयाल शर्मा का आगमन हुआ। उन्होंने मण्डप की वेदी पर बाहुबली भगवान् की पूजा करके मेले का उद्घाटन किया। बाद में प्रधानमन्त्री श्री पी.वी. नरसिम्हाराव ने पुष्पवर्षा द्वारा देश की जनता का नमन गोमटस्वामी के चरणों तक पहुँचाया। चारित्र-चक्रवर्ती आचार्य शान्तिसागर जी की परम्परा के विद्यमान आचार्य श्री वर्द्धमान सागरजी संघ सहित उत्सव में विराजमान रहे। दूरदर्शन के राष्ट्रीय कार्यक्रम में मस्तकाभिषेक का जीवन्त प्रसारण हुआ। श्री नीरज जैन, डॉ. श्रीमती सरयू दोशी और प्राचार्य नरेन्द्रप्रकाश की टीम ने हिन्दी और अंग्रेजी में चार घण्टों तक श्री क्षेत्र का इतिहास रेखांकित करते हुए गोमटस्वामी के सतरंगे अभिषेक का आँखों देखा विवरण प्रसारित किया। श्रवणबेलगोला के लिए यह उच्चस्तरीय प्रसारण एक ऐसी उपलब्धि थी जिसने विश्व के कोने-कोने तक गोमटेश्वर की मनमोहक छवि और उज्ज्वल कीर्ति की ध्वजाएँ फहरा दी।

गोमटेश्वर की मूर्ति कवियों, भावुक हृदयों के लिए सदा नवीन कल्पनाओं को प्रदान करती है। बारहवीं सदी के विद्वान् वोधण पण्डित ने 'नक्षत्र मालिका' नाम की २७ पद्यमय कविता द्वारा भगवान् का गुणगान कन्नड़ भाषा में किया है। इसके एक पद्य में कवि बड़ी मार्मिक बात कहता है कि —

"अत्यन्त उन्नत आकृति वाली वस्तु में सौन्दर्य का दर्शन नहीं होता है। जो अतिशय सुन्दर वस्तु होती है वह अतीव उन्नत आकार वाली नहीं होती है; किन्तु गोमटेश्वर की मूर्ति में यह लोकोत्तर विशेषता है कि अत्यन्त उन्नत आकृतिधारी होने पर भी अनुपम सौन्दर्य से विभूषित है।"

यथार्थ में महिमाशाली भगवान् गोमटेश्वर का जितना भी वर्णन किया जाय थोड़ा है। उनके दर्शन का आनन्द स्वानुभव का विषय है, जिसे मनुष्य कभी भी भूल नहीं सकता।

भारत की प्राचीन संस्कृति एवं त्याग और तपस्या की महान् स्मारक यह गोम्मटेश्वर की महामूर्ति युगों-युगों तक विश्व को अहिंसा और त्याग की शिक्षा देती रहेगी।

●

श्रवणबेलगोला के शिलाशासन

— पं० भरत कुमार काला, मुम्बई

शिलाशासन या शिलालेख उसका नाम है जिसपर तत्कालीन घटनाओं का उल्लेख कर लिखा जाता है। ये आलेख पत्थरों, लकड़ियों, पेपरों या ताडपत्रों पर अंकित किए जाते हैं, और पाये जाते हैं। ये ऐसे दस्तावेज होते हैं जिससे भाषा, साहित्य, संस्कृति, इतिहास, समाज एवं उसकी व्यवस्था आदि पर प्रकाश डालते है। ये दस्तावेज बड़े मूल्यवान् एवं महत्त्वपूर्ण होते हैं। किसी भी प्रकार की व्यवस्था की प्राचीनता एवं महत्ता का मूल्यांकन तथा परिस्थिति का आकलन इन दस्तावेजों-शिलालेखों से किया जाता है।

विश्वभर में इस प्रकार के बहुमूल्य शिलालेख यत्र-तत्र बिखरे हुए लाखों की संख्या में है। सभी देशों में पुरातत्त्व एक ऐसा स्वतन्त्र विभाग है जो इन्हीं दस्तावेजों की खोज करता है और उसपर प्रकाश डालने का एवं संरक्षण का उत्तरदायित्व निभाता है।

जैन संस्कृति, साहित्य, इतिहास, भाषा, एवं समाज की समय व्यवस्था पर प्रकाश डालनेवाले शिलालेख सर्वत्र प्रचुर मात्रा में फैले हुए या गढे हुए हैं जो खोदाई के बाद सामने आते हैं।

कर्नाटक प्रदेश में श्रवणबेलगोला एक ऐसा जैन तीर्थ है जहाँ पर तथा आस-पास में हजारों की संख्या में शिलालेख अंकित है। श्रवणबेलगोला एक स्थान है जहाँ पाँच सौ से भी अधिक शिलालेख पुरातत्ववेत्ताओं की दृष्टि में आये है। श्रवणबेलगोला में प्राप्त इन शिलालेखों को संगृहीत कर कर्नाटक सरकार के सहयोग से 'एपिग्राफिक कर्नाटिका' नामक वाल्यूम दो के रूप में प्रकाशित कर विश्व के पटल पर सबके जानकारी हेतु रख दिया गया है।

भारत पर जिस समय अंग्रेजों का शासन था उस समय इनके शासनकाल में श्री बी.एल. राइस नामक एक अंग्रेजी विद्वान् का श्रवणबेलगोला जैन तीर्थ पर स्थान-स्थान पर पहाड़ों की चट्टानों पर उकेरित शिलालेखों की ओर सर्वप्रथम ध्यान गया और उन्होंने ही सर्वप्रथम १४४ शिलालेखों को ढूँढ़ निकाल कर उस पर संशोधनात्मक प्रकाश डालते हुए अनेकों तथ्यों का परिचय विश्व पटल पर रखा। यह कार्य ई.स. १८८९ में हुआ।

यह कार्य आगे भी यथावत् चलता रहा। मैसूर विश्वविद्यालय के तत्त्वावधान में यह कार्य आगे बढ़ा। पुरातत्व के प्रमुख अधिकारी के रूप में नियुक्त श्री आर. नरसिंहाचार्य के निर्देशन में ई.स. १९२३ में श्रवणबेलगोला जैन तीर्थ से करीब ३६४ शिलालेखों को प्रकाश में लाया गया और इन्हें भी संगृहीत किया गया। इस तीर्थ पर जब-जब भी पुरातत्त्ववेत्ताओं का ध्यान गया तब-तब हर समय और-और शिलालेख सामने आते रहे, आ रहे है। ई.स. १९६५/१९६७ में श्री एस. शेट्टर ने ३६ शिलालेख खोज निकाले।

देशभर के शिलालेखों में बहुतायत शिलालेख श्रवणबेलगोला में केन्द्रित है। इतने शिलालेख एक साथ अन्यत्र नहीं मिलते।

श्रवणबेलगोला तीर्थ दो पहाड़ों एवं तलहटी में नगर इस तरह से बना हुआ है। इन दो पहाड़ों को छोटा पहाड़, बड़ा पहाड़ से भी जाना जाता है। इसका प्राचीनतम नाम कटवप्र के रूप में प्रचलित था। छोटा पहाड़ जो वर्तमान में चन्द्रगिरी के नाम से जाना जाता है। श्रवणबेलगोला का सबसे प्राचीन पुरातत्त्व की वास्तु है। इस पहाड़ पर करीब २७४ शिलालेख है और बड़े पहाड़ जो विन्ध्यगिरि के नाम से वर्तमान में विख्यात है, पर करीब १७२ शिलालेख तथा नगर में करीब ८० शिलालेख है। ३३ शिलालेख नगर के आस-पास पाये गये है। ये सभी आलेख ई.स. ६०० से १९वीं सदी तक के पाये जाते है। १०वीं सदी के पहले के उकेरित सभी शिलालेख छोटे पहाड़ पर चन्द्रगिरि पर पाये गये है। बड़े पहाड़ पर ई.स. ९८० के पूर्व का कोई शिलालेख नहीं मिलता। नगर के शिलालेख ई.स. १२वीं शताब्दी के और उसके बाद के मिलते है।

ये शिलालेख पहाड़ की चट्टानें पर, स्तम्भों पर, मानस्तम्भों पर, मन्दिर के बाहरी हिस्सों पर, शिला तथा मूर्तियों पर अंकित किये गये है। बहुत से शिलालेख पत्थरों पर उत्कीर्णित है। सबसे लम्बा तथा अलंकृत शिलालेख स्तम्भों पर छोटे पहाड़ पर मिलता है। यह पहाड़ चन्द्रगिरि पूर्व में चिक्कबेट्टा नाम से भी जाना जाता था। बड़ा पहाड़ दाड्डबेट्टा के नाम से प्रसिद्ध था।

इन शिलालेखों में छोटे पहाड़ पर अत्यन्त प्राचीन वह लेख है जो अन्तिम श्रुतकेवली भद्रबाहु एवं सम्राट् चन्द्रगुप्त सहित बारह हजार शिष्यों के साथ यहाँ आगमन का परिचय देता है। यह शिलालेख पहाड़ पर पार्श्वनाथ मन्दिर के दायी तरफ चट्टान पर उत्कीर्णित है। संत मल्लिसेन सम्बन्धित जो स्मारकस्तम्भ है वह तो कलापूर्ण है। यह पार्श्वनाथ बसदी (मन्दिर) में है। प्रसिद्ध दानवीर महिला शान्तलादेवी की माँ के सम्बन्ध में एक और स्मारकस्तम्भ है जो सबसे लम्बा है और बड़ा है। २२९ और २२३ पंक्तियों में अंकित है। कवि रन्नश्री और कवि श्री नागवर्म का उल्लेख करने वाले आलेख सबसे छोटे है। सबसे मोटे अक्षरों में उत्कीर्णित लेख लोकोत्तर भगवान् बाहुबली के वल्मीक पर है। देशभर के अत्यन्त प्राचीन मराठी शिलालेख के रूप में वल्मीक लेख को देखा जाता है।

इन सभी शिलालेखों को ई.स. १९७३ में मैसूर विश्वविद्यालय के तत्त्वावधान में कन्नड़ अध्ययन संस्थान ने 'एपिग्राफिक कर्नाटिका' वाल्यूम २, तीसरा संस्करण के रूप में व्यवस्थित संगृहीत कर प्रकाशित किया है।

'एपिग्राफिक कर्नाटिका' संस्करण १९७३ में इन सबका अंग्रेजी अनुवाद सहित प्रकाशन हुआ है।

ई.स. पूर्व तीसरी शताब्दी में अन्तिम श्रुतकेवली भद्रबाहु ने प्राप्त संकेतों से उत्तर में १२ वर्ष का भयंकर सूखे का आभास पाकर उत्तर के उज्जैयनी से बारह हजार मुनियों एवं सम्राट् चन्द्रगुप्त सहित विहार कर कटवप्र छोटे पहाड़ पर ठहर जाने का उल्लेख इसी पहाड़ पर ई.स. छठी शताब्दी में उत्कीर्णत शिलालेख से मिलता है।

श्री बी.एल. राइस द्वारा इस शिलालेख को प्रकाशित करने के बाद यह प्रमाणित हो गया कि मौर्य सम्राट् चन्द्रगुप्त मौर्य जैन राजा थे जिसने दिगम्बरी दीक्षा अन्तिम श्रुतकेवली भद्रबाहु से ग्रहण कर इसी स्थान पर समाधि मरण किया था, जिसके बारे में इतिहासवेत्ता न मालूम अब तक मौन क्यों हैं?

इन शिलालेखों में अधिकतर ऐसे शिलालेख हैं जिनमें साधुओं, आर्यिकाओं, श्रावक, श्राविकाओं के

सल्लेखना आदि का उल्लेख हैं। अन्तिम श्रुतकेवली भद्रबाहु के द्वारा इस कलवप्पु चिक्कबेट्ट-चन्द्रगिरि पर्वत पर सल्लेखनापूर्वक समाधि-मरण करने से यह स्थान प्राय: साधुओं के लिए समाधिस्थल बन गया था। सम्राट् मौर्य चन्द्रगुप्त ने भी दिगम्बर दीक्षा धारण कर यहीं समाधि-मरण किया था। इस प्रकार का शिलालेख भी यहाँ है।

श्रवणबेलगोला के शिलालेख जैन-संस्कृति एवं तत्सम्बन्धी मूल्यवान् साहित्य व प्रसिद्ध जैनाचार्यों के सम्बन्ध में विस्तार से प्रकाश डालते हैं। आचार्य कुन्दकुन्द, समन्तभद्र, उमास्वामी, मल्लिसेन, अरिष्टनेमि, देव जिनसेनाचार्य, पूज्यपाद, अजितसेन, नेमिचन्द्राचार्य, मलधारीदेव, वादिराज, शान्तिसेन आदि आचार्यों से सम्बन्धित यहाँ अनेकों शिलालेख उत्कीर्ण हैं। साथ ही अनेकों राजाओं, राजवंश आदि जिनका संरक्षण जैनधर्म व जैनाचार्यों को रहा है, से सम्बन्धित शिलालेख है। जैसे— गंगवंश, राष्ट्रकूट, होयसल, चाणुक्य वंश, कदम्ब वंश आदि के इतिहास की जानकारी मिलती है। सेनापति चामुण्डराय-गोम्मटेश बाहुबली के निर्माणकर्ता के सम्बन्ध में शिलालेख है। ये सभी शिलालेख तत्समय की परिस्थितियों पर प्रामाणिक प्रकाश डालते हैं।

अनेकों शिलालेखों में उत्तर-दक्षिण से यात्रा हेतु आये हुए संघों व यात्रियों का वर्णन है। जैन धार्मिक क्रियाओं के उल्लेख करने वाले शिलालेख भी हैं। कई लेखों में दानों की चर्चा है। कई शिलालेख महिलाओं के विशेष योगदान की चर्चा करते है। शान्तलादेवी के गुणगान से सम्बन्धित लेख भी यहाँ है। अत्तिमब्बे, लाकाम्बिका, आचल आदि देवियों से सम्बन्धित लेख हैं। शास्त्रार्थ कर अन्य मतावलम्बियों पर विजय पाने के लेख भी यहाँ हैं। प्रसिद्ध कवि रन्न, मल्लिनाथ, चावराज, बोप्पन्न पण्डित, अर्हद्दास आदि के शिलालेख भी यहाँ है। यक्षिणी देवों की प्रतिमाएँ स्थापित किये जाने के लेख भी उपलब्ध हैं। प्राचीन वास्तु प्रतिमा-विज्ञान तथा मूर्तिकला के सम्बन्ध में भी जानकारीयुक्त शिलालेख क्षेत्र पर हैं। भाषा और साहित्य के सम्बन्ध में भी शिलालेख हैं। ऐसे सभी आयामों से सम्बन्धित सभी सामग्री का परिचय यहाँ शिलालेखों से प्राप्त है।

श्रवणबेलगोला के शिलालेखों से दिगम्बर जैन-संस्कृति की प्राचीनता का बोध मिलता है। ये शिलालेख दिगम्बर जैन-संस्कृति की अमूल्य धरोहर है। समय की थपेड़ों में शिलालेख जीर्ण-शीर्ण हो रहे है। इन सभी शिलालेखों का श्री बी.एल. राइस, श्री आर. नरसिंहाचार्य, श्री शेट्टर जैसे मनीषियों ने पुस्तक के रूप में संगृहीत कर महान् कार्य किया है। मैसूर विश्वविद्यालय ने इस कार्य को प्रमुखता से सम्पन्न किया है एवं सुरक्षित किया है इसलिए वे आभार के पात्र है।

●

श्रवणबेलगोल के अभिलेखः कतिपय जैनाचार्य

– डॉ.कपूरचन्द जैन, खतौली

आत्मा प्रभावनीयो रत्नत्रयतेजसा सततमेव।
दानतपोजिनपूजा विद्यातिशयैश्च जिनधर्मः।।

– (पुरुषार्थसिद्ध्युपाय, ३०)

आचार्य अमृतचन्द्र ने सम्यग्दर्शन के आठ अंगों में प्रभावना अंग का स्वरूप बताते हुए उक्त श्लोक में कहा है कि रत्नत्रय के तेज से आत्मसाधना करते हुए, आत्मसाधना के लिए समाज में अनुकूल वातावरण बना रहे इस हेतु दान, तपस्या, जिनपूजा तथा विद्याभ्यास के उत्कर्ष द्वारा जिनधर्म की प्रभावना करनी चाहिए। जैनविद्या के प्रचार-प्रसार में लगे पूज्य श्रमणों तथा श्रुताराधक विद्वानों का यह परम कर्त्तव्य है कि भविष्य में आने वाली पीढ़ियां जैनधर्म और संस्कृति का ज्ञान कर स्वपरकल्याण की ओर प्रवृत्त हों, इसके लिए सतत प्रयत्न करते रहे।

किसी भी समाज को अपने पूर्वजों के उत्कर्ष, उनकी आत्मसाधना तथा आत्मसाधना के मार्ग का ज्ञान इतिहास के बिना सम्भव नहीं, अतः प्रत्येक व्यक्ति को इतिहासबोध आवश्यक ही नहीं, अपरिहार्य भी है। इतिहास के अनेक स्रोत हमारे सामने हैं। इनमें अभिलेख, मूर्तिलेख, प्रशस्ति, किंवदन्ति, जनश्रुति, साहित्य आदि प्रमुख हैं। इनमें सबसे महत्त्वपूर्ण अभिलेख/शिलालेख हैं, क्योंकि ये पाषाण या धातुद्रव्यों पर उत्कीर्ण पाये जाते हैं। इस कारण एक तो ये जल्दी नष्ट नहीं होते दूसरे इनमें कालान्तर में परिवर्तन और संशोधन की सम्भावना नहीं रहती। साहित्यिक कृतियों में परिवर्तन, परिवर्धन, संशोधन और उनका अपने नाम से न्यूनाधिक उपयोग विख्यात है। अतः किसी भी देश की धर्म-संस्कृति, रहन-सहन, शिक्षा आदि के ज्ञान के लिए अभिलेख साहित्य सर्वाधिक प्रामाणिक आधार हैं।

जैन-संस्कृति के लिए यह हर्ष का विषय है कि भारतवर्ष में उपलब्ध अभिलेखों में सर्वप्रथम अभिलेख प्रायः जैन सम्राट् खारवेल का खण्डगिरि-उदयगिरि वाला अभिलेख माना जाना है, जो एक गुफा के छत वाले विशाल पत्थर पर उत्कीर्ण है। इसका प्रारम्भ 'नमो सव्वसिद्धाणं' से हुआ है। अतः इसके जैन होने में कोई सन्देह नहीं है। यह भी गौरव की बात है कि सर्वाधिक अभिलेख जैन व्यक्तियों द्वारा लिखाये गये या जैन तीर्थों आदि पर उपलब्ध हैं। अतिशय गौरव की बात यह भी है कि दक्षिण भारत में अत्यधिक जैन अभिलेख प्राप्त हुए हैं। एक स्थान की अपेक्षा से विचार करें तो श्रवणबेलगोल में ही सर्वाधिक अभिलेख पाये गये हैं।

जैन शिलालेखों के प्रकाशन की बात जब उठी तो सर्वप्रथम प्रथम भाग के रूप में 'जैन शिलालेख संग्रह' नाम से श्रवणबेलगोल के ही शिलालेखों का प्रकाशन हुआ। इसमें लगभग ५०० शिलालेखों का प्रकाशन किया गया था। उसके बाद भी सैकड़ों अभिलेखों का संग्रह हुआ है। आज भी यह कार्य जारी है। श्रवणबेलगोल के ये अभिलेख मूर्तियों, मन्दिर-भित्तिकाओं के अतिरिक्त मार्ग के दोनों ओर के शिलाखण्डों पर भी लिखे गये हैं

तथा कन्नड़ लिपि में हैं। इन लेखों में जैनाचार्यों के संघ, गण, गच्छ, पट्टावली के रूप में धार्मिक इतिहास का उल्लेख तो है ही, तत्कालीन सांस्कृतिक और राजनैतिक स्थिति का भी विस्तार से वर्णन है। राजवंशों और उनके प्रमुख व्यक्तियों, उनकी सामरिक विजय, विरुदावली, धर्मनिष्ठ श्रावकों तथा उनके कार्यों, धर्मस्थानों के संरक्षण, भूमि, ग्रामादि दानों का भी उल्लेख हुआ है।

श्रवणबेलगोल के इन अभिलेखों में अनेक छोटे-बड़े आचार्यों, उनके द्वारा रचित आगमिक और साहित्यिक कृतियों, आचार्यों के जीवन की विशिष्ट घटनाओं, आश्रय देने वाले राजाओं, श्रेष्ठियों आदि का उल्लेख हुआ है। सभी आचार्यों का परिचय इस लघु लेख में देना सम्भव नहीं है, अतः कुछ विशिष्ट आचार्यों का परिचय इस आलेख में दिया जा रहा है जिनमें प्रमुख हैं— आचार्य धरसेन, आचार्य पुष्पदन्त और भूतवली, आचार्य कुन्दकुन्द, आचार्य वट्टकेर, आचार्य समन्तभद्र, आचार्य सिद्धसेन, आचार्य रविषेण, आचार्य अकलंकदेव, आचार्य जिनसेन, आचार्य विद्यानन्द, आचार्य नेमिचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्ती, आचार्य प्रभाचन्द्र, आचार्य गुणभद्र, आचार्य वादिराज, आचार्य वीरसेन, आचार्य देवसेन। भारतीय संस्कृति के विकास में इन आचार्यों की देन अनुपम है। इनके अध्ययन से जैन-साहित्य और संस्कृति के नये क्षितिज उद्घाटित होंगे, ऐसी आशा है।

●

श्रुतकेवली आचार्य भद्रबाहु और सम्राट् चन्द्रगुप्त मौर्य (प्रथम)

– प्रो. डॉ. राजाराम जैन, नोयडा

आचार्य भद्रबाहु ने मगध के द्वादशवर्षीय भीषण दुष्काल के समय दिगम्बरत्व की सुरक्षा के लिए ससंघ दक्षिण भारत की ओर प्रस्थान करने का ही निर्णय क्यों लिया? उन्होंने अन्यत्र विहार क्यों नहीं किया? जहाँ तक हमारा अध्ययन है, जैन-साहित्य में एतद्विषयक प्रश्नों के उत्तर सम्भवत: अनुपलब्ध है। मुझे तो साक्ष्य-सन्दर्भ नहीं मिल सके और इस तथ्य पर अभी तक सम्भवत: विचार भी नहीं किया गया है।

मेरी दृष्टि से इसके समाधान के लिए जैनेतर साहित्य विशेष रूप से प्राच्य बौद्ध-साहित्य से कुछ सहायता मिल सकती है। बौद्धों के सुप्रसिद्ध इतिहास-ग्रन्थ— महावंश (पांचवीं सदी) में एक उल्लेख मिलता है, जिसके अनुसार सिंहल (श्रीलंकार) देश के राजा पाण्डुकाभय (ई.पू. ४६७) ने अपनी राजधानी अनुराधापुरा में वहाँ विचरण करने वाले निर्ग्रन्थों की साधना के लिए एक गगनचुम्बी भवन का निर्माण कराया था।

महावंश के उक्त सन्दर्भ से यह स्पष्ट है कि ई.पू. पांचवीं सदी में सिंहल-देश में निर्ग्रन्थ-धर्म अर्थात् जैनधर्म का अच्छा प्रसार था और निर्ग्रन्थ-मुनि निर्बाध होकर वहाँ विचरण किया करते थे। इस तथ्य से यह विचार तर्कसंगत लगता है कि जैनधर्म कर्नाटक, आन्ध्र, तमिल एवं केरल होता हुआ ही सिंहल-देश में प्रविष्ट हुआ होगा।

तमिलनाडु के मदुरई और रामनाड् में ब्राह्मी-लिपि में महत्त्वपूर्ण कुछ प्राचीन प्राकृत-शिलालेख उपलब्ध हुए हैं। उन्हीं के समीप जैन-मन्दिरों के अवशेष तथा तीन-तीन छत्रों से विभूषित अनेक पार्श्व-मूर्तियाँ भी मिली हैं। इन प्रमाणों के आधार पर सुप्रसिद्ध पुराविद् डॉ. सी.एन. राव का कथन है कि — "ई.पू. चतुर्थ सदी के आस-पास जैनधर्म ने तमिलनाडु के साथ-साथ सिंहल-देश को भी विशेष रूप से प्रभावित किया था।"

जैनेतिहास के अनुसार तिरुवल्लुवरकृत "कुरलकाव्य" एवं व्याकरण-ग्रन्थ— "तोलकप्पियम्" जैसे तमिल के आद्य गौरव-ग्रन्थ जैनधर्म की अमूल्य कृतियाँ मानी गयी हैं। इनके आधार पर इतिहासकारों की यह मान्यता है कि वैदिक अथवा ब्राह्मण-धर्म के प्रभाव के पदार्पण के पूर्व ही तमिल-प्रान्त में जैनधर्म का प्रवेश हो चुका था। कुछ विद्वानों की यह भी मान्यता है कि तमिल के शास्त्रीय श्रेणी के आद्य-महाकाव्यों में से एक सुप्रसिद्ध ग्रन्थ "नालडियार" में उन आठ सहस्र जैन मुनियों की रचनाएँ ग्रथित हैं, जो पाण्ड्य-नरेश की इच्छा के विरुद्ध पाण्ड्य-देश छोड़कर अन्यत्र विहार करने जा रहे थे। यह ग्रन्थ समकालीन पाण्ड्य-देश में लिखा गया था। बहुत सम्भव है कि ये आठ सहस्र जैन-मुनि आचार्य भद्रबाहु के आदेश से दक्षिण भारत के सीमान्त की ओर गये थे।

कलिंगाधिपति जैन सम्राट् खारवेल ने अपने हाथीगुम्फा-शिलालेख में लिखा है कि उस (खारवेल) ने अपनी दिग्विजयों के क्रमों में दक्षिणापथ में १३०० वर्षों से चले आ रहे सशक्त संघात को भी तोड़ दिया था।

इस संघात अर्थात् महासंघ में तत्कालीन सुप्रसिद्ध राज्य- चोल, पाण्ड्य, सत्यपुत्र, केरलपुत्र तथा ताम्रपर्णी (सिंहल) सम्मिलित थे और यह महासंघ तमिल-संघात (United Sates of Tamil) के नाम से प्रसिद्ध था।

मेरी दृष्टि से सम्राट् खारवेल का उक्त आक्रमण केवल राजनैतिक दृष्टि से ही नहीं था, बल्कि जैनधर्म के विरोधियों ने पूर्वागत जैनधर्म के प्रचार-प्रसार में उक्त तमिल-महासंघ के माध्यम से जो गतिरोध उत्पन्न कर दिये थे, खारवेल ने उनसे क्रोधित होकर उस महासंघ को कठोर सबक सिखाया था और संघीय-राज्यों में जैनधर्म को यथावत् विकसित और प्रचारित होने का पुन: अवसर प्रदान किया था।

यह भी विचारणीय है कि सम्राट् खारवेल ने कलिंग में जो विराट् जैन-मुनि सम्मेलन बुलाया था, क्या वह 'तमिरदेहसंघात' के द्वारा की गयी जैनधर्म के ह्रास एवं जैनागमों की क्षतिपूर्ति के विषय में विचारार्थ तथा आगे के लिए योजनाबद्ध सुरक्षात्मक एवं विकासात्मक कार्यक्रमों के संचालन की दृष्टि से तो आयोजित नहीं था? अन्यथा, वह देश के कोने-कोने से सभी दिशाओं-विदिशाओं से लाखों की संख्या (सतसहसानि) में महातपस्वी-मुनि-आचार्यों से पधारने का अनुरोध कर, उनका सम्मेलन क्यों करता तथा उनसे उसमें मौर्यकाल में उच्छिन्न 'चोयट्ठि' (चउ(चार)+अट्ठि(आठ)= द्वादशांग-वाणी) का वाचन-प्रवचन करने के लिए उनसे सादर प्रार्थना क्यों करता? यह यक्ष-प्रश्न गम्भीरतापूर्वक विचार करने का है।

श्रावक-शिरोमणि सम्राट् खारवेल चोयट्ठि (द्वादशांग-वाणी) के क्रमिक-ह्रास के कारण सम्भवत: अत्यन्त चिन्तित हो गया था, इसीलिए उसने आगम-वाचना करायी थी। आश्चर्य यही है, इस आगम-वाचना का उल्लेख किसी ने नहीं किया। इसका कारण समझ में नहीं आ रहा है। यह सौभाग्य की बात है कि इसका उल्लेख खारवेल-शिलालेख में स्वयं उपलब्ध हो गया।

तात्पर्य यह कि कर्नाटक सहित दक्षिण भारत में जैनधर्म के प्रचार-प्रसार का काल और अधिक नहीं, तो कम से कम ई.पू. १४५० (-१५०+१३००) वर्ष अर्थात् तीर्थङ्कर पार्श्व (ई.पू. लगभग ९वीं सदी) से भी पूर्वकालीन था।

उक्त तथ्यों से स्पष्ट हो जाता है कि भद्रबाहु-पूर्व दक्षिण-भारत में जैनधर्म सर्वत्र व्याप्त था, वहाँ उसकी अच्छी प्रभावना थी। जैन-संस्कृति को लोकप्रियता प्राप्त थी, जैनसंघ तथा जैनागामें की सुरक्षा की दृष्टि से वह एक उपयुक्त स्थल था। भले ही वहाँ के जैनधर्म के प्रचारकों या आचार्यों के नाम हमारे लिए अज्ञात हो; किन्तु सम्भवत: आचार्य भद्रबाहु को उनकी जानकारी अवश्य रही होगी, इसीलिए उन्होंने अपने नवदीक्षित-शिष्य मगधाधिपति सम्राट् चन्द्रगुप्त मौर्य (प्रथम) सहित १२००० मुनिसंघ के साथ दक्षिण-भारत की ओर विहार किया था।

●

Socio-religious Aspects of Bhadra bahu-Chandragupta Maurya Narratives

- Dr. Devendra Kumar Jain, Mumbai

Down the ages, persons who were able to perceive beyond the obvious, have succeeded in achieving new heights of excellence in their respective fields. No one can deny the fact that Chandragupta Maurya was a shining star of Indian History. His military brilliance and diplomacy was outstanding and unique in the recorded history of India.

There were compelling circumstances that brought off the Mauryan revolution. These circumstances were socio-religious in nature and need a thorough scrutiny of historical evidences. The motives of revisiting this splendid chapter of Indian history are many. These circumstances include social justice, good governance, border security, military power, religious politics and foreign policy. Do these circumstances still exist in Indian context ? Can be drawn up some valuable clues from them ? The present paper primarily explores this aspect.

Then, there is a case of systematic disparagement of Jain sources of history. Historical evidences of Jains are abundant and scattered throughout the country. Themainstream Indian historians presented a disparage picture of Jain sources. The findings of western scholars where also not given due place in the scheme of writing Indian history. It is not for me to say anything conclusive at this stage, but it looks to me that Jain sources are yet to be explored in a judicious manner. Here are some historical issues and arguments in the present paper relevant to that period of Indian History.

The next important aspect of the present paper focuses on the zenith and personal of contemporary Jain Guru Bhadrabahu. This grand conference and Mega event of Mahamastikabhiseka is a very strong motive to write about the contribution of Bhadrabahu and Chandragupta due on the overall spread of Ahimsa religion in the southern India.

●

श्रुतकेवली भद्रबाहु और उनका श्रुतसंवर्धन में योगदान

– प्रोफेसर डॉ. भागचन्द्र जैन भास्कर

श्रुतकेवली आचार्य भद्रबाहु जैन संस्कृति के ऐसे महास्तम्भ हैं जहाँ से जैन-परम्परा की महानदी ने अनेक घात-प्रत्याघात सहते हुए अपनी धारा को अनेक मार्गों में प्रवाहित किया और संसारियों की तीक्ष्ण पिपासा को शान्त करते हुए उनका मार्ग प्रशस्त किया। वे ही ऐसे प्राचीनतम आचार्य है जिन्हें दिगम्बर और श्वेताम्बर दोनों परम्पराएं समान रूप से स्वीकार करती है। पर उनका व्यक्तित्व दोनों परम्पराओं में दो दिशाओं में विकसित हुआहै। दिगम्बर-परम्परा में भद्रबाहु नाम के दो विशेष व्यक्तियों का उल्लेख मिलता है प्रथम— श्रुतकेवली भद्रबाहु और द्वितीय— कुन्दकुन्द के साक्षात् गुरु। श्वेताम्बर-परम्परा में तीन भद्रबाहु माने जाते हैं— प्रथम श्रुतकेवली भद्रबाहु, २- द्वितीय छेदसूत्रकर्ता भद्रबाहु और तृतीय निर्युक्तिकर्ता भद्रबाहु। कुछ और भी भद्रबाहुओं की नामावली इतिहास और परम्परा में उत्तरकाल में मिलने लगती है। यहाँ हम इन तीन भद्रबाहुओं परचर्चा करेंगे और देखेंगे कि भद्रबाहु, चन्द्रगुप्त चाणक्य, कुन्दकुन्द आदि आचार्यों से सम्बद्ध घटनाएं किस तरह परस्पर गुथी हुई हैं। जब तक उन सभी पर वस्तुत: सयुक्तिक विचार नहीं किया जाये तब तक किसी को भी यथार्थ रूप से समझा नहीं जा सकता। श्रुतकेवली भद्रबाहु के बाद पट्टावलियों और ग्रन्थकारों द्वारा प्रस्तुत तीनों भद्रबाहु के उल्लेखों ने शोधकों को दिग्भ्रमित कर दिया है और लेखकों ने उनकी जीवन घटनाओं में अनेक नये-नये तत्त्वों को जोड़कर उनका मूल व्यक्तित्व और भी पेंचीदा कर दिया है।

आचार्य कालगणना

तिलोयपण्णत्ति (४.१४७६-८४), जयधवला (भाग-१, पृ. ८५), धवला (पु. १, पृ. ६६), हरिवंशपुराण (६६.२२), इन्द्रनन्दी श्रुतावतार पद्य (७२-७८) आदि दिगम्बर-परम्परा के ग्रन्थों में तीन केवलियों का कुल काल महावीर निर्वाण के बाद ६२ वर्ष और पांच श्रुतकेवलियों का कुल काल १०० वर्ष १६२ वर्ष बताया है जिनमें भद्रबाहु का काल २९ वर्ष माना है। श्वेताम्बर-परम्परा की स्थविरावली १६२ वर्ष के स्थान पर २१५ वर्ष की गणना करती है जिसमें भद्रबाहु का काल १४ वर्ष माना गया है। परिशिष्टपर्वन् के अनुसार इसमें पालक के ६० वर्ष भूल से चन्द्रगुप्त मौर्य के काल में जोड़ दिये गये। उन्हें यदि घटा दिये जायें तो यह काल १५५ वर्ष (२१५-६०) आता है अर्थात् हेमचन्द्र के अनुसार चन्द्रगुप्त मौर्य का राज्यकाल महावीर निर्वाण के १५५ वर्ष बाद बताया है। इसका तात्पर्य है कि ई.पू. २१५ (१५५ ६०) वर्ष में चन्द्रगुप्त का राज्याभिषेक हुआ। इससे चन्द्रगुप्त और भद्रबाहु की समकालीनता भी सिद्ध हो जाती है।

आचार्य श्रुतकेवली भद्रबाहु (प्रथम)

आचार्य कालगणना की दोनों परम्पराओं को देखने से यह स्पष्ट है कि जम्बूस्वामी के बाद होने वाले युगप्रधान आचार्यों में श्रुतकेवली भद्रबाहु ही एक ऐसे निर्विवाद आचार्य हुए हैं, जिनके व्यक्तित्व को दोनों परम्पराओं ने एक स्वर में स्वीकार किया है। बीच में होने वाले प्रभव, शय्यंभव, यशोभद्र और सम्भूतिविजय आचार्यों के विषय में परम्पराएँ एकमत नहीं। भद्रबाहु के विषय में भी जो मतभेद है वह बहुत अधिक नहीं।

दिगम्बर-परम्परा भद्रबाहु का कार्यकाल २९ वर्ष मानती है और उनका निर्वाण महावीर निर्वाण के १६२ वर्ष बाद स्वीकार करती है पर श्वेताम्बर-परम्परानुसार यह समय १७० वर्ष बाद बताया जाता है और उनका कार्यकाल कल चौदह वर्ष माना जाता है। जो भी हो, दोनों परम्पराओं के बीच आठ वर्ष का अन्तराल कोई बहुत अधिक नहीं है।

परम्परानुसार श्रुतकेवली भद्रबाहु निमित्तज्ञानी थे। उनके ही समय संघभेद प्रारम्भ हुआ है। अपने निमित्तज्ञान के बल पर उत्तर में होने वाले द्वादश वर्षीय दुष्काल का आगमन जानकार भद्रबाहु ने बारह हजार मुनि-संघ के साथ दक्षिण की ओर प्रस्थान किया। चन्द्रगुप्त मौर्य भी उनके साथ थे। किस मार्ग से वे श्रवणबेलगोल पहुंचे, यह पता नहीं। अपना अन्त निकट जानकर उन्होंने संघ को चोल, पाण्ड्य प्रदेशों की ओर जाने का आदेश दिया और स्वयं श्रवणबेलगोल में ही कालवप्र नामक पहाड़ी पर समाधि-मरणपूर्वक देह त्याग किया। इस आशय की छठी शती का एक लेख पुन्नाड के उत्तरी भाग में स्थित चन्द्रगिरि पहाड़ी पर उपलब्ध हुआ है। उसके सामने विन्ध्यगिरि पर चामुण्डराय द्वारा स्थापित गोम्मटेश्वर बाहुबली की ५७ फीट ऊंची एक भव्य मूर्ति स्थित है। परिशिष्टपर्वन् के अनुसार भद्रबाहु दुष्काल समाप्त होने के बाद दक्षिण से मगध वापिस हुए और पश्चात् महाप्राण ध्यान करने नेपाल चले गये। इसी बीच जैन साधु-संघ ने अनभ्यासवश विस्मृत श्रुत को किसी प्रकार से स्थूलभद्र के नेतृत्व में एकादश अंगों का संकलन किया और अवशिष्ट द्वादशवें अंग दृष्टिवाद के संकलन के लिए नेपाल में अवस्थित भद्रबाहु के पास अपने कुछ शिष्यों को भेजा। उनमें स्थूलभद्र ही वहाँ कुछ समय रुक सके जिन्होंने उसका कुछ यथाशक्य अध्ययन किया। फिर भी दृष्टिवाद का संकलन अवशिष्ट ही रह गया।

आचार्य भद्रबाहु के जीवनकाल में घटित इस घटना ने दिगम्बर और श्वेताम्बर-परम्पराओं में कितनी रूप लिए हैं यह देवसेन के भावसंग्रह भ. रत्ननन्दि का भद्रबाहुचरित्र, हरिषेण का वृहत्कथाकोश, रामचन्द्र मुमुक्षु का पुण्याश्रव कथाकोश, श्रीचन्द्रकृत कहकोसु, रइधू का भद्रबाहुचरित, नेमिदत्त की भद्रबाहुकथा तथा श्रवणबेलगोल के शिलालेखों में उल्लिखित दिगम्बर-परम्परा में देखा जा सकता है। इसी तरह श्वेताम्बर-परम्परा के तित्थोगाली पइण्णा, गच्छाचार पइन्ना, परिशिष्ट पर्वन्, प्रबन्धचिन्तामणि, प्रबन्धकोश आदि ग्रन्थों में भी श्रुतकेवली भद्रबाहु का कथानक मिलता है।

इस आलेख में इन सभी ग्रन्थों की सयुक्तिक चर्चा करते हुए भद्रबाहुसंहिता, छेदसूत्र और निर्युक्तियों के कर्तृत्व की मीमांसा की गयी है और यह स्थापित करने का प्रयत्न किया गया है कि आचार्य कुन्दकुन्द के साक्षात गुरू भद्रबाहु द्वितीय ही छेदसूत्र और निर्युक्तिकार होना चाहिए, श्रुतकेवली भद्रबाहु नहीं। श्रुतकेवली भद्रबाहु द्वारा रचित कोई भी ग्रन्थ उपलब्ध नहीं हैं पर अप्रत्यक्ष रूप में श्रुत के संवर्धन में उनका महत्वपूर्ण योगदान रहा है।

●

श्रुतकेवली भद्रबाहु का जैन-संस्कृति के संरक्षण में योगदान

– डॉ. कल्पना जैन, नई दिल्ली

दिगम्बर पट्टावलियों और प्रशस्तियों से अवगत होता है कि श्रुत को सुनकर कण्ठस्थ कर लेने की परम्परा तीर्थङ्कर महावीर के निर्वाण लाभ के पश्चात् कई शतक तक चलती रही। द्रव्य, गुण, पर्याय, तत्त्वज्ञान, कर्म-सिद्धान्त एवं आचार-सम्बन्धी मौलिक मान्यताओं को परम्परा से प्राप्त कर स्मरण बनाये रखने की प्रथा धारावाहिक रूप में चलती रही। नन्दिसंघ, बलात्कार गण, सरस्वती गच्छ की पट्टावलियों में बताया है कि गौतम, सुधर्म और जम्बूस्वामी ने ६२ वर्षों तक धर्म प्रचार किया। महावीर स्वामी के पश्चात् १२ वर्षों तक गौतम स्वामी ने केवली पद प्राप्त कर धर्म प्रचार किया। फिर १२ वर्षों तक सुधर्माचार्य केवली रहे। अनन्तर जम्बू स्वामी अड़तीस वर्षों तक केवली रहे। इस प्रकार ६२ वर्षों तक इन तीनों केवलियों की ज्ञान ज्योति प्रकाशित होती रही। तत्पश्चात् पाँच श्रुतकेवली हुए। चौदह वर्षों तक विष्णु ने, सोलह वर्षों तक नन्दिमित्र ने, बाईस वर्षों तक अपराजित ने, उन्नीस वर्षों तक गोवर्द्धनाचार्य ने और उन्तीस वर्षों तक भद्रबाहु ने ज्ञानदीप जला रखा।

सुयकेवलि पंच जणा बासाहि, वासे गये सुसंजाया।
पढ़मं चउदह वासूं विष्णुकुमारं मंणेयव्वं।।

नंदिमित्र वास सोलह किय अपराजिय वास बावीसं।
इय-हीन बावीसं गोवर्द्धन भद्रवाहुगुणबीसं।।

श्रुतकेवली भद्रबाहु के गुरु का नाम गोवर्द्धनाचार्य है। ये ही दिगम्बर मुनियों का संघ लेकर दक्षिण की ओर गये थे और इन्हीं के शिष्य चन्द्रगुप्त मौर्य थे। तिलोयपण्णत्ति में बताया गया है कि मुकुटधर राजाओं में अन्तिम राजा चन्द्रगुप्त ने जिन-दीक्षा ग्रहण की थी। इसके पश्चात् अन्य कोई मुकुटधर दीक्षित नहीं हुआ। (४/४८१)

मउडधरेसं चरिमो जिणदिक्खं धारिदं चंदगुत्तो य।
तत्तो मउडधरा दुप्पव्वज्जं णेव रोण्हाति।।

आचार्य भद्रबाहु समूचे जैनसंघ के नायक थे। देशभर में फैला हुआ विशाल जैन साधु समुदाय प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से उनके अनुशासन में निबद्ध था। भगवान् की अचेलक-परम्परा को बारह वर्षीय अकाल के दुर्दान्त चक्र से बचाकर, निर्दोष रूप में प्रवर्तमान रखने का उत्तरदायित्व उस समय भद्रबाहु पर ही था। पूरे भारत की भौगोलिक और प्राकृतिक स्थितियाँ उनकी दृष्टि में थी। वर्तमान समस्या के प्रति चिन्तित होते हुए भी भविष्य को वे भलीभाँति जान रहे थे। सारी परिस्थितियों पर विचार करके उन विवेकवान् आचार्य ने उत्तरापथ के समूचे साधु सन्तों को एकसूत्र में बाँधा। श्रुतकेवली भद्रबाहु का जैन-संस्कृति के संरक्षण में जो योगदान है, वह नहीं होता तो आज जैन-संस्कृति का अस्तित्व ही शेष नहीं होता।

आचार्य केवली भद्रबाहु में सबसे अधिक प्रभावित करने वाला गुण संरक्षक के रूप में यही था कि वे अपने शिष्यों से जो चाहते थे उसे उन्होंने पहले अपने अन्दर उतारा। एक सफल गुरु वही है जो पहले स्वयं

उसे अनुभव करे तत्पश्चात् किसी और से उसकी अपेक्षा करे। इस प्रकार भद्रबाहु एक सफल संरक्षक के रूप में स्थापित थे, उन्हें शैथिल्य मञ्जूर नहीं था। १२ वर्षों के दुष्काल में उन्होंने जैन-संस्कृति की रक्षा के लिए सभी जैन मुनियों को दक्षिण की ओर जाने के लिए आह्वान कर प्रेरित किया, यह उनके सुदृढ़ व्यक्तित्व का फल है। वे जैन-संस्कृति के संरक्षण की भव्य मूर्ति थे और अपने को उदाहरण के रूप में प्रस्तुत करते थे। कहा भी है —

आदहिदं कादव्वं जदि सक्कदि परहिदं वि कादव्वं।
आदहिदपरहिदादो आदहिदं सुट्ठु कादव्वं।।

– (पञ्चास्तिकाय की टीका)

कोई व्यक्ति कितना भी अनुभवी हो सकता है, विद्वान् हो सकता है, लेकिन वह अगर मात्र दूसरों को उपदेश देता है, दूसरों को प्रेरित करता है, लेकिन खुद उस पर अमल नहीं करता तो उसका ज्ञान व्यर्थ है, कहा भी है —

''ज्ञान टन भर भी हो, कन भर अनुभूति की बराबरी नहीं कर सकता।''

भद्रबाहु के अन्दर मात्र अनुभूति ही नहीं थी वरन वे जैन-संस्कृति के जगमगाते सितारे थे जो सभी को अपनी ओर आकृष्ट कर उस पथ पर चलने के लिए प्रेरित करते थे जो मार्ग आत्मकल्याण की ओर ले जाता है। यही कारण है कि उनकी शिष्य-परम्परा में एक से एक ज्ञानी व अपनी संस्कृति एवं सभ्यता को आगे बढ़ाने वाले शिष्य हुए।

भद्रबाहु की जितनी बाह्य क्षमता दिखायी पड़ती है, १२०० साधुओं को इकट्ठा कर दुर्भिक्ष-काल में जैन-संस्कृति को बचाने की उतनी ही आन्तरिक क्षमता भी थी। नहीं तो क्या वजह हो सकती है कि उनकी एक आवाज पर सभी साधु उनके कहे अनुसार दक्षिण की ओर प्रस्थान कर जैन-संस्कृति की रक्षा में संलग्न हो जाते— यहाँ यह नियमसार की गाथा बिल्कुल सही बैठती है —

णियभाववणाणिमित्तं मए कदं णियमसारणमसुदं।

भयंकर दुभिक्ष से पूरे उत्तरापथ के साधुओं को दक्षिण चलने का आह्वान जिसके चलते मुनियों की रक्षा हुई यह श्रुतकेवली भद्रबाहु का किया हुआ सत्प्रयास है।

अपने व्यक्तित्व एवं धर्मादर्शों के प्रति कटिबद्धता से उन्होंने सम्राट् चन्द्रगुप्त मौर्य एवं चाणक्य जैसे राजपुरुषों को प्रभावित किया, जिससे वे जैनधर्म में दीक्षित हुए और जैन-संस्कृति को राजाश्रय मिल सकने के कारण वह फली-फूली। जब चाणक्य के समान नीति वाला व्यक्ति जो कि नन्दवंश का विनाश कर चन्द्रगुप्त को राज्य दिला सकता है, वह आचार्य भद्रबाहु से दीक्षा ग्रहण करे तो सोचने की बात है कि श्रुतकेवली भद्रबाहु किस तरह के व्यक्तित्व के मालिक थे। जैन-संस्कृति के संरक्षण के बारे में कैसे सोचते होंगे— किस प्रकार से यह पूरे देश में फैले, क्या प्रयत्न करने चाहिए? इस बारे में वे बहुत गम्भीर रहे होंगे।

जैन-संस्कृति के संरक्षण के लिए आवश्यक था कि सभी तत्कालीन साधु आपस में समन्वयात्मक रूप

से रहें और गुरु की आज्ञा का पालन करें। अच्छे गुरु होने के नाते दूरदृष्टा आचार्य भद्रबाहु ने १२ वर्ष के अकाल को भाँपकर सभी शिष्यों को दक्षिणापथ पर जाने का निर्देश दिया। जो उनका कहा माने वे अचेलक-परम्परा पर चलते रहे। पर जो न मान पाये वे सचेलक-परम्परा के मार्गी बने।

आज जो जैन-संस्कृति के संरक्षक के रूप में हमारा विशाल साहित्य उपलब्ध है वह भी आचार्य भद्रबाहु की ही देन है। उनकी शिष्य-परम्परा के चलते द्वादशांग जिनवाणी के एकमात्र बचे अंश को धारसेनाचार्य के माध्यम से जीवन्त बनाये रखा। आज उपलब्ध समस्त जैन-साहित्य उन्हीं की दूरदृष्टि का सुफल है।

श्रुतकेवली भद्रबाहु ने द्वादशवर्षीय दुर्भिक्ष के कारण जैनधर्म के प्रचारार्थ जब दक्षिण भारत की ओर प्रयाण किया तब अपनी आयु को क्षीण जानकर श्रवणबेलगोला में संघ को आदेश दिया कि वे विशाखाचार्य के नेतृत्व में चोल और पाण्डय देशों में जाकर प्रचार का कार्य करें। यह थी एक जैन-संस्कृति को समर्पित तपस्वी की अनुपम वृत्ति जिन्होंने अपनी आयु क्षीण होने पर भी जैन-संस्कृति का प्रचार-प्रसार न रुके, पूरे देश में यह फैले, इसलिए अपने योग्य शिष्यों को इस कार्य में लगा दिया।

जैन संस्कृति का प्रमुख लक्ष्य व्यक्ति और समाज को एक अहिंसक, शान्तिप्रिय, निर्भीक, सौहार्दपूर्ण, सृजनोन्मुख जीवनशैली प्रदान करना है। वैचारिक सहिष्णुता इस संस्कृति का जीवन मूल्य है। पारस्परिक विश्वास और प्रेम इस संस्कृति का आधारस्तम्भ है, अत: जैनधर्म प्राचीनकाल से आज तक समय के थपेड़ों को सहिष्णु होकर सहता चला आ रहा है और निश्चित रूप से श्रुतकेवली आचार्य भद्रबाहु का इसमें प्रमुख अवदान है।

श्रुतकेवली भद्रबाहु और उनका समाधिमरण

– डॉ. श्रेयांसकुमार जैन, बड़ौत

भगवान् महावीर के निर्वाण के बाद तीन अर्हत् केवली गौतम, सुधर्मा स्वामी और जम्बूस्वामी ने संघ का नेतृत्व किया। अनन्तर द्वादशांग श्रुत के ज्ञाता विष्णु, नन्दिमित्र, अपराजित, गोवर्द्धन और भद्रबाहु— ये पांच श्रुतकेवली हुए। गोवर्द्धनाचार्य के साक्षात् शिष्य प्रभावशाली तेजोमयी व्यक्तित्व सम्पन्न श्रुतकेवली अप्रतिम प्रतिभावान् थे।

भद्रबाहु का जन्म पुण्डवर्द्धन राज्य के कोटिकपुर ग्राम में राजपुरोहित के घर हुआ था। बाल्यकाल में साथियों के साथ क्रीड़ा करते हुए बालक भद्रबाहु ने एक बार चौदह गोलियों को एक श्रेणी में एक दूसरे के ऊपर चढ़ा दी। उसी समय उस मार्ग से चतुर्दर्शपूर्वधर गोवर्द्धनाचार्य निकले। उन्होंने बालक के कौशल को देखकर जाना कि यह बालक चौदह पूर्वों का ज्ञाता होगा, अत: उन्होंने भद्रबाहु के पिता से भद्रबाहु को अपने साथ ले जाने की अनुमति ली और अपने पास रखकर अध्ययन कराया तथा दीक्षा प्रदान की। अनन्तर चतुर्दशपूर्व के ज्ञाता होकर श्रुतकेवली-परम्परा में पट्ट पर सुशोभित हुए।

श्रुतकेवली भद्रबाहु ने ग्रामानुग्राम विहरण करते हुए एक समय अवन्ति में प्रवेश किया। आहारार्थ जिनदासश्रेष्ठी के घर पर वहाँ पालने में झूलते हुए बालक ने 'चले जाओ' यह वाक्य तीव्र स्वर में कहा, तब भद्रबाहु ने प्रश्न किया कितने दिन के लिए? शिशु ने उत्तर में १२ वर्ष के लिए कहा। भद्रबाहु स्वामी आहार किये बिना ही लौट आये और संघ को सुदूर जाने का आदेश दिया। बृहत्कथाकोषकार इसी प्रसंग में लिखते हैं कि भद्रबाहु ने सम्राट् चन्द्रगुप्त को घटना बताकर कहा कि द्वादशवर्ष का दुष्काल पड़ेगा। तब मुकुटबद्ध सम्राट् ने जिनदीक्षा ग्रहण कर ली। रत्ननन्दीकृत भद्रबाहु में उल्लेख मिलता है कि भद्रबाहु जब अवन्ति पधारे तब वहाँ चन्द्रगुप्त का साम्राज्य था। चन्द्रगुप्त को १६ स्वप्न दिखे उन्हें उन्होंने आचार्य भद्रबाहु को बताया उन्होंने स्वप्नों का फल अनिष्ट सूचक बताया तो सम्राट् ने जैनेश्वरी दीक्षा अङ्गीकार कर ली।

दुष्काल के कारण भद्रबाहु ने विशाखाचार्य को आदेश देकर संघ को दक्षिण की ओर भेज दिया स्वयं अवन्ति में रुक गये। रत्ननन्दी द्वारा रचित भद्रबाहु चरित के अनुसार वे स्वयं संघ को लेकर आगे बढ़े; किन्तु अपनी अल्पायु जानकर विशाखाचार्य के नेतृत्व में संघ को आगे भेजा। श्रवणबेलगोल की चन्द्रगिरि पहाड़ी पर उल्लिखित शिलालेखों के आधार से कहा गया कि श्रुतकेवली भद्रबाहु स्वयं विशाल श्रमणसंघ को लेकर दक्षिणभारत में पहुँचे, वहाँ उन्होंने अनेक शिष्यों को शिक्षा दीक्षा देते हुए समय व्यतीत किया। शिष्य समुदाय में चन्द्रगुप्त विशेष थे वे सदा गुरु के सन्निकट रहकर ध्यान, अध्ययन में तत्पर रहते थे। श्वेताम्बर-साहित्य में भद्रबाहु का विस्तार से वर्णन है। वहाँ गृहस्थ जीवन के प्रसंग कम मिलते हैं; किन्तु श्रमण अवस्था के विविध प्रसंग हैं। उन्होंने स्थूलभद्र को पूर्वों की वाचना करायी थी। श्रमणसंघ को वाचना के द्वारा उपदेश दिया। आदि अनेक प्रसंग विस्तार के साथ वर्णित हैं उन्हें आलेख में प्रस्तुत किया जायेगा। श्रुतकेवली भद्रबाहु को प्राकृतिक संकेतों के आधार पर अपना अन्तिम समय सन्निकट प्रतीत हुआ तो उन्होंने समाधिमरण धारण किया, क्योंकि सल्लेखना-समाधिमरण धारण करने के निम्न कारण बताये गये हैं—

मन्दाक्षत्वेऽतिवृद्धत्वे चोपसर्गे व्रतक्षये, दुर्भिक्षे तीव्ररोगे चासाध्ये काय बलात्यये।

धर्मध्यानतनूत्सर्गं हीयमानादिके सति, संन्यासविधिना दक्षैर्मृत्युः साध्यः शिवाप्तये।।

इन्द्रियों की शक्ति मन्द हो जाने पर अतिवृद्धपना एवं उपसर्ग आने पर, व्रतक्षय की सम्भावना होने पर दुर्भिक्ष पड़ने पर, असाध्य रोग आ जाने पर, शारीरिक बल क्षणहोने पर तथा धर्मध्यान और कायोत्सर्ग करने की शक्ति हीन हो जाने पर सल्लेखना धारण करना चाहिए।

सल्लेखनापूर्वक समाधिमरण होताहै। साधक की दीर्घकालीन साधना का फल समाधिमरण है। दीर्घकाल से व्रताचरण करते हुए भव्य जीव की सफलता समाधिमरण से होती है।

श्रुतकेवली भद्रबाहु की समाधि कहाँ हुई इस विषय में अनेक उल्लेख हैं। श्वेताम्बर सम्प्रदाय में भद्रबाहु की समाधि नेपाल की तलहटी में मानी गयी।

रत्ननन्दीकृत 'भद्रबाहुचरित' में उल्लेख है कि जब १२००० साधुओं के साथ भद्रबाहु दक्षिण की ओर विहार करने जा रहे थे तभी कुछ दूरी पर उनका स्वास्थ्य बिगड़ गया। वे वहीं रुकें, उनके साथ अन्तिम मुकुटबद्धदीक्षित चन्द्रगुप्त भी रहे,[१] वहीं समाधिमरण को प्राप्त हुए। चन्द्रगुप्त मौर्य ने श्रुतकेवली भद्रबाहु से दीक्षा ग्रहण की थी। चन्द्रगुप्त का काल भगवान् महावीर के निर्वाण के १५५ वर्ष बाद का है और वही भद्रबाहु का समय है। श्वेताम्बर-परम्परासम्मत ग्रन्थों में भद्रबाहु के साथ किसी भी राजा का उल्लेख नहीं है; किन्तु दिगम्बर-परम्परासम्मत ग्रन्थों में भद्रबाहु के साथ चन्द्रगुप्त का उल्लेख है। कुछ लोगों ने श्रुतकेवली भद्रबाहु के निकटवर्ती नरेश चन्द्रगुप्त मौर्य को पाटलिपुत्र का शासक माना है। भद्रबाहु से दीक्षित चन्द्रगुप्त अवन्तिनरेश हैं, अतः दो चन्द्रगुप्त का उल्लेख मिलता है।

श्रवणबेलगोला के चन्द्रगिरि पर्वत पर शक् संवत् ५७२ के आस-पास का शिलालेख है उसमें चन्द्रगुप्त और भद्रबाहु का उल्लेख है। इससे भी प्राचीन शिलालेख पार्श्वनाथ वस्ति का है जो शक संवत् ५२२ के आस-पास का है इसमें श्रुतकेवली भद्रबाहु और निमित्तधर भद्रबाहु की भिन्नता का उल्लेख मिलता है।

श्रुतकेवली भद्रबाहु अपने शिष्य समुदाय के साथ दक्षिण भारत पहुँचे। उन्होंने श्रवणबेलगोल में निवास किया जिससे यह स्थान तीर्थक्षेत्र रूप में प्रख्यात हुआ। यहाँ के चन्द्रगिरि पर्वत पर वह गुफा महत्त्वपूर्ण है जहाँ भद्रबाहु के अन्तिम दिन व्यतीत हुए थे। इसी पहाड़ी पर समाधिमरण हुआ। चन्द्रगुप्त वसति नामक जिन मन्दिर से मण्डित है।

श्रुतकेवली भद्रबाहु और मुनिश्री चन्द्रगुप्त की तपस्या और समाधिमरण द्वारा शरीर परित्याग करने से यह चन्द्रगिरि पहाड़ी तीर्थ बनी हुई है। समाधिमरण के लिए पवित्र स्थान के रूप में यह चन्द्रगिरि पहाड़ी प्रसिद्धि को प्राप्त है। यहाँ के सबसे प्राचीन ६०० ई. के शिलालेख में इसे कटवप्र या कलवप्पु (समाधिशिखर) तीर्थगिरि एवं ऋषिगिरि ही कहा गया है। इसी शिलालेख में यह भी उल्लेख है कि श्रुतकेवली भद्रबाहु और चन्द्रगुप्त के बाद इस पहाड़ी पर सात सौ मुनियों ने कालान्तर में समाधिमरण किया था। अनेकों चरण चिह्नों से मण्डित यही पहाड़ी श्रुतकेवली भद्रबाहु की समाधिमरण स्थली मानना अधिक युक्तियुक्त है।

समाधिमरण आध्यात्मिकता की सर्वोच्च अवस्था है। श्रमण इससे अपनी इष्ट सिद्धि करते हैं। यही कारण है श्रुतकेवली भद्रबाहु स्वामी समाधिमरण धारण कर कर्मभार को हलका किया। अपने साधक जीवन के रहस्य को पहचाना और साधना को सफल किया।

ब्रह्म जिनदास विरचित : 'भद्रबाहु रास'

(श्रुतकेवली भद्रबाहु दिव्यावदान के सन्दर्भ में)

— डॉ. प्रेमचन्द्र रांवका, जयपुर

इन्द्रभूति गौतम गणधर ने भगवान् महावीर के उपदेशों को जिन बारह अंगों में निबद्ध कियाथा, उनमें १२वां अंग दृष्टिवाद द्रव्यानुयोग से विशेष रूप से सम्बद्ध था। इस अंग के अन्तिम ज्ञाता एकमात्र पञ्चम श्रुतकेवली भद्रबाहु थे। अन्तिम सम्राट् चन्द्रगुप्त इन्हीं से दीक्षित थे। २४वें तीर्थङ्कर श्रीवर्द्धमान महावीर के आठवें उत्तराधिकारी के रूप में गौरव प्राप्त अन्तिम श्रुतकेवली भद्रबाहु मुनीश्वर के पावन चरित्र को कविवर ब्रह्म जिनदास ने अपनी काव्य-रचना का प्रतिपाद्य बनाया है।

महाकवि ब्रह्म जिनदास १५वीं शताब्दी के संस्कृत, हिन्दी, राजस्थानी व गुजराती-भाषा-साहित्य के उद्भट विद्वान् थे। वे संस्कृत के प्रसिद्ध महाकवि भट्टारक सकलकीर्ति के अनुज व शिष्य थे। इन्होंने संस्कृत-भाषा के १५ एवं हिन्दी-भाषा में ७० बृहद् लघुकाव्यों के प्राणयन से मां भारती के भण्डार को समृद्ध किया है। संस्कृत में काव्य-रचना के साथ लोकभाषा में रचना से इनका विशेष अनुराग था। ब्रह्म जिनदास ने सामान्यजन के बोध की दृष्टि से तत्कालीन हिन्दी-भाषा में अधिक रचनाएं कीं। रामचरित्र, हरिवंशपुराण एवं जम्बूस्वामी चरित्र विशाल ग्रन्थों का प्रणयन संस्कृत एवं हिन्दी दोनों भाषाओं में किया है। इनका सं. १५०८ में रचित 'रामरास'', तुलसीकृत रामचरितमानस से १५० वर्ष पूर्व हिन्दी-भाषा-साहित्य का प्रसिद्ध महाकाव्य है; जिसका उल्लेख हिन्दी के विदेशी विद्वान् फादर कामिल बुल्के ने अपने 'रामकाव्य-परम्परा' ग्रन्थ में किया है। ब्रह्म जिनदास ने प्रथमानुयोग को अपनी रास संज्ञक रचनाओं का आधार बनाया है। गौतमस्वामी रास, भद्रबाहु रास, यशोधर रास, हरिवंश रास, नेमीश्वर रास, श्रेणिक रास, जीवंधर रास, जम्बूस्वामी रास, हनुमंत रास, धन्यकुमार रास, भविष्यदत्त रास आदि ऐसी ही रास संज्ञक रचनाएं हैं। ये हिन्दी-साहित्य की अमूल्य निधि हैं।

''भद्रबाहु रास'' ब्रह्म जिनदास का ऐतिहासिक खण्डकाव्य है। अन्तिम पञ्चम श्रुतकेवली भद्रबाहु के जीवन चरित्र पर आधारित संस्कृत-हिन्दी में प्राय: विकीर्ण साहित्य उपलब्ध होता है। प्रबन्धरूप में रचित ''भद्रबाहु रास'' ब्रह्म जिनदास की मौलिक रचना है। कथा-साम्य तो प्राय: साहित्य-सृजन का सर्वत्र ही सम्बल होता है। यह रास अपभ्रंश भाषा साहित्य के उत्तरकालीन मरुगुर्जर भाषा प्रभावित छन्दों— वस्तु, भास से युक्त विभिन्न रागों के १७८ पद्यों में अनुस्यूत ऐतिहासिकखण्डकाव्य की सीमा में आता है। इसमें पञ्चम श्रुतकेवली भद्रबाहु के पावनचरित्र को आख्यायित किया गया है।

भद्रबाहु रास का प्रारम्भ, सर्वप्रथम आठवें तीर्थङ्कर भगवान् चन्द्रप्रभ, मां सरस्वती, गणधर स्वामी और गुरु भट्टारक सकलकीर्ति को प्रणाम कर भव्य जनों के हितार्थ किया गया है। रास के प्रारम्भ में सोमशर्मा की पत्नी सोमश्री से भद्रबाहु के जन्म एवं बाल्यकाल का वर्णन हुआ है। गुरु गोवर्द्धन से भद्रबाहु शिक्षित और दीक्षित होते हैं; उनके बाद वे ही आचार्य पदासीन होते हैं। पाटलीपुत्र में वे सम्राट् चन्द्रगुप्त को सोलह स्वप्नों का फल बताते

हैं। १२ वर्षीय दुर्भिक्ष काल में चन्द्रगुप्त सहित दक्षिण देश की ओर चले जाते हैं। ये जैनधर्म की परम्परा को अक्षुण्ण बनाये रखते हैं। दुर्भिक्ष काल में जो दक्षिण की ओर नहीं गये, उनकी धार्मिक क्रिया में शैथिल्य आ जाता है। परिणामस्वरूप जैन शासन में भेद हो जाता है। विक्रमादित्य राजा के बाद ही श्वेताम्बर मत शुरु होता है।

महाकवि ब्रह्म जिनदास के शब्दों में— पञ्चमश्रुतकेवली गुरु भद्रबाहु संसार सागर से तारने वाले धर्मरूपी नौका थे। वे तत्त्ववेत्ता, निर्ग्रन्थ मुनि-परम्परा के सच्चे संवाहक और जिनधर्मशासन के उद्योत के कारक स्वरूप थे। ऐसे निर्मल महामुनि का ध्यान कर मैंने इस निर्मल रास की रचना की है, जो शिवपुर (सिंद्धालय) का गान (मार्ग) है।

भद्रबाहुमुनि भद्रबाहुमुनि संघ धुरि सार।।
पंचम श्रुतकेवलीगुरु, धरम नांव संसार तारण।
दिंगम्बर निर्ग्रंथमुनि, जिनशासन उद्योतकारण।।
ए मुनिवर अम्हे ध्याइस्युं, कहीयुं निरमल रास।
ब्रह्म जिणदास इणि परिभणे, गाइं सिवपुर वास।।

सम्राट् खारवेल का जैन-संस्कृति को अवदान

– डॉ. सुदीप जैन, नई दिल्ली

सातवाहनवंश के मुकुटमणि, कलिंग की यशोगाथा के सर्वाधिक महिमामण्डित व्यक्तित्व, जैनत्व को कहकर नहीं अपितु जीकर प्रमाणित करने वाले कालजयी, परमप्रतापी अजेय-दिग्विजयी सम्राट् महामेघवाहन ऐल खारवेल की यशोगाथा उनके महान् व्यक्तित्व एवं अप्रतिम कार्यों की तुलना में अपरिचितप्राय: है।

जिन मनीषियों ने इन पर चर्चा भी की है, उन्होंने या तो इन्हें वैदिक धर्मानुयायी बतलाने का बलात् प्रयत्न किया है, या फिर जैन-सम्राट् जानकर इनके बारे में साधारण उल्लेख से अधिक कुछ कहने से परहेज किया है।

ऐसी स्थिति में एक जिज्ञासु जैन मनीषी सन्त ने आत्मश्लाघा या विवाद खड़े करने की मनोवृत्तियों से दूर रहकर एक शोधार्थी की तरह दशकों तक उस पर अध्ययन-अनुसन्धान का कार्य स्वयं किया तथा अन्य विद्वानों को भी इस दिशा में प्रेरित किया, जिसके परिणामस्वरूप जैन-संस्कृति में सम्राट् खारवेल के अवदानों की तो चर्चा हुई ही, खारवेल को जैन-सम्राट् के रूप में पहिचान मिल सकी। वे हैं राष्ट्रसन्त आचार्य श्रीविद्यानन्दजी मुनिराज। इन्हीं की प्रेरणा से मैंने इस विषय में कई वर्षों तक समर्पित अध्ययन एवं अनुसन्धानपूर्वक जो महनीय-तथ्य जाने हैं, उन्हें ही इस आलेख में सप्रमाण प्रस्तुत कर रहा हूँ।

मेरे इस आलेख में निम्नांकित बिन्दु विवेचित रहेंगे—

१. जैन-संस्कृति के आधारस्तम्भ 'देव-शास्त्र-गुरु' और सम्राट् खारवेल.

२. जैन-संस्कृति का महामन्त्र और हाथीगुम्फा-अभिलेख.

३. जैन-संस्कृति के मङ्गल-प्रतीक और हाथीगुम्फा-अभिलेख.

४. जैन-आध्यात्मिक संस्कृति को जीवन्त बनाने व बताने वाले सम्राट् खारवेल.

५. जैन-सांस्कृतिक पुरातत्त्व के साक्ष्यों में सम्राट् खारवेल के जिनधर्म-प्रभावकत्व.

६. अहिंसक वीरता के जीवन्त प्रतिमान सम्राट् खारवेल.

७. जिनधर्म-प्रभावना के लिए समर्पित महामानव- सम्राट् खारवेल.

८. 'भारतवर्ष' नामकरण के आधार सम्राट् खारवेल भारत के समस्त ऐतिहासिक सम्राटों में क्यों श्रेष्ठतम हैं? और जैनत्व को जीकर भी वे अखण्ड-विजेता कैसे बन सके?

१०. समाजसेवा एवं राष्ट्रसेवा के लिए समर्पित सम्राट् खारवेल.

११. सम्राट् खारवेल के जैन-सांस्कृतिक अवदानों की प्रेरणामूर्ति रानी सिंधुला.

●

आचार्य गुणधर और उनका कसायपाहुडसुत्त

– डॉ. फूलचन्द जैन प्रेमी, वाराणसी

विशाल जैन वाङ्मय का अनुयोग पद्धति से विषय के अनुसार विभाजन करने पर इसके चार विभाग किये गये हैं— १. प्रथमानुयोग, २. करणानुयोग, ३. चरणानुयोग और ४. द्रव्यानुयोग। इनमें 'कसायपाहुडसुत्त' करणानुयोग का एक महान् सिद्धान्त ग्रन्थ है। शौरसेनी प्राकृत-साहित्य का जब हम अध्ययन प्रारम्भ करते है, तब हमारी सर्वप्रथम दृष्टि आचार्य गुणधर रचित 'कसायपाहुडसुत्त' पर जाती है। यह उपलब्ध जैन-साहित्य-परम्परा में कर्म-सिद्धान्त विषय का प्राचीनतम महान् ग्रन्थ है। इसके कर्ता आचार्य गुणधर विक्रम पूर्व की प्रथम शती के आचार्य हैं। इनके व्यक्तित्व के विषय में विशेष सामग्री उपलब्ध नहीं है। इनकी एकमात्र कृति 'कसायपाहुडसुत्त' तथा इसके टीकाकारों के उल्लेखों के आधार पर ही इनके विषय में कुछ जानकारी प्राप्त होती है।

कसायपाहुड की प्रसिद्ध टीका जयधवला में कहा भी है कि जिनका हृदय प्रवचन वात्सल्य से भरा हुआ है, उन आचार्य गुणधर ने सोलह हजार पद-प्रमाण पेज्जदोस पाहुड के विच्छेद हो जाने के भय से एक सौ अस्सी गाथाओं द्वारा कसायपाहुड की रचना कर इस ग्रन्थ का उपसंहार किया। (गंथवोच्छेद भएण पवयणवच्छलपरवसीकय-हियएण एदं पेज्जदोसपाहुडं सोलसपदसहस्स पमाणं होतं असीदिसदमेत्त गाहाहि उवधारिदं (जयधवला, भाग १, पृ. ८७)। इस कथन से सिद्ध है कि आचार्य गुणधर ज्ञानप्रवाद नामक पञ्चमपूर्व की दसम वस्तु रूप 'पेज्जदोसपाहुड' के विशेष पारगामी एवं वाचक आचार्य थे।

कसायपाहुड की आ. वीरसेनस्वामी रचित जयधवला टीका के अध्ययन से भी आ. गुणधर के विषय में विशेष जानकारी उपलब्ध नहीं होती। वे तो मात्र इतना ही उल्लेख (भाग १, गाथा ७-८) करते हैं कि जिन आर्यमंक्षु और नागहस्ति ने आ. गुणधर के मुखकमल से विनिर्गत गाथाओं के सर्व अर्थ को अवधारण किया, वे हमें वर प्रदान करें। जो आर्यमंक्षु के शिष्य हैं और नागहस्ति के अन्तेवासी हैं, वृत्तिसूत्र के कर्ता वे यतिवृषभ मुझे वर प्रदान करें। इस सन्दर्भ में आ. इन्द्रनन्दि के अनुसार आ. गुणधर ने स्वयं नागहस्ति और आर्य मंक्षु के लिए कसायपाहुड की गाथाओं का व्याख्यान किया। इन सबसे यह स्पष्ट है कि आर्य मंक्षु और नागहस्ति समकालीन थे तथा दोनों कसायपाहुड के महानवेत्ता थे। कसायपाहुड पर चूर्णिसूत्रों के रचयिता आ. यतिवृषभ इन दोनों के शिष्य थे तथा इन्होंने इनसे कसायपाहुड का ज्ञान प्राप्त किया था। जयधवलाकार ने इन दोनों को महावाचक तथा खवण या महाखवण कहा है। इन सब सन्दर्भों से आ. गुणधर और उनकी महान् परम्परा का ज्ञान होता है; किन्तु आ. गुणधर के विषय में अन्यत्र अधिक जानकारी उपलब्ध नहीं है; किन्तु अब उनके द्वारा रचित महान् सिद्धान्त ग्रन्थ "कसायपाहुड" ही उनके विशाल व्यक्तित्व और कृतित्व का परिचायक है। यहाँ यह भी विशेष उल्लेख्य है कि इस सब अध्ययन से यह भी पता चलता है कि कसायपाहुड तक आगमज्ञान की मौखिक परम्परा ही प्रचलित रही है, जबकि षट्खण्डागम पुस्तकबद्ध किये गये। इसके उल्लेखों से भी स्पष्ट है कि आगमज्ञान को पुस्तकारूढ़ करने का शुभारम्भ षट्खण्डागम से हुआ।

कसायपाहुड का दूसरा नाम 'पेज्जदोसपाहुड' भी है। अत: प्रसंगानुसार पेज्ज का अर्थ राग तथा दोस का अर्थ 'द्वेष' है। प्रस्तुत ग्रन्थ में क्रोध, मान, माया, लोभ— इन चार कषायों की 'राग-द्वेष' रूप परिणति और उनकी प्रकृति, स्थिति, अनुभाग एवं बंध-सम्बन्धी विशेषताओं का विवेचन विश्लेषण ही प्रस्तुत ग्रन्थ का वर्ण्य-विषय होने से इस ग्रन्थ के नाम की सार्थकता भी सिद्ध हो जाती है।

यह उल्लेख्य है कि आचार्य भद्रबाहु और लोहाचार्य के बाद की आचार्य-परम्परा मेंसंघनायक-आचार्य अर्हद्बलि (वीर निर्वाण संवत् ५६५) ने नन्दि, वीर, देव, सेन आदि अनेक संघों की स्थापना की थी। इनमें एक गुणधर नामक संघ भी बना था। इस उल्लेख से यह स्पष्ट है कि गुणधर एक विशाल संघ के प्रभावक आचार्य थे। जयधवलाकार आचार्य वीरसेन ने इन्हें 'वाचक' (पूर्ववित्) उपाधि से विभूषित किया है। इन्हें अंग और पूर्वों का एकदेश ज्ञान आचार्य-परम्परा से प्राप्त हुआ था (तदो अंगपुव्वणमेगदेतो चेव आइरिय परंपराए आगंतूण गुणहराइरियं संप्पत्तो), जिसके आधार पर उन्होंने इस महान् ग्रन्थ की रचना की।

कसायपाहुड की रचनाशैली सुत्तगाहा (गाहासुत्त) के रूप में अतिसंक्षिप्त, बीजपदरूप, अनन्त अर्थगर्भित होने से इसका अर्थबोध सहजगम्य नहीं था, अत: आ. यतिवृषभ ने इस पर सर्वप्रथम चूर्णिसूत्रों की रचना की। इस आगमरूप सिद्धान्त ग्रन्थ की एक सौ अस्सी गाथाओं तथा आचार्य यतिवृषभ की ५३ चूर्णि गाथाओं सहित २३३ गाथाओं के रचयिता आचार्य गुणधर ही माने जाते हैं। (जयधवला, भाग १, पृ. १८३) इन गाहासुत्तों को अनन्त अर्थ से गर्भित किया गया है— एदाओ अणंतत्थगब्भियाओ। इसीलिए इनके स्पष्टीकरण हेतु महाकम्मपयडि पाहुड के महान् विशेषज्ञ आचार्य यतिवृषभ ने इस पर छह हजार श्लोकप्रमाण चुण्णिसुत्तों की रचना की। आ. यतिवृषभ ने अपनी चूर्णि में अनेक अनुयोगों का व्याख्यान न करके "एवं णेदव्वं, भणिदव्वं" आदि कहकर व्याख्याताचार्यों के लिए संकेत किये हैं कि इसी प्रकार वे शेष अनुयोगों का परिज्ञान अपने शिष्यों को करावें। आ. यतिवृषभ के ऐसे सांकेतिक स्थलों और उनके चुण्णिसुत्तों के भी स्पष्टीकरण की जब आवश्यकता हुई तब 'उच्चारणाचार्य' ने बारह हजार श्लोक प्रमाण 'उच्चारणा' नामक वृत्ति का निर्माण किया।

इन सबके चुण्णिसुत्तों एवं उच्चारणावृत्ति के स्पष्टीकरण के लिए भी शामकुण्डाचार्य ने अड़तालीस हजार श्लोकप्रमाण 'पद्धति' नामक टीका की विशेष रूप से रचना की। वीरसेनाचार्य के अनुसार— "सुत्तवृत्तिविवरणाए पद्धई" ववएसादो (जयधवला) अर्थात् जिसमें मूलसूत्र और उसकी वृत्ति का विवरण किया गया हो, उसे 'पद्धति' कहते हैं। आचार्य इन्द्रनन्दि के अनुसार यह पद्धति प्राकृत, संस्कृत और कर्नाटक भाषा में रची गयी टीका विशेष होती थी (प्राकृत संस्कृत कर्णाटक भाषया-पद्धति: पररचिता-- श्रुतावतार, १६४)।

श्रुतावतार (प ा १६६, १७३, १७६) के अनुसार इस पद्धति के बाद तुम्बलूराचार्य ने षट्खण्डागम के आरम्भिक पांच खण्डों पर तथा कसायपाहुड पर कर्णाटकी भाषा में ८४ हजार श्लोकप्रमाण 'चूड़ामणि' नामक बहुत विस्तृत व्याख्या लिखी थी। इस चूड़ामणि के बाद भी बप्पदेवाचार्य द्वारा भी इस ग्रन्थ पर कोई टीका लिखी गयी थी— ऐसा उल्लेख मिलता है; किन्तु इसके नाम और प्रमाण का कोई स्पष्ट उल्लेख नहीं है। यहाँ यह जानना आवश्यक है कि इस समय शामकुण्डाचार्य रचित 'पद्धति' तुम्बलूराचार्य की चूड़ामणि और बप्पदेव की टीका-- जिन्हें हम सुरक्षित नहीं रख सके, अत: ये तीनों विशिष्ट टीकाएँ अब उपलब्ध नहीं है।

वस्तुत: द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव के अनुसार प्रत्येक वस्तुओं में परिवर्तन नियमानुसार होता ही रहता है। अत: युग के अनुसार लोगों की स्मरण और ग्रहण शक्ति में भी परिवर्तन आया। इसलिए सिद्धान्त के विषयों की गहनता और भाषा की कठिनाई ने इस महान् ज्ञान की अविच्छिन्न धारा में बाधा डालना प्रारम्भ किया, तब उपर्युक्त टीकाओं और मूल ग्रन्थ के अनन्त अर्थों को हृदयंगम करके आचार्य वीरसेन (नवीं शती के पूर्वार्द्ध) और जिनसेन (नवीं शती) ने 'मणिप्रवाल-न्याय' से प्राकृत-संस्कृत मिश्रित भाषा में साढ़े हजार श्लोक प्रमाण 'जयधवला' नामक टीका की रचना करके सरल भाषा में उस महान् अविच्छिन्न आगमज्ञान-परम्परा को भावी पीढ़ी के लिए सुरक्षित करके अपने को सभी के लिए श्रद्धा का अमर पात्र बना लिया।

षट्खण्डागम की धवला-टीका का भाषायी विश्लेषण

— वृषभ प्रसाद जैन, लखनऊ

यह स्पष्ट ही है कि सूत्र सूत्र-शैली में होते हैं और टीका व्याख्यान-शैली में। षट्खण्डागम आचार्य पुष्पदन्त भूतबलि की सूत्र-रचना है और 'धवला' आचार्य वीरसेन स्वामी की षट्खण्डागम के सूत्रों पर टीका। टीका के प्रमुख रूप में निम्न तीन काम होते हैं—

१. मूल सूत्र में जो सूत्रबद्ध रूप में कहा गया है, उसका व्याख्यान करना।

२. इस व्याख्यान करने में जो प्रचलित परम्पराएँ हैं, उन परम्पराओं को दिग्दर्शित करते हुए सूत्र को सूत्र-मूल की परम्परा के साथ जोड़ना और सहबद्ध परम्पराओं के साथ सूत्र के रिश्ते को उजागर करना।

३. इस दूसरे काम को करने के लिए कई बार टीकाकार को अपनी परीक्षा भी देनी पड़ती है, इसीलिए वह यह सब काम कई स्थलों पर सूत्र के साथ रहते हुए और कई स्थलों पर सूत्र के विरोध में रहकर भी करता है।

उक्त तीनों कामों को करने के लिए टीकाकार को किसी-न-किसी भाषा का सहारा लेना पड़ता है, वह जिस भाषा का सहारा लेता है, वह भाषा ही टीका-भाषा कहलाती है। कई टीका ग्रन्थों के सन्दर्भ में टीका-भाषा और सूत्र-भाषा एक देखी जाती है, कई ग्रन्थों के सन्दर्भ में टीका-भाषा और होती है और सूत्र-भाषा कुछ और होती है तथा कई के सन्दर्भ में टीका-भाषा सूत्र-भाषा होते हुए भी कुछ और भी होती है, पर एक बात जरूर है कि उपर्युक्त तीनों तरह की टीका-भाषाएँ सूत्र में निहित, गूढ़ या गुह्य अर्थ को उद्घाटित, व्याख्यायित करने वाली होती हैं और यदि वह वह नहीं है तो वह समुज्ञित टीका-भाषा नहीं कही जा सकती। धवला उपर्युक्त तीनों प्रकारों में तीसरे प्रकार की भाषा वाली टीका है। भाव यह है कि धवला के मूल सूत्र प्राकृत में हैं, पर धवला प्राकृत-भर में नहीं है। प्राकृत के साथ-साथ वह संस्कृत को भी साथ लेकर चलती है, बल्कि कई स्थलों पर संस्कृत प्रमुख रूप में दिखती है और प्राकृत अंश कुछ गौण रूप से, लेकिन इससे तीन बातें साफ उजागर हो जाती हैं—

१. सूत्र-रचना काल की भाषा प्राकृत रही है,

२. टीका काल में प्राकृत बौद्धिक संसार में अपना वह महत्त्व नहीं रख पा रही थी, जो सूत्र-रचना काल में उसका था और इसलिए उसे अपने साथ-साथ उस काल विशेष में महत्त्वपूर्ण रूप से उभरने वाली संस्कृत को भी जोड़ना पड़ा।

३. यद्यपि सूत्र और टीका दोनों की भाषाएँ बौद्धिक संसार की भाषाएँ हैं, ठीक लोकव्यवहार की भाषाएँ नहीं, पर लोकव्यवहार से जुड़ी भाषाएँ हैं, क्योंकि अगर ये लोकव्यवहार को अनदेखी करने वाली भाषाएँ होती तो टीकाकार चाहे जिस भाषा में टीका करता और वैसी स्थिति में लोक में विद्यमान भौतिक संसार की चिन्ता न करता, पर टीकाकार ने ऐसा नहीं किया, इससे स्पष्ट है कि धवला टीका की भाषा बौद्धिक संसार की भाषा होते हुए भी लोक मान्य भाषा के लोकव्यवहार की स्थिति से जुड़कर रहने वाली भाषा है।

षट्खण्डागम की धवलाटीका के व्याकरणात्मक नियम

— डॉ. उदयचन्द्र जैन, उदयपुर

आचार्य पुष्पदन्त भूतबलि ने 'छक्खण्डागम' की शौरसेनी प्राकृत में जो रचना की उस पर आचार्य वीरसेन ने धवलाटीका के आधार पर सम्पूर्ण विषय का प्रतिपादन किया है। जीवस्थान, क्षुल्लकबंध, बंधस्वामित्वविचय, वेदना, वर्गणा और महाबंध— इन छः अधिकारों में जीवतत्त्व से लेकर कर्म-सिद्धान्त के सम्पूर्ण विषय का विवेचन अपने आप में महत्त्वपूर्ण है। यही नहीं अपितु यह आद्य, सूत्रात्मक-ग्रन्थ एक ऐसा ग्रन्थ है जिससे समस्त ग्रन्थियों का खुलासा होता है।

आचार्य वीरसेन ने प्राकृत एवं संस्कृत दोनों में ही षट्खण्डागम पर धवला नामक व्याख्या प्रस्तुत की है। यह व्याख्या प्राकृत-भाषा के सूत्रात्मक दृष्टिकोण को भी लिए हुए है। इसमें शौरसेनी, अर्धमागधी, महाराष्ट्री आदि प्राकृतों का समावेश है, परन्तु इसमें टीकाकार ने प्रत्येक शब्द, पद आदि की विशेषताओं को स्पष्ट करने के लिए व्याकरणात्मक सूत्र भी दिये हैं। जैसे — 'एदे छट्ठ समासा', यह छह समान अर्थ वाले पद हैं। इसके प्रारम्भ में जो मंगलाचरण दिया है उसका व्याकरणात्मक विश्लेषण अत्यन्त ही महत्त्वपूर्ण है।

सिद्धमणंतमणिंदियमणुवममप्पत्थ सोक्खमणवज्जं
केवल-पहोह-णिज्जिय-दुण्णय-तिमिरं जिणं णमह।

सिद्ध— षिधु धातु, गमनार्थक या संधारण या सिद्ध अर्थ में प्रसिद्ध है।

अनन्त— अन्त सीमावाचक है और अनन्त पदार्थों को जानने का भी बोध कराता है।

इसी तरह प्रारम्भिक नवकारमन्त्र की व्याख्या में सूत्रात्मक दृष्टिकोण है, इसमें मंगल, निमित्त हेतु, परिमाण, नाम एवं कर्त्ता की दृष्टि से विवेचन किया है।

एए छच्च-समाणा- अ आ इ ई उ ऊ— ये समान पद हैं। इन्हीं से संयोगाक्षर, लब्ध्यक्षर और निर्वृत्यक्षर के अनुसार वृद्धि, गुण आदि बनते हैं। इन्हें भी प्रामाणिक माना जाता है। इसलिए इनके प्रमाण पद, मध्यपद, वाक्यपद, भेदपद, अर्थ आदि की दृष्टि से विवेचन किया जाता है।

धाउ-णिक्खेव-णय-एयत्थ-णिरुत्ति-अणियोग छरेहि ..... तत्थ धाऊ भू सत्तायां ..... तत्थ 'मगि' इदि अणेण धाउणा। इत्यादि शब्द से पद, पद से अर्थ, अर्थ से निर्णय तंक पहुंचने के लिए धातु, निक्षेप, नय, एकार्थ, निरुक्ति, अनुयोग, आदि को महत्त्व दिया जाता है।

'अणु' संज्ञा है। लिंग, संख्या, काल, कारक, पुरुष और उपग्रह आदि व्याकरणात्मक प्रयोग षट्खण्डागम की विशेषता है। इसमें कारक के अनुसार जहाँ नय के दृष्टिकोण को प्रतिपादित किया गया वहीं पर लिंग के अनुसार पद की व्याख्या की गयी। धातु के अनुसार शब्दों का विश्लेषण किया गया। यथा —

(१) इन्दनादिन्द्रः — परमं ऐश्वर्यशाली होने से इन्द्र।

(२) पूर्दारणात्पुरन्दरः — नगरों का विभाग करने के कारण पुरन्दर।

(३) शकनाच्छक्र— सामर्थ्यवान् होने के कारण शक्र।

आचार्य वीरसेन ने धवलाटीका में शब्द के आधार से अनेक प्रकार के व्यभिचार अर्थात् दोष के निरूपण में लिंग, संख्या, काल, कारक, पुरुष और उपग्रह दोषों आदि का कथन किया है।

लिंग दोष — स्त्रीलिंग के स्थान पर पुल्लिंग और पुल्लिंग के स्थान पर स्त्रीलिंग का कथन करना। यथा— तारका स्वाति— यहाँ तारका स्त्रीलिंगवाची है और स्वाति पुल्लिंगवाची है। अवगमो विद्या ..... अवगमो शब्द पुल्लिंग है और विद्या स्त्रीलिंग है।

संख्या-दोष — एकत्वे द्वित्वं नक्षत्रं पुनर्वसु, एकत्वे बहुत्वं

नक्षत्रं शतभिषज-द्वित्वे एकत्वं गोदा ग्राम इति।

काल-दोष— भविष्यत्काल के स्थान पर भूतकाल, भूतकाल के स्थान पर भविष्यत्काल। यथा— विश्वदृश्वास्य पुत्रो जनिता।

कारक-दोष — एक साधन के स्थान पर दूसरे साधन/कारक का प्रयोग कारक दोष का व्यभिचार है।

इसी तरह पुरुष-दोष (व्यभिचार) भी होता है।

एदेसिं चेव चोद्दसण्हं — ये चौदह संज्ञाएं चौदह जीव समासरूप हैं। ऐंसे सूत्र के माध्यम से अनुयोग, नियोग, भाषा, विभाषा और वार्तिक का कथन किया जाता है। 'तं जहाँ' सूत्र ने आगे कहे जाने वाले प्रसंग को प्रतिपादित किया है। यह धवलाटीका के सूत्र विवेचन का ही परिणाम है। 'सामान्ये नपुंसकं' यह भी उनका नपुंसक लिंग निर्देश करने का सूत्र है। आर्षवचन भी सूत्र कहे गये हैं। 'च' सद् समुच्चयसूचक और इति शब्द गुणस्थानसूचक भी कहा गया। त्रसि उद्वेगे सूत्र ने भयभीत अर्थ को व्यक्त किया है।

इस प्रकार षट्खण्डागम के विश्लेषण पद्धति के अनेक सूत्र है। जो स्वतन्त्र व्याकरणात्मक ज्ञान को प्रस्तुत करते है। विस्तृत निबन्ध में इन्हीं सबका विश्लेषण प्रस्तुत किया गया है।

षट्खण्डागम में नय-सिद्धान्त के प्रयोग

– डॉ. अनेकान्तकुमार जैन

षट्खण्डागम दिगम्बर जैन-परम्परा का मूल आगम ग्रन्थ है। षट्खण्डागम के रचयिता धरसेनाचार्य के शिष्य आचार्य पुष्पदन्त व भूतबली मुनिराज हैं। इस आगम में छह खण्ड इस प्रकार हैं— १. 'जीवस्थान'; २. 'खुद्दाबन्ध'; ३. 'बन्धस्वामित्वविचय'; ४. 'वेदनाखण्ड'; ५. 'वर्गणाखण्ड' और ६. 'महाबन्ध'। इसके चतुर्थ 'वेदनाखण्ड' तथा पञ्चम 'वर्गणाखण्ड' में नैगम आदि प्रसंगत: विवेचन भी है। विभिन्न विषयों के प्रतिपादन इन्हीं के आधार पर किया गया है।

वेदनाखण्ड में वेदना निक्षेप अनुयोगद्वार के अन्तर्गत 'वेदना' शब्द के अनेक अर्थ निर्दिष्ट किये गये हैं। उनमें कहाँ कौन सा अर्थ ग्राह्य है, यह नयों के माध्यम से ही समझाया गया है। इसके लिए ग्रन्थकर्त्ता ने वेदनाखण्ड में 'वेयणा णय विभाउणा' नाम का द्वितीय अधिकार ही बना दिया। इस प्रकार वेदना तथा वर्गणा को समझाने के लिए नय सिद्धान्त का प्रयोग किया गया है। पूरे मूल शोध-निबन्ध के निष्कर्ष को हम सार रूप में निम्नलिखित बिन्दुओं के आधार पर समझ सकते हैं--

(१) कसायपाहुड की तरह षट्खण्डागम में भी नैगम आदि प्रसिद्ध सात नयों की परिभाषा तो नहीं है; किन्तु इन नयों के प्रयोगों को जब हम देखते हैं तो स्पष्ट समझ में आता है कि इनके कर्ता का मुख्य भाव वही है जो कि परवर्ती आचार्यों ने नैगमादि नयों की परिभाषा करते समय ग्रहण किया।

(२) चार वेदना निक्षेपों का वर्गीकरण करते समय तथा अन्य कर्मस्थलों पर नैगम, व्यवहार तथा संग्रहनय को एक अर्थ में लिया है।

(३) ज्ञानावरणादि वेदनाओं का वर्गीकरण करते समय नैगम और व्यवहारनय को एक अर्थ में लिया है।

(४) ज्ञानावरणादि कर्मों के वेदना स्वामित्व विधान प्रकरण में शब्दनय और ऋजुसूत्रनय को एक अभिप्राय में लिया है।

(५) वर्तमान में नैगमादि नयों की प्रसिद्ध परिभाषाओं की तरफ दृष्टिपात करें तो वे परिभाषायें अपने स्वरूप लक्षणानुसार आपस में पृथक्-पृथक् तो है ही, उनका विषय भी उत्तरोत्तर सूक्ष्म है।

(६) इस सन्दर्भ में हो सकता है धरसेनाचार्य की कोई विशेष दृष्टि रही हो। यह खोज का विषय है कि नयों को लेकर उनकी दृष्टि कैसी रही होगी?

(७) षट्खण्डागम आगम युग का ग्रन्थ है और आगम युग को हम नय का उद्भव तथा विकासशील काल मानते हैं, यही कारण है कि धरसेनाचार्य की नय विषयक विचारणा एक अलग ही रूप लिए हुए है।

षट्खण्डागम के कर्ता मनीषी नय का प्रयोग कर रहे हैं, वे इस प्रयोग में नय के नैगमादि भेदों को किन अर्थों में ले रहे हैं? यह अभी भी अनुसन्धान का विषय बना हुआ है।

●

आचार्य कुन्दकुन्द और उनकी टीकाकारों की दृष्टि में
स्वसमय और परसमय

– डॉ. हुकमचन्द भारिल्ल, जयपुर

मूलसंघ के प्रतिष्ठापक आचार्य कुन्दकुन्ददेव जिन-अध्यात्म-परम्परा के शिरमौर हैं। दिगम्बर जिन-परम्परा में भगवान् महावीर और गणधर गौतम के तत्काल बाद नामोल्लेखपूर्वक एकमात्र उन्हें ही स्मरण किया जाता रहा है। कहा जाता है कि —

मंगलं भगवान् वीरो मंगलं गौतमो गणी।
मंगलं कुन्दकुन्दाद्यो जैनधर्मोऽस्तु मंगलम्।।

शास्त्र प्रवचन आरम्भ करने के पूर्व विद्वानों द्वारा बोले जाने वाले उक्त छन्द में आचार्य कुन्दकुन्द को नामोल्लेखपूर्वक स्मरण करके शेष आचार्यों को 'आदि' शब्द में शामिल कर लिया गया है।

जिस प्रकार हाथी के पैर में सभी पशुओं के पैर समाहित हो जाते हैं; उसी प्रकार आचार्य कुन्दकुन्द में सम्पूर्ण दिगम्बर जिन आचार्य-परम्परा समाहित हो जाती है। समस्त परवर्ती आचार्य स्वयं को मूलसंघ की कुन्दकुन्दाम्नाय- परम्परा का कहकर गौरवान्वित होते हैं।

आचार्य कुन्दकुन्द अपनी सर्वाधिक लोकप्रिय कृति समयसार की दूसरी ही गाथा में स्वसमय और परसमय को परिभाषित करते हुए लिखते हैं—

जीवो चरित्तदंसणणाणट्ठिदो तं हि ससमयं जाण।
पोग्गलकम्मपदेसट्ठिदं च तं जाण परसमयं।।२।।
(हरिगीत)

सद्ज्ञानदर्शनचरित परिणत जीव ही हैं स्वसमय।
जो कर्मपुद्गल के प्रदेशों में रहें वे परसमय।।२।।

जो जीव दर्शन, ज्ञान एवं चारित्र में स्थित हैं; उन्हें स्वसमय जानो और जो जीव पुद्गलकर्म के प्रदेशों में स्थित हैं; उन्हें परसमय जानो।

मूल गाथा में तो स्वसमय और परसमय को ही परिभाषित किया गया है, पर आचार्य अमृतचन्द्र और जयसेन पहले समय का स्वरूप स्पष्ट करते हैं, उसके बाद स्वसमय और परसमय को समझाते हैं।

स्वभाव में स्थित जीव स्वसमय हैं और परभाव में स्थित जीव परसमय हैं। स्वसमय और परसमय दोनों अवस्थाओं में व्यापक प्रत्यगात्मा समय है।

यहाँ 'समय' शब्द का अर्थ परद्रव्यों और उनके गुणों-पर्यायों से अत्यन्त भिन्न, ज्ञान-दर्शनस्वभावी,

उत्पाद, व्यय व ध्रौव्य से सहित, गुण-पर्यायवान्, स्व-परप्रकाशक, अनन्तधर्मात्मक, टंकोत्कीर्ण चैतन्यस्वभावी जीवद्रव्य है।

यहाँ प्रमाण के विषयभूत **जीवद्रव्य** को लिया गया है; **द्रव्यार्थिकनय** के विषय या दृष्टि के विषयरूप जीवतत्त्व को नहीं।

जब यह गुण-पर्यायवान् जीवद्रव्य अपने त्रिकाली ध्रुव निज भगवान् आत्मा में अपनापन स्थापित करता है, उसे ही अपना जानता-मानता है, उसमें ही जमता-रमता है, तब स्वसमय कहलाता है और जब पुद्गलकर्म के उदय के निमित्त से प्राप्त संयोगों में, संयोगीभावों में अपनापन स्थापित करता है, उन्हें ही अपना जानता-मानता है, उसमें ही जमता-रमता है, तब परसमय कहलाता है।

प्रवचनसार में स्वसमय-परसमय की परिभाषा इस प्रकार दी गयी है—

जो पज्जएसु णिरदा जीवा परसमइग त्ति णिदिट्ठा।
आदसहावम्हि ठिदा ते सगसमया मुणेदव्वा।।

जो जीव पर्यायों में लीन हैं, उन्हें परसमय कहा गया है और जो जीव आत्मस्वभाव में स्थित हैं, उन्हें स्वसमय जानना चाहिए।''

समयसार की दूसरी गाथा में दर्शन, ज्ञान और चारित्र में स्थित जीव को स्वसमय कहा गया है और प्रवचनसार में आत्मस्वभाव में स्थित जीव को स्वसमय कहा गया है। इसी प्रकार समयसार में पुद्गलकर्म के प्रदेशों में स्थित जीव को परसमय कहा गया है और प्रवचनसार में पर्यायों में निरत आत्मा को परसमय कहा गया है।

उक्त दोनों कथनों में कोई अन्तर नहीं है, मात्र अपेक्षा भेद है। आत्मस्वभाव में स्थित होने का नाम ही दर्शन-ज्ञान-चारित्र में स्थित होना है। श्रद्धा, ज्ञान और चारित्र गुण की पर्यायें जब आत्मस्वभाव के सन्मुख होकर परिणमित होती हैं, तब सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र प्रगट होते हैं; उसी को आत्मस्वभाव में स्थित होना कहते हैं और उसी को दर्शन-ज्ञान-चारित्र में स्थित होना कहते हैं।

समयसार की आत्मख्याति टीका में पुद्गलकर्म के प्रदेशों में स्थित होने का अर्थ मोह-राग-द्वेषादि भावों में एकत्व स्थापित कर परिणमन करना किया है और प्रवचनसार की तत्त्वप्रदीपिका टीका में पर्यायों में निरत का अर्थ करते हुए मनुष्यादि असमान जाति द्रव्यपर्यायों में एकत्वरूप से परिणमन करने पर विशेष बल दिया है।

तात्पर्य यह है कि परसमय की व्याख्या में आत्मख्याति में मोह-राग-द्वेषरूप आत्मा के विकारी परिणामों के साथ एकत्वबुद्धि पर बल दिया है, तो तत्त्वप्रदीपिका टीका में मनुष्यादि असमान जाति द्रव्यपर्यायों के साथ एकत्वबुद्धि पर बल दिया है।

आत्मख्याति में उपचरित-सद्भूतव्यवहारनय के विषय को लिया है, तो तत्त्वप्रदीपिका में अनुपचरित-असद्भूत व्यवहारनय के विषय को लिया है। रागादि के साथ एकता की बात उपचरित-सद्भूतव्यवहारनय कहता है और

मनुष्य देहादि के साथ एकता की बात अनुपचरित-असद्भूतव्यवहारनय कहता है।

निश्चयरत्नत्रय से रहित जीव तो मिथ्यादृष्टि ही होते हैं; पर निश्चयरत्नत्रय से परिणत जीवों को तीन भागों में विभाजित किया जा सकता है और वे तीनों भेद चारित्र की पूर्णता-अपूर्णता के आधार पर घटित होते हैं; क्योंकि सम्यग्दर्शन तो अपूर्ण होता ही नहीं। चौथे गुणस्थान में ही क्षायिक सम्यग्दर्शन हो जाता है; सम्यग्ज्ञान भी सम्यक् मिथ्या की अपेक्षा सम्यक् ही होता है, पूर्ण सम्यक् ही होता है; भले केवलज्ञान नहीं है, पर सम्यक्पने में कोई अन्तर नहीं होता, कोई अपूर्णता नहीं होती।

अनन्तानुबन्धी कषाय के अभाव में चारित्र का अंश चतुर्थ गुणस्थान में प्रकट हो जाता है और पूर्णता वीतराग होने पर ही होती है तथा सातवें गुणस्थान के योग्य शुद्धोपयोग की अपेक्षा सातवें गुणस्थान में निश्चयचारित्र होता है।

इस प्रकार निश्चयरत्नत्रय परिणत जीवों को निम्नांकित तीन भागों में रखा जाता है—

(१) निश्चयसम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र प्रगट हो जाने से चतुर्थ गुणस्थान वाले जीव निश्चयरत्नत्रय से परिणत हैं। इस अपेक्षा तो चतुर्थगुणस्थान से लेकर सिद्ध तक सभी जीव स्वसमय ही हैं।

(२) आत्मध्यान में स्थित जीवों को ही निश्चयरत्नत्रय परिणत कहें तो सातवें गुणस्थान से ऊपर वाले जीव ही स्वसमय कहलायेंगे।

(३) यदि पूर्ण वीतरागियों को ही निश्चयरत्नत्रयपरिणत कहें तो बारहवें गुणस्थान से आगे वाले ही स्वसमय कहलायेंगे।

यहाँ एक प्रश्न उपस्थित होता है कि मिथ्यादृष्टि परसमय और सम्यग्दृष्टि से सिद्ध तक स्वसमय— यह अपेक्षा तो ठीक; पर जब मिथ्यादृष्टि को परसमय और वीतरागियों को स्वसमय कहेंगे तो फिर छद्मस्थ सम्यग्दृष्टियों (चौथे गुणस्थान से लेकर बारहवें गुणस्थान तक) को क्या कहेंगे — स्वसमय या परसमय?

इस प्रश्न के उत्तर के लिए पञ्चास्तिकाय की १६५वीं गाथा द्रष्टव्य है, जो इस प्रकार है —

अण्णाणादो णाणी जदि मण्णदि सुद्धसंपओगादो।
हवदित्ति दुक्खमोक्खं परसमयरदो हवदि जीवो।।

'शुद्धसम्प्रयोग से दुःखों से मोक्ष होता है' — अज्ञान के कारण यदि ज्ञानी भी ऐसा माने तो वह परसमयरत जीव है।''

इसी गाथा की टीका लिखते हुए आचार्य अमृतचन्द्र लिखते हैं कि यह सूक्ष्मपरसमय के स्वरूप का कथन है। वे आगे लिखते हैं कि यहाँ सिद्धि के साधनभूत अरहन्तादि भगवन्तों के प्रति भक्तिभाव से अनुरञ्जित चित्तवृत्ति ही शुद्धसम्प्रयोग है। जब अज्ञानलव के आवेश से यदि ज्ञानभाव भी 'उस शुद्धसम्प्रयोग से मोक्ष होता है' — ऐसे अभिप्राय द्वारा खेद प्राप्त करता हुआ उसमें (शुद्धसम्प्रयोग में) प्रवर्ते तो तब तक वह भी रागलव के सद्भाव के कारण परसमयरत कहलाता है; तो फिर निरंकुश रागरूपक्लेश से कलंकित अन्तरंगवृत्तिवाले इतर जन परसमयरत क्यों नहीं कहलायेंगे?

उक्त गाथा और उसकी टीका दोनों ही गम्भीर मन्थन की अपेक्षा रखती हैं। सबसे मुख्य बात तो यह है कि 'ज्ञानी भी अज्ञान से'— गाथा का यह वाक्य एवं 'अज्ञानलव के आवेश से यदि ज्ञानवान् भी' टीका का यह वाक्य— ये दोनों ही वाक्य विरोधाभास-सा लिए हुए हैं। जब कोई व्यक्ति ज्ञानी है तो उसके अज्ञान कैसे हो सकता है?

यद्यपि सम्यग्ज्ञानी के भी औदयिक अज्ञान होता है, अल्पज्ञानरूप अज्ञान होता है; तथापि इस अज्ञान के कारण परसमयपना सम्भव नहीं होता, क्योंकि यहाँ शुद्धसम्प्रयोग का अर्थ अरहन्तादि की भक्ति से अनुरञ्जित चित्तवृत्ति किया है और साथ ही यह भी लिखा है कि इससे मोक्ष होता है — ऐसे अभिप्राय के कारण परसमयपना है। अतः यह सिद्ध ही है कि यहाँ औदयिक अज्ञान की बात नहीं है।

यदि औदयिक अज्ञान की बात है नहीं और ज्ञानी के क्षायोपशमिक अज्ञान होता ही नहीं है तो फिर कौन-सा अज्ञान है ?

भाई, यहाँ मुख्य रूप से मिथ्यादृष्टि को ही परसमय बताना है। इसी बात पर वजन डालने के लिए यहाँ यह कहा गया है कि जब अरहन्त की भक्ति से मुक्ति प्राप्त होती है — इस अभिप्राय वाले भी परसमय कहे जाते हैं तो फिर विषय-कषाय में सुखबुद्धि से निरंकुश प्रवृत्ति करने वाले तो परसमय होंगे ही।

वस्तुतः तो यहाँ चारित्र के दोष पर ही वजन है, श्रद्धा या ज्ञान के दोष पर नहीं; भले ही अज्ञान शब्द का प्रयोग किया हो, पर साथ ही ज्ञानी शब्द का भी प्रयोग है न? तथा यह भी लिखा है कि रागलव के सद्भाव के कारण परसमयरत है। यहाँ 'रागलव के सद्भाव के कारण' — यह वाक्य विशेष ध्यान देने योग्य है।

यही कारण है कि आचार्य अमृतचन्द्र को उन्हें परसमय कहने में संकोच का अनुभव हो रहा है। उनका यह संकोच इस रूप में व्यक्त हुआ है कि वे कहते हैं यह सूक्ष्मपरसमय का कथन है। यद्यपि गाथा में ऐसा कोई भेद नहीं किया है, तथापि अमृतचन्द्र टीका के आरम्भ में ही यह बात लिखते हैं।

'श्रद्धा के दोषवाले मिथ्यादृष्टि स्थूलपरसमय और चारित्र के दोषवाले सराग सम्यग्दृष्टि सूक्ष्मपरसमय हैं' — इस प्रकार का भाव ही इसी गाथा की टीका में आचार्य जयसेन ने व्यक्ति किया हैं। उनके मूल कथन का भाव इस प्रकार है— "कोई पुरुष निर्विकार शुद्धात्मभावना लक्षणवाले परमोपेक्षासंयम में स्थित होने में अशक्त होता हुआ काम-क्रोधादि अशुद्ध (अशुभ) परिणामों से बचने के लिए तथा संसार की स्थिति का छेद करने के लिए जब पञ्चपरमेष्ठी का गुणस्तवन करता है, भक्ति करता है, तब सूक्ष्मपरसमयरूप परिणमित होता हुआ सराग सम्यग्दृष्टि होता है, और यदि शुभोपयोग से ही मोक्ष होता है— ऐसा एकान्त से मानता है तो स्थूलपरसमयरूप परिणाम से स्थूल परसमय होता हुआ अज्ञानी मिथ्यादृष्टि होता है।"

उक्त कथन में मिथ्यादृष्टि को स्थूलपरसमय और सराग सम्यग्दृष्टि को सूक्ष्मपरसमय कहा है। इससे यह सहज ही फलित होता है कि वीतराग सम्यग्दृष्टि स्वसमय हैं।

पञ्चास्तिकाय की गाथा 165 से 169 तक पाँच गाथाओं में शुभराग में धर्मबुद्धि का और शुभरागरूप परिणति का बड़ी ही निर्दयता से निषेध किया गया है। ऐसे जीवों को परसमय कहकर स्वसमय बनने की प्रेरणा दी गयी है।

समयसार की दूसरी गाथा की टीका में आचार्य जयसेन निश्चयरत्नत्रय से परिणत जीव को स्वसमय और निश्चयरत्नत्रय से रहित जीव को परसमय कहते हैं।

हाँ, एक बात यह भी हो सकती है कि क्षयोपशम सम्यग्दृष्टि के सम्यक्त्व की देशघाति प्रकृति सम्यक्त्व-प्रकृतिमिथ्यात्व के उदय में सम्यक्त्व में चल, मल और अगाढ़ दोष उत्पन्न होते रहते हैं; उन दोषों को ही यहाँ 'अज्ञानलव' शब्द से सम्बोधित किया हो, क्योंकि उक्त दोषों का भी लगभग वहीस्वरूप है, जो यहाँ सूक्ष्मपरसमय के प्रतिपादन में व्यक्त किया गया है। अतः एक सम्भावना यह भी हो सकती है कि यहाँ चल, मल और अगाढ़ दोष वाले क्षयोपशम सम्यग्दृष्टियों को ही 'सूक्ष्मपरसमय' शब्द से सम्बोधित किया गया हो।

अरे भाई! यह सब तो सूक्ष्मपरसमय का विवेचन है, मूलरूप से तो यहाँ यही उपयुक्त है कि स्वसमय माने सम्यग्दृष्टि धर्मात्मा, मुक्तिमार्ग एवं मुक्त तथा परसमय माने मिथ्यादृष्टि संसारी। प्रथम गुणस्थान वाले परसमय हैं और चौथे गुणस्थान से सिद्धदशा तक के जीव स्वसमय हैं।

निष्कर्ष के रूप में यही कहा जा सकता है कि वास्तविक धर्मपरिणत आत्मा ही धर्मात्मा हैं, स्वसमय हैं और धर्म परिणति से विहीन मोह-राग-द्वेष परिणत आत्मा ही अधर्मात्मा हैं, परसमय हैं।

स्वसमय उपादेय है, परसमय हेय है, समय ज्ञेय है और समयसार ध्येय है। समयसाररूप ध्येय के ज्ञान,श्रद्धान और ध्यान से ही यह समय स्वसमय बनता है और समयसार के ज्ञान, श्रद्धान एवं ध्यान के अभाव में मोह-राग-द्वेषरूप परिणत होकर परसमय बनता है।

अतः समयसाररूपशुद्धात्मा को समझकर उसमें अपनापन स्थापित करना, उसका ही ध्यान करना अपना परम कर्त्तव्य है। अतीन्द्रिय आनन्द अर्थात् सच्चा सुख प्राप्त करने का एकमात्र यही उपाय है।

●

आचार्य समन्तभद्र और उनका अवदान

– डॉ. नेमिचन्द जैन, खुरई

व्यक्तित्व

आचार्य समन्तभद्र जैन वाङ्मय के प्रथम संस्कृत कवि एवं स्तुतिकार हैं। वे उद्भट दार्शनिक एवं श्रेष्ठ विचारक थे। उनको श्रुतधर आचार्य एवं सारस्वत आचार्यों की परम्पराओं को जोड़ने का श्रेय प्राप्त है। वे तार्किक मनीषी थे। उनके दार्शनिक रचनाओं पर आचार्य अकलंक और विद्यानन्द जैसे श्रेष्ठ आचार्यों ने टीकाएं एवं विवृत्तियां लिखकर श्रेष्ठ ग्रन्थकार का यश प्राप्त किया है। आचार्य समन्तभद्र ने स्तुतियों में जहाँ भक्ति तत्त्व का समावेश किया है वहीं दार्शनिक मान्यताओं को भी कुशलतापूर्वक समाविष्ट करते हुए उनका जैन-दर्शन के अनुसार समालोचन प्रस्तुत किया है।

आचार्य जिनसेन ने अपने आदिपुराण में समन्तभद्र को वादि, बाग्मी कवि एवं गमकत्व आदि विशेषणों से अलङ्कृत किया है तथा कवि वेधा भी कहा है। आचार्य वादीभसिंह ने गद्यचिन्तामणि ग्रन्थ में समन्तभद्र की तार्किक प्रतिभा तथा शास्त्रार्थ की क्षमता का वर्णन किया है। श्री वर्धमानसूरि ने 'वाराङ्गचरित्र' में समन्तभद्र को महाकवीश्वर तथा सुतर्कशास्त्रामृतसागर विशेषण से सम्बोधित कर कवित्व शक्ति प्राप्ति की प्रार्थना की है। श्रवणबेलगोला के शिलालेख नम्बर ५४, १०५, १०८ में एवं श्री शुभचन्द्र के ज्ञानार्णव में, अजितसेन के 'अलङ्कार चिन्तामणि' में समन्तभद्र को तेजस्वी विद्वान् प्रभावक दार्शनिक महावादी विजेता आदि के रूप में स्मरण किया है।

जीवन-परिचय

समन्तभद्र के ऊपर हुई खोजों के आधार पर यह तय हुआ है कि उनका जन्म दक्षिण भारत के उरगपुर (उरैपुर) के क्षत्रिय राजा के घर में हुआ था। उरैपुर को वर्तमान में 'त्रिचनापोली' नाम से जाना जाता है। स्तुतिविद्या अपर नाम जिनशतक में "गत्यैकस्तुतमेव" श्लोक में इनका नाम शान्तिवर्मा ज्ञात होता है। इनके पिता और माता का नाम आज तक खोज का विषय है।

जीवन की घटनाएं

समन्तभद्र एक सम्यक्दृष्टि जैन मुनि थे। आचार्य अमृतचन्द्र ने लिखा है "सम्यक्दृष्टेः भवति नियतम् ज्ञान वैराग्य शक्तिः"। इसके अनुसार समन्तभद्र ज्ञान, वैराग्य-शक्ति सम्पन्न थे। ऐसा व्यक्ति जीवन में आयी हुई घटनाओं से घबराता नहीं है। इनके जीवन में इनको भष्मकव्याधि नामक रोग हो गया था। गुरु की आज्ञा से ये भष्मक व्याधि के निवारणार्थ भारत के कोने-कोने में घूमे। राजा शिवकोटि के मन्दिर में भष्मक व्याधि का शमन हुआ। राजा ने परीक्षा ली और वे परीक्षा में सफल हुए। जगह-जगह भ्रमण करने के कारण उन्हें विभिन्न धर्मावलम्बी दार्शनिकों से वाद-विवाद होने पर विजय प्राप्त हुई। ऐसे प्रकरण पट्टावलियों एवं राजवलि कथे आदि ग्रन्थों के अवलोकन से ज्ञात होते हैं।

समय-निर्धारण

समन्तभद्र के समय निर्धारण के सम्बन्ध में विद्वानों ने चिन्तन किया है— १. मि. लेविस राइस ने समन्तभद्र को ई. की प्रथम द्वितीय शताब्दी का अनुमान है। २ कर्नाटक कविचरिते के रचयिता श्री नरसिंहाचार्य ने शक् संवत् ६० अर्थात् ई.सन् १३८ का माना है। ३ अनेक ग्रन्थों के आधार पर आचार्य समन्तभद्र के सम्बन्ध में शोध खोज करने वाले आचार्य श्रीजुगलकिशोरजी मुख्तारसा ने, डॉ. ज्योतिप्रसादजी ने उन्हें सन् १२०-१८५ के मध्य निर्णीत किया है।

रचनाएँ

आचार्य समन्तभद्र संस्कृत-साहित्य में स्तुति काव्य के प्रथम प्रणेता के रूप में मान्य हैं फिर भी आचार्य समन्तभद्र की निम्नलिखित रचनाएँ मानी गयी हैं—

१. बृहत् स्वयम्भू स्तोत्र
२. स्तुतिविद्या अपरनाम जिनशतक
३. देवागम स्तोत्र अपरनाम आप्तमीमांसा
४. युक्त्यनुशासन
५. रत्नकरण्डश्रावकाचार
६. जीवसिद्धि
७. तत्त्वानुशासन
८. प्राकृत व्याकरण
९. प्रमाण पदार्थ
१०. कर्मप्राभृत टीका
११. गन्धहस्ति महाभाष्य

उक्त रचनाओं में से वर्तमान में मात्र पांच रचनाएं ही उपलब्ध तथा प्रकाशित हैं। शेष रचनाएं खोज का विषय है।

प्राप्त रचनाओं की विषयवस्तु एवं मौलिकता पर विवेचन मूल विस्तृत शोधालेख में देखा जा सकता है। इस प्रकार समन्तभद्र का संस्कृत-साहित्य एवं जैनदर्शन तथा आचार के लिए महत्त्वपूर्ण अवदान है।

आचार्य अमृतचन्द्र सूरि और उनका अवदान

– डॉ. राजेन्द्रकुमार बंसल, अमलाई

ईसा की प्रथम शताब्दी में आगम परगामी आ० धरसेन के शिष्य आचार्यद्वय पुष्पदन्त एवं भूतबलि ने षट्खण्डागम की रचना की, जो प्रथम श्रुत स्कन्ध के नाम से प्रसिद्ध हुआ। इसके बाद आचार्य कुन्दकुन्द ने अध्यात्म और तत्त्वज्ञान को सुरक्षित रखने हेतु समयसार, प्रवचनसार, नियमसार, पञ्चास्तिकाय, अष्टपाहुड आदि परमागम रूप द्वितीय श्रुतस्कन्ध की रचना हुई। पश्चात् एक हजार वर्ष के अन्तराल में अनेक आचार्य हुए और अध्यात्म का प्रवाह निरन्तरित रहा। १०वीं शताब्दी में आचार्य अमृतचन्द सूरि हुए। उन्होंने कुन्दकुन्द के समयसार, प्रवचनसार और पञ्चास्तिकाय आगम ग्रन्थों पर अध्यात्मपरक दार्शनिक टीकाएँ लिखीं। इन टीकाओं के साथ संस्कृत में प ा भी लिखे। आपने पुरुषार्थ सिद्ध्युपाय आचारग्रन्थ, तत्त्वार्थसार नामक आगम ग्रन्थ एवं लघुतत्त्वस्फोट भक्तिपरक प ा ग्रन्थ— ये रचनाएँ कर जैन-साहित्य को अद्भुत ग्रन्थ दिये। आप मूल संघ की नन्दिसंघी-परम्परा के आचार्य मान्य किये गये हैं। आप कुलीन द्यकुर परिवार से सम्बन्धित रहे।

आचार्य अमृतचन्द्र सूरि अद्भत प्रतिभा के धनी थे। वे अध्यात्मवादी अन्तरंग परिणति से थे, बाहर में निर्दोष महाव्रतों के पालन करने वाले अन्तर-बाह्य से निर्ग्रन्थ जिनमार्गी थे। समर्थ टीकाकार के साथ कवि भी थे। कुन्दकुन्द के द्वारा प्रतिपादित अकर्तावाद की भावना उनमें बहुत अधिक गहरायी से समाहित थी। दीक्षानाम के अतिरिक्त उनके ग्रन्थों में उनके माता-पिता, जन्मस्थल, दीक्षागुरु आदि लौकिक जीवन के बारे में कुछ भी जानकारी नहीं मिलती। सर्वत्र उन्होंने अपने स्वरूप में तीन रहने की चर्चा की और रचनाओं को वर्ण, अक्षर, पद आदि कृत घोषित कर उनके कर्तृत्व से अपने को पृथक् रखा। निस्पृहता का यह चरम प्रमाण है जो जिनदीक्षा की सहज चर्या है। आत्मज्ञान, ध्यान और तप ही उनका परिचय है।

आचार्य अमृतचन्द्र सूरि की रचनाओं से परवर्ती आचार्य/विद्वान् बहुत गहरायी से प्रभावित हुए। सहस्त्रों भव्य जीवों ने शुद्धात्मा की उपलब्धि का मार्ग समझ कर अपना पैतृक धर्म का परित्याग करते हुए जिनेश्वरी मार्ग अपनाया। उनकी आध्यात्मिक क्रान्ति निरन्तरित है। भविष्य में भी वे आत्मार्थी जनों के प्रेरणा स्त्रोत, मार्गदर्शक बने रहेंगे।

द्रव्य, गुण एवं पर्याय के सत् स्वरूप, उनकी स्वतन्त्रता-स्वाधीनता का उद्घोष कर सभी को 'स्वयम्भू' दर्शाते हुए शुद्धात्मा की उपलब्धि का जो सन्तुलित मोक्षमार्ग आचार्य अमृतचन्द्र ने उद्घाटित/व्याख्यायित किया उससे जिनशासन की प्रभावना को द्येस आधार मिला। उनका व्यक्तित्व और कृतित्व स्वयं अलौकिक अवदान बन गया।

●

आचार्य सोमदेवसूरि द्वारा प्रतिपादित अहिंसा

— डॉ. जयकुमार जैन, मुजफ्फरनगर

मानव की पदलोलुपता एवं परिग्रहलिप्सा के कारण आज चतुर्दिक् हिंसा का प्रसार बढ़ रहा है। जिन वैज्ञानिक आविष्कारों का उपयोग मानव के कल्याण के लिए होना था, उनका प्रयोग क्रूरतम हिंसा के साधन के रूप में किया जा रहा है। शान्ति के नाम पर अटूट धन-सम्पत्ति खर्च करके नरसंहार जैसी जघन्यतम प्रवृत्तियाँ पनप रही हैं। आज मनुष्य को मनुष्य के कार्यों से जितना खतरा उत्पन्न हो गया है, उतना खतरा किसी प्राकृतिक आपदा से नहीं हो सकता है। इस विषम परिस्थिति का इलाज केवल अहिंसा प्रेरित विचारधारा के पास है। यदि सभी देश अहिंसा की अनिवार्यता समझ लें तो कोई कारण नहीं कि विश्व में शान्ति की प्रतिष्ठा न हो।

जगत् में हिंसा सबसे बड़ा पाप है और अहिंसा मानवधर्म। वैचारिक प्रदूषण को हटाने के लिए अहिंसा एक सकारात्मक एवं व्यवहार्य समग्र जीवन दर्शन है। जैनशास्त्रों में वर्णित उद्योगी, विरोधी, आरम्भी और संकल्पी चतुर्विध हिंसा में से मात्र संकल्पी हिंसा का त्याग कर देने पर भी लोक में हाहाकार की स्थिति समाप्त हो सकती है।

श्री सोमदेवसूरिकृत 'यशस्तिलकचम्पू' का उद्देश्य ही अहिंसा की प्रतिष्ठापना रहा है। इसके आठ आश्वासों में से अन्तिम तीन आश्वासों में श्रावकधर्म का विवेचन है, जिनमें सप्तम आश्वास मैं अहिंसा का उपदेश प्रमुख है। श्री सोमदेवसूरि ने इसका नाम उपासकाध्ययन रखा है। अहिंसा के प्रतिपादन में उन्होंने सिद्धान्तवर्णन के साथ-साथ उसका व्यावहारिक रूप में भी वर्णन किया है। राजा यशोधर एवं उनकी माता चन्द्रमती को आटे के मुर्गा की बलि देने के कारण जब छह जन्मों तक पशुयोनि में भ्रमण करना पड़ा तो साक्षात् हिंसा करने वालों की स्थिति क्या होगी? यह विचारणीय है। लोग स्वार्थसिद्धि हेतु हिंसा के पक्ष में अनेक कुतर्क प्रस्तुत करते हैं। श्री सोमदेवसूरि ने अहिंसा व्रत के आचरण में दृढ़ता के लिए उन कुतर्कों का युक्तियुक्त समाधान किया है। संक्षेप में उन्हें इस प्रकार देखा जा सकता है —

(१) अन्य का घात करने वाले भी सुख भोगते हुए देखे जाते हैं। इसका समाधान करते हुए कहा गया है कि जो दूसरों का घात न करके सुख का सेवन करता है, वह इस जन्म में भी सुख भोगता है और दूसरे जन्म में भी सुख भोगता है। जो दूसरों के घात के द्वारा सुख भोगने में तत्पर रहता है, वह वर्तमान में सुख भोगते हुए भी दूसरे जन्म में दुःख भोगता है। अत: जिस प्रकार हम सभी प्राणियों को अपना जीवन प्रिय है, उसी तरह दूसरों को भी अपना जीवन प्रिय है। इसलिए हिंसा को छोड़ देना चाहिए।[१]

(२) कुछ लोगों का कहना है कि मूंग, उड़द आदि में और ऊँट, मेढ़ा आदि में कोई अन्तर नहीं है, क्योंकि सबमें जीव रहता है। अत: सभी मांस ही हैं। इस विषय में श्री सोमदेवसूरि का कहना है कि मांस जीव का शरीर होता है, पर सब जीव (अन्न आदि) का शरीर मांस नहीं होता है। ब्राह्मण एवं पक्षी दोनों में जीव है, पर दोनों के मारने में पाप की हीनाधिकता तो है ही। पत्नी और माता दोनों स्त्रियाँ हैं, पर दोनों समान रूप से भोग्या नहीं है। पानी और शराब दोनों पेय हैं पर दोनों का प्रयोग समान नहीं हो सकता है।[२]

(३) गोदूध एवं घृत भी पशुजन्य है और गोमांस भी पशुजन्य है। फिर भी गोदुग्ध भक्ष्य है और गोमांस अभक्ष्य। वस्तुवैचित्र्य ऐसा ही है। साँप की मणि से विष दूर होता है और साँप का विष मृत्यु का कारण है। जबकि दोनों की उत्पत्ति साँप से ही हुई है। कारस्कर वृक्ष का पत्ता आयुवर्धक है, उसकी जड़ मृत्युकारक है। अत: एक से उत्पन्न होने पर भी दुग्ध-घृत एवं मांस को समान नहीं माना जा सकता है।[३]

(४) धर्मबुद्धि से मांसभक्षण करना और भी अधिक दुहरे पाप का कारण है। जैसे परस्त्रीगामी पुरुष जब अपनी माता के साथ व्यभिचार करता है तो उसे परस्त्रीगामी होने का भी पाप लगता है और माता के साथ सम्भोग करने का भी महापाप लगता है।[४]

इसी प्रकार के अन्य थोथे तर्कों का सयुक्तिक समाधान करते हुए श्री सोमदेवसूरि ने अहिंसा के विषय में जो विशेष बातें कहीं हैं, वे इस प्रकार हैं —

मांस त्याग करने से चाण्डाल भी अपना कल्याण कर सकता है। अवन्ति देश में चण्ड नामक चाण्डाल थोड़ी देर के लिए मांस का त्याग कर देने से मरकर यक्षाधिपति हुआ था।[५]

देवता, अतिथि, पितर, मन्त्रसिद्धि, औषधि के लिए अथवा भय से भी किसी की हिंसा नहीं करना चाहिए।[६]

अहिंसा व्रत की रक्षा के लिए घर के सब काम देखभाल कर करना चाहिए। अहिंसाव्रती नियम से रात्रि भोजनत्यागी होता है। उसे इन अभक्ष्यों का भी त्याग कर देना चाहिए— अचार, पानक, धान्य, फूल, मूल, फल, पत्ता, कमलदण्डी, लता, सूरण, बिना दले मूंग, उड़द, चना आदि, साबुत फलियाँ आदि। इनमें शोधकर खाने की भावना है। कुछ वस्तुएं ऐसी भी हैं जो भक्ष्य होने पर भी परस्पर मिलकर अभक्ष्य हो जाती है।[७]

बहु आरम्भ और परिग्रह भी हिंसा है। जहाँ ये हैं, वहाँ अहिंसा कैसे रह सकती है? अहिंसक व्यक्ति में हमेशा मैत्री, प्रमोद, कारुण्य एवं माध्यस्थ भावना रहती है।[८]

लोक के सभी कार्यों में हिंसा होने पर भी भावों की विशेषता है। (३२५-३२६) अन्य सभी व्रत अहिंसाव्रत की रक्षा के लिए हैं। (३८१) अहिंसाव्रती को अनर्थदण्डविरति का पालनकरना अपेक्षित है। (४१९-४२४)

सन्दर्भ :

१. उपासकाध्ययन, ७/२६८,२७७.
२. तदेव, २८५-८८.
३. तदेव, २८९-२९०.
४. तदेव, २९४-२९५.
५. तदेव, २९८.
६. तदेव, ३०४-३०५.
७. तदेव, ३११-३१५.
८. तदेव, ३१६-३२२.

भट्टारक-परम्परा का अवदान

– डॉ. सुरेशचन्द जैन, नई दिल्ली

श्रमण-परम्परा के २४वें तीर्थङ्कर भगवान् महावीर के पश्चात् जैन-परम्परा के संरक्षण, संवर्धन का कार्य आचार्यों द्वारा ही हुआ है। आचार्य भद्रबाहु के पश्चात् आचार्य कुन्दकुन्द तक २० आचार्य हुए। क्रमशः सातवीं शताब्दी में आचार्य धरसेन श्रुत संरक्षा के निमित्त पुष्पदन्त भूतबलि जैसे सुयोग्य मेधावी यतियों को श्रुत पारङ्गत बनाकर षट्खण्डागम जैसे गूढ़ महनीय ग्रन्थ का प्रणयन करने में महती भूमिका निभायी। आठवीं शताब्दी (ईसा की प्रथम शताब्दी) में आचार्य कुन्दकुन्द इतने प्रभावी आचार्य हुए कि उनके नाम से मूल दिगम्बर आम्नाय चल पड़ी और कालान्तर में उनकी प्रशस्ति में निम्नलिखित मङ्गलाचरण प्रचलित हुआ।

मंगलं भगवान्वीरो मंगलं गौतमो गणी।
मंगलं कुन्दकुन्दाद्यो जैन धर्मोऽस्तु मंगलम्।।

यह मङ्गलाचरण आज श्रावकों की सभी धार्मिक क्रियाओं में सर्वप्रथम उच्चारित किया जाता है। गौतम गणधर से लेकर आचार्य कुन्दकुन्द तक की परम्परा में हुए ओजस्वी तपःपूत आचार्यों को समेकित रूप में स्मरण किया गया है।

क्रमशः देश की राजनीतिक स्थिति बदली और राजनीतिक दृष्टि से अपरिहार्य एकता खण्डित होने लगी। सम्राट् हर्षवर्धन के पश्चात् जब देश तितर-बितर होने लगा और अनेकता ने सिर उठाया। ११वीं शताब्दी के प्रारम्भ से ही मुस्लिम शासकों का आक्रमण देश पर होने लगे तथा १३वीं शताब्दी के आते-आते मुस्लिक शासकों का राज्य हो गया। साम्प्रदायिक मनोवृत्ति के कारण मुस्लिमीकरण के साथ-साथ मूर्तियों को भग्न किया गया। क्रूरता और बर्बरता की सभी सीमाएँ टूट गयीं। ऐसे भयावह वातावरण में अहिंसक वृत्तिधारी समाज का जीना दूभर हो गया। दिगम्बर साधुओं का निरापद विहार बाधित होने लगा। परिणामस्वरूप न तो मन्दिर सुरक्षित रहे और न ही दिगम्बर-परम्परा के जीवन्त प्रतीक दिगम्बर साधु।

यहाँ एक महत्त्वपूर्ण घटना का उल्लेख करना आवश्यक है, क्योंकि इसी घटना में भट्टारक-परम्परा के बीज दिखायी पड़ते हैं—

दिल्ली की गद्दी पर अलाउद्दीन खिलजी आसीन था। तत्कालीन दिल्ली के नगरसेठ श्री पूर्णचन्द्र अग्रवाल जैन थे जो राज्य की अर्थव्यवस्था के एकमात्र सक्षम अधिकारी थे। अलाउद्दीन खिलजी को आचार्य माधवसेन को दिल्ली बुलाने का आग्रह किया। दिगम्बर-परम्परा का निर्वाह करते हुए आचार्य माधवसेन पद विहार करते हुए दिल्ली आए और राधा और चेतन को हराकर जैनधर्म की प्रभावना की। अलाउद्दीन खिलजी के शासनकाल में ही नन्दिसंघ के आचार्य प्रभाचन्द्र ने अपने संघ की स्थापना की और उत्तर भारत में भट्टारक-परम्परा को सुव्यवस्थित स्वरूप प्रदान किया।

भट्टारक-परम्परा ने धीरे-धीरे अपना आकार ग्रहण किया और भट्टारक प्रभाचन्द के पश्चात् क्रमशः अन्य प्रान्तों में भट्टारक गद्दियों की स्थापना की। राजस्थान में चित्तौड़, चाकसू, आमेर, सांगानेर, जयपुर, श्री महावीरजी, अजमेर एवं नागौर, मध्य प्रान्त में ग्वालियर और सोनागिर, बागड़ प्रदेश में डूंगरपुर, सागवाड़ा, बांसवाड़ा, गुजरात में नवसारी, सूरत, खम्भात, धोधा, सौराष्ट्र में गिरनार, महाराष्ट्र में कारंजा, नागपुर, कोल्हापुर, दक्षिण भारत में कर्नाटक, तमिल आदि प्रदेशों में भट्टारकों की गद्दियाँ स्थापित हुईं।

साहित्य सपर्या की दृष्टि से भट्टारक-परम्परा का अवदान स्वर्णाक्षरों में अंकित करने योग्य तथा जैन-परम्परा के विकास का स्वर्णिम अध्याय है।

साहित्य निर्माण के साथ-साथ इन भट्टारकों ने भारत के अनेक प्रान्तों में मन्दिरों के निर्माण-प्रतिष्ठा समारोहों का आयोजन करके श्रमण संस्कृति की सुरक्षा में महनीय योगदान दिया है जो ऐतिहासिक और श्रमण-परम्परा के लिए गौरव की वस्तु है।

भट्टारक-परम्परा ने श्रमण-परम्परा की सुरक्षा, संरक्षण और पल्लवन में पूर्ण योगदान दिया। यही कारण है कि आज भी शान्तिधारा में अर्हन्त को परमभट्टारक प्रसादात् ..... के रूप में स्मरण करते हैं।

जगत् की स्थिति बड़ी विचित्र है। देश, क्षेत्र, काल, भाव के अनुसार विरोध और समर्थन जुटता भी है तो बिखरता भी है। विसंगतियाँ होना कोई अनहोनी घटना नहीं। प्रत्येक घटना में अच्छाई और बुराई देखी जा सकती है। दृष्टि का अन्तर है। अनेकान्त का तकाजा है कि जो जैसी स्थिति में है उसे समन्वयात्मक दृष्टि से संरक्षण मिले और उसमें आयी विसंगति में सुधार हो। अनेक विसंगतियों, विचारधाराओं के बावजूद यदि यह परम्परा जीवन्त है तो सब मूल स्वरूप के कारण जो पहले भी कोई समाप्त नहीं कर सका तो आगे भी समाप्त करने में सफल नहीं होगा। गति चाहे वह समाज की हो, धर्म की हो अथवा संस्कृति की हो। गतिशीलता बनी रहनी चाहिए। भट्टारक-परम्परा अब भी गतिशील है और जब तक उसमें गतिशीलता बनी रहेगी तब तक वह जीवन्त रहेगी।

●

जैन संस्कृति एवं साहित्य के विकास में दक्षिण भारत का योगदान

– रमाकान्त जैन, लखनऊ

गोदावरी नदी के दक्षिण में अवस्थित आन्ध्र प्रदेश, तमिलनाडु, कर्नाटक, केरल तथा महाराष्ट्र का वह भूभाग जो कभी गंगों, चालुक्यों और राष्ट्रकूटों के आधिपत्य में रहा, सामान्यतया दक्षिण भारत माना जाता है। यहाँ की मुख्य भाषाएँ तेलुगु, तमिल, कन्नड़ और मलयालम हैं।

यद्यपि वर्तमान काल के चौबीसों तीर्थङ्कर उत्तर भारत में ही हुए, इतिहास काल के प्रारम्भ से ही दक्षिण भारत जैनधर्म के अनुयायियों से युक्त रहा और कई शताब्दियों तक जैनधर्म का एक सुदृढ़ गढ़ बना रहा। जैन संस्कृति और साहित्य के संवर्द्धन में दक्षिण भारत का विशिष्ट योगदान रहा है। वर्ष २००१ की जनगणनानुसार दक्षिण के चार राज्यों में ५,४३,३४४ जैनधर्मानुयायी बसते हैं— सबसे अधिक ४,१२,६५९ कर्णाटक में हैं।

दक्षिण भारत में जैनधर्म का प्रवेश

हरिषेण के 'वृहत्कथाकोश', रत्ननन्दी के 'भद्रबाहुचरित', चिदानन्द कवि के 'मुनिवंशाभ्युदय' और पं. देवचन्द्र की 'राजावलिकथे' में निबद्ध जन अनुश्रुति के अनुसार उत्तर भारत में १२ वर्षीय भीषण दुर्भिक्ष पड़ने की आशंका से अन्तिम श्रुतकेवलि भद्रबाहु ने जैन मुनियों के विशाल संघ के साथ दक्षिण की ओर विहार किया था। भद्रबाहु श्रवणबेलगोल में कटवप्र पहाड़ी पर रूक गये थे और अपने शिष्य विशाखाचार्य को अन्य मुनियों के साथ पाण्ड्य और चोल राज्यों में जाने का आदेश दिया था। उनकी समाधि वीर निर्वाण संवत् १६२ (ई.पू. ३६५) में हुई थी; किन्तु यह जैनधर्म और उसके अनुयायियों के दक्षिण भारत में प्रवेश का प्रथम चरण नहीं रहा होगा, अपितु उसके पूर्व ही कर्णाटक और तमिलनाडु के पाण्ड्य और चोल राज्यों में उनका प्रसार हो चुका होगा तभी विशाल मुनि संघ को शान्तिपूर्ण चर्या हेतु आचार्य वहाँ ले गये।

जैन मुनियों का दक्षिण भारतवासियों पर प्रभाव

जैन मुनियों की सरल-सादी जीवनचर्या, विनम्र स्वभाव, निष्कपट व्यवहार और नैतिक शिक्षाओं ने दक्षिण की सभ्य विद्याधर जाति को मोह लिया और उसे उनका भक्त बना दिया। उन साधुओं ने भी घनिष्टता बढ़ाने के लिए स्थानीय बोलियों और भाषाओं को सीखा और उनमें साहित्य सृजन किया। दक्षिण भारत में जैनधर्म को जनसम्मान और राज्याश्रय दोनों ही प्राप्त रहे और ईस्वी सन् की प्रथम कई शताब्दियों तक जैन धर्मानुयायी दक्षिण भारतीय समाज में अग्रणी पंक्ति में बने रहे। तदनन्तर शैव, वैष्णव और वीर-शैव सम्प्रदायों के कट्टर विद्वेष और राज्याश्रय समाप्त हो जाने के कारण उनकी स्थिति में ह्रास हुआ। तदपि दक्षिण भारतीय समाज पर जैनधर्म और उसके अनुयायियों का प्रभाव अभी बना हुआ है। आज भी दक्षिण में वर्णमाला सीखने के पूर्व विद्यार्थियों को 'ओनामासीधं' (ओम् नमः सिद्धेभ्यः) सिखाया जाता है जो राष्ट्रकूट काल में जैन गुरुओं द्वारा शिक्षा के क्षेत्र में डाली गयी अपनी गहरी छाप का परिणाम है। तमिल समाज के उच्च वर्गों में जैन संस्कार अभी भी विद्यमान हैं। शैवधर्म के पुनरुत्थान और राजनीतिक कारणों से भारी संख्या में जैनों का धर्मान्तरण हुआ;

किन्तु धर्म परिवर्तित लोगों ने अपने जैन रीति-रिवाज को अपनाये रक्खा। उनके आचार वैसे ही बने रहे। तमिल शब्द 'शैवम्' विशुद्ध शाकाहारी के लिए प्रयुक्त होता है और वहाँ के ब्राह्मण शुद्ध शाकाहारी होते हैं जो स्पष्टतया जैनधर्म का प्रभाव है।

प्राकृत, संस्कृत और अपभ्रंश के साहित्य भण्डार की अभिवृद्धि में जैनाचार्यों का योगदान

प्रथम शती ईस्वी से ही दक्षिण भारत में अनेक प्रकाण्ड विद्वान् और प्रभावक जैन आचार्य हुए जिन्होंने प्राकृत, संस्कृत और अपभ्रंश भाषाओं में अध्यात्म, धर्म, दर्शन, न्याय, श्रमणाचार, श्रावकाचार, व्याकरण, छन्द, वैद्यक, पुराण-ग्रन्थ और टीका-ग्रन्थ आदि की रचना करके जैन भारती के भण्डार को धार्मिक एवं लौकिक साहित्य से भरा।

ईस्वी सन् की प्रथम सहस्राब्दि में आचार्य कुन्दकुन्द, गुणधर, उमास्वामिन्, स्वामी समन्तभद्र, शिवकोटि, कवि परमेश्वर, सर्वनन्दि, पूज्यपाद देवनन्दि, वज्रनन्दि, पात्रकेसरि, श्रीवर्द्धदेव, भट्ट अकलंकदेव, जटासिंहनन्दि, स्वामी वीरसेन, महाकवि स्वयम्भू, विद्यानन्दि, जिनसेन स्वामी, उग्रादित्याचार्य, महावीराचार्य, शाकटायन पल्यकीर्ति, राष्ट्रकूट नरेश अमोघवर्ष प्रथम, गुणभद्र, सोमदेव सूरि, महाकवि पुष्पदन्त, नेमिचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्ती, वीरनन्दि, वादिराज सूरि, वादीभसिंह सूरि, यति मल्लिषेण तथा अमृतचन्द्र सूरि प्रभृति विद्वान् उल्लेखनीय हैं।

जैनधर्मानुयायियों द्वारा दक्षिण भारतीय भाषाओं के साहित्य में योगदान

दक्षिण भारतीय भाषाओं में तमिल-भाषा सबसे प्राचीन है। इसकी अपनी वर्णमाला, अपनी लिपि, स्वतन्त्र शब्द भण्डार, व्याकरण, उक्ति वैचित्र्य और अभिव्यक्ति की विधा है तथा धार्मिक लौकिक विषयों पर विविध विपुल साहित्य है। ई.पू. द्वितीय-प्रथम शती से तमिल में लिपिबद्ध शिलालेख मिलने प्रारम्भ हो जाते हैं। तमिल-साहित्य की अभिवृद्धि में जैन मुनि संघों के प्रवेश के साथ मानी जाती है। प्राचीनतम उपलब्ध कृति 'तोलकाप्पियम्' पद्य में निबद्ध व्याकरण ग्रन्थ है। इसके कर्ता प्रतिमा योगी तोलकाप्पियर हैं। इसके 'मरबियल' विभाग में जीवों का वर्गीकरण जैन-सिद्धान्त के अनुसार है। गुणवीर पण्डित ने भी 'नेमिनाथम्' नामक एक अन्य व्याकरण रचा।

तमिल के १८ नीति ग्रन्थों में 'तिरूक्कुरल', 'नालडियार' और 'पलमोलि' का स्थान सर्वोपरि है और ये जैन कृतियां मानी जाती हैं। कणिमेदैयार की 'तिणैमालै' और 'एलादि', विलम्बिनाथर की 'नान्माणिक् कडिगै और माक् कारियाशन की 'श्रीपंचमूलम्' भी १८ नीति काव्यों में समाहित जैन कृतियां हैं। तमिल के प्रसिद्ध पञ्च महाकाव्यों में से तीन — 'शिलप्पधिकारम्', 'वलयापति' और 'जीवकचिन्तामणि' तथा पांचों उप काव्य — 'नीलकेशी', 'चूड़ामणि', 'यशोधर काव्यम्', 'उदयणन कदै' और 'नागकुमार काव्यम्' भी जैन कृतियां हैं।

उपर्युक्त के अतिरिक्त जैन रचनाकारों ने स्तोत्र, उक्ति संग्रह, छन्द शास्त्र, शब्दकोश, गणित, ज्योतिष आदि पर भी गम्भीर रचनाएं करके और टीकाएं तथा पुराण रच कर तमिल-साहित्य की अभिवृद्धि की।

द्वितीय शती ईस्वी से प्रचलन प्राप्त कन्नड़-भाषा का प्राचीनतम उपलब्ध ग्रन्थ राष्ट्रकूट नरेश अमोघवर्ष प्रथमकृत 'कविराजमार्ग' है। तदनन्तर दसवीं शती ईस्वी से सत्रहवीं शती ईस्वी तक कन्नड़-भाषा में जैनधर्मानुयायियों द्वारा विविध विषयक विपुल साहित्य की रचना की गयी। इनमें पम्प की रामायण पर्याप्त लोकप्रिय रही है।

यूँ तो तेलुगु-भाषा भी २००० वर्ष प्राचीन है, आरम्भ में संस्कृत और प्राकत को राज्याश्रय प्राप्त रहने

से तेलुगु का व्यवहार आम जनता में घरों तक सीमित रहा। सातवाहन नरेशों ने शिलालेखों और दानपत्रों में तेलुगु का प्रयोग प्रारम्भ किया। ग्यारहवीं शती ई. में हुए नन्नय भट्ट तेलुगु के ज्ञात आदि कवि पण्डित माने जाते हैं। उसके पूर्व का साहित्य धार्मिक विद्वेष की अग्नि में स्वाहा हो गया। तदपि उस अज्ञात युग में भी वांचियार नामक जैन लेखक द्वार तेलुगु में छन्दशास्त्र लिखे जाने, श्रीपति पण्डित और सन् ९४१ ई. में हुए पद्म कवि द्वारा 'जिनेन्द्र पुराण' रचे जाने का उल्लेख मिलता है। जैन कवि भीमना के 'राघवपाण्डवीय काव्य' को ब्राह्मण नन्नय भट्टने ईर्ष्यावश नष्ट करा दिया था। ११०० ई. में हुए जैन कवि मल्लना अपरनाम पावुलूरि ने 'पावुलूरि गणित' रचा। कवि अघर्वण ने तेलुगु में एक छन्दशास्त्र और दो व्याकरण ग्रन्थों की रचना की थी। आधुनिक काल में वेदम वेंकट शास्त्री ने 'बोब्बिलियुद्धमु' नामक ऐतिहासिक नाटक और 'बोब्बिलिराजुकथा' की रचना की और डॉ. चिलुकूरि नारायणराव ने जैनधर्म पर तेलुगु में पुस्तक लिखी।

मलयालम साहित्य के इतिहास में जैन कृतियों और कृतिकारों का उल्लेख सम्प्रति उपलब्ध नहीं है।

उपसंहार

इस प्रकार दक्षिण भारत को अनेक प्रकाण्ड विद्वान्, वाग्मी और प्रभावक जैन आचार्यों को जन्म देने का श्रेय है जिन्होंने जैनधर्म और संस्कृति के प्रचार-प्रसार में अभूतपूर्व योगदान दिया। 'पूज्यपाद' जैसे सम्मानसूचक विरुदों से विभूषित अकलंकदेव के 'प्रमाण संग्रह' का मंगल श्लोक कई शताब्दियों तक दक्षिण भारत के शिलालेखों तथा जैन एवं जैनेतर कृतियों में अपनाया गया।

अहिंसा को अपनाने वाले जैनधर्मानुयायी शत्रु राज्यों के प्रति शस्त्र उठाने में अक्षम रहे, जनसामान्य की इस आम धारणा का निरसन दक्षिण भारत के इतिहास से बखूबी होता है। वहां अनेक जैनधर्मानुयायियों ने न केवल राजसत्ताएं स्थापित की अपितु नैष्ठिक जैन रहते हुए भी अद्भुत शौर्य से रणभूमि में विपक्षियों के दांत खट्टे किये। दक्षिण में सर्वाधिक जीवि गंगवंशीय राज्य के संस्थापक दद्दिग और माधव कोंगुणिवर्म जैनधर्मानुयायी थे। दसवीं शती ईस्वी में हुए गंग नरेशों के महामन्त्री एवं प्रधान सेनापति चामुण्डराय, जो 'सम्यक्त्व रत्नाकर' जैसी उपाधियों से विभूषित थे, को रणभूमि में अनेक बार अपना हस्तकौशल दिखाने हेतु 'वैरिकुलकालदण्ड' जैसे विरुदों से सम्मानित किया गया था।

मध्यकाल में मुसलमानी राज्य के कारण जब उत्तर भारत में दिगम्बर जैन साधुओं की परम्परा विच्छिन्न हो गयी थी। दक्षिण में जैन मुनि अपनी चर्या का पूर्ववत् पालन करते रहे थे। २०वीं शती ईस्वी के प्रथम पाद से ब्रिटिश शासन की कृपा से दिगम्बर जैन मुनियों का उत्तर भारत में भी पुनःपदार्पण हुआ। मूडबिद्री, हुम्मच और श्रवणबेलगोल के जैन मठ और वहां के भट्टारक सम्पूर्ण भारत में श्रद्धास्पद बने रहे।

श्रवणबेलगोल में विन्ध्यगिरि के शिखर पर प्रतिष्ठापित गोम्मटेश्वर बाहुबलि का ५७ फुट उत्तुंग प्रतिबिम्ब मूर्तिविज्ञान और रूपशिल्प की अनुपम कलाकृति है और विश्व के आश्चर्यों में परिगणित है। इस मूर्ति के अनुकरण पर न केवल दक्षिण में ही अपितु उत्तर भारत में भी कई स्थानों पर बाहुबलि की मूर्ति प्रतिष्ठापित की गयी। इस विशालकाय मूर्ति का मस्तकाभिषेक सामान्यतया १२ वर्ष के अन्तराल पर बड़ी धूमधाम से होता है जिसमें देश-विदेश से लाखों श्रद्धालु सम्मिलित होते हैं। यह कुम्भ मेलों की याद दिलाता है। फरवरी २००६ में होने वाले महामस्तकाभिषेक समारोह की कड़ी में प्रस्तुत विद्वद् संगोष्ठी आयोजित है।

जैन दार्शनिक साहित्य के विकास में दक्षिण भारतीय जैन मनीषियों का योगदान

– डॉ. श्रीमती सूरजमुखी जैन, मुजफ्फरनगर

भगवान् महावीर द्वारा प्रतिपादित समस्त श्रुतज्ञान को गौतम गणधर द्वारा द्वादशांग वाणी के रूप में निबद्ध किया गया। तदनन्तर केवली, श्रुतकेवली तथा अंग और पूर्व के ज्ञाता आचार्यों के द्वारा यह ज्ञान-गंगा सैकड़ों वर्षों तक मौखिक रूप से प्रवाहित होती रही। ईश्वर, जीव, जगत्, द्रव्य, गुण, पर्याय, तत्त्वज्ञान, कर्म-सिद्धान्त आदि से सम्बन्धित विचारधारा को परम्परा से प्राप्त कर स्मरण रख लिया जाता था।

मगध में बारह वर्ष का दुर्भिक्ष होने पर अन्तिम श्रुतकेवली भद्रबाहु अपने शिष्य चन्द्रगुप्त तथा अन्य मुनियों के साथ दक्षिण भारत चले गये थे। जो आचार्य, मुनि आदि मगध में रह गये थे, वे परिस्थितिवश शिथिलाचारी हो गये थे। दिगम्बर-परम्परा को अक्षुण्ण रखने वाले श्रुतकेवली भद्रबाहु दक्षिण जाकर श्रुत काप्रचार कर रहे थे। अत: जैन दार्शनिक साहित्य की रचना भी अधिकांश में दक्षिण भारतीय जैन मनीषियों के द्वारा ही हुई है। यहाँ उनका संक्षिप्त परिचय देते हुए जैन-दर्शन-साहित्य के विकास में उनके योगदान पर विचार किया गया है।

१. दक्षिण भारतीय जैन मनीषियों का परिचय तथा योगदान

(१) आचार्य गुणधर

कृति - कषायेंपाहुड

(२) आचार्य धरसेन

कृतित्व - आचार्य पुष्पदन्त और भूतबलि को षट्खण्डागम का ज्ञानदान

(३-४) आचार्य पुष्पदन्त और भूतबलि

कृतित्व - षट्खण्डागम की रचना

(५) आचार्य यतिवृषभ

कृतित्व - षट्खण्डागम पर चूर्णिसूत्रों और तिलोयपण्णत्ति की रचना।

(६) आचार्य वप्पदेव

कृतित्व - षट्खण्डागम के महाबन्ध को छोड़कर शेष पांच खण्डों पर व्याख्याप्रज्ञप्ति टीका

(७) आचार्य कुन्दकुन्द

कृतित्व - प्रवचनसार, नियमसार, समयसार, रयणसार, पञ्चास्तिकाय, बारसअणुवेक्खा अष्टपाहुड — ये सभी ग्रन्थ शौरसेनी प्राकृत भाषा में तथा **कुरलकाव्य** (तमिल-भाषा में)

(८) आचार्य वट्टकेर

कृतित्व - मूलाचार (शौरसेनी प्राकृत भाषा में रचित मुनियों के आचार से सम्बन्धित)

(९) आचार्य उमास्वामी

रचना - तत्त्वार्थसूत्र

(१०) आचार्य समन्तभद्र

कृतियां - वृहत्स्वयंभूस्तोत्र, स्तुतिविद्या, देवागमस्तोत्र (आप्तमीमांसा), युक्त्यनुशासन, रत्नकरण्डश्रावकाचार जीवसिद्धि

(११) पात्रकेसरी

कृतित्व – त्रिलक्षणकदर्थन

(१२) आचार्य पूज्यपाद

कृतियां – इष्टोपदेश, समाधितन्त्र, सर्वार्थसिद्धि

(१३) आचार्य अकलंकदेव

कृतित्व– स्वतन्त्र ग्रन्थ– लघीयस्त्रय, न्यायविनिश्चयसंवृत्ति, सिद्धिविनिश्चयसंवृत्ति तथा प्रमाणसंग्रह

टीकाग्रन्थ – तत्त्वार्थवार्तिक, अष्टशती (देवागमविवृत्ति)

(१४) आचार्य वीरसेन

कृतित्व– षट्खण्डागम की धवलाटीका तथा कसायपाहुड की जयधवलाटीका २० हजार श्लोक प्रमाण

(१५) आचार्य जिनसेन

कृतित्व– पार्श्वाभ्युदय, आदिपुराण तथा जयधवला की शेष ४० हजार श्लोक प्रमाण टीका

(१६) आचार्य विद्यानन्द

कृतित्व – स्वतन्त्रग्रन्थ– आप्तपरीक्षा, प्रमाणपरीक्षा, सत्यशासनपरीक्षा, श्रीपुरपार्श्वनाथस्तोत्र, विद्यानन्द महोदय

टीकाग्रन्थ– अष्टसहस्री (आप्तमीमांसा की टीका), तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक तथा युक्त्यनुशासनालंकार

(१७) आचार्य नेमिचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्ती

कृतित्व – गोम्मटसार, लब्धिसार, त्रिलोकसार, क्षपणासार

(१८) आचार्य गुणभद्र

कृतित्व– आदिपुराण, उत्तरपुराण, आत्मानुशासन, जिनदत्तचरितकाव्य

(१९) आचार्य अनन्तवीर्य

कृतित्व– सिद्धिविनिश्चय टीका, प्रमाणसंग्रहभाष्य

(२०) आचार्य वादिराज सूरि

कृतित्व– पार्श्वनाथचरित, यशोधरचरित, एकीभावस्तोत्र और प्रमाणनिर्णय

(२१) मुनिपद्मकीर्ति

कृतित्व– पासणाहचरिउ

(२२) आचार्य रामसेन

कृतित्व– तत्त्वानुशासन

(२३) आचार्य गणधरकीर्ति

कृतित्व– अध्यात्मतरंगिणी की टीका

(२४) भावसेन त्रैविद्य

कृतित्व– प्रमाप्रमेय, न्यायसूर्यावलि, सिद्धान्तसार, विश्वतत्त्वप्रकाश।

(२५) उपसंहार।

●

दक्षिण भारत के जैनाचार्यों का आयुर्वेद के विकास में योगदान

– डॉ. हरिश्चन्द्र जैन, जामनगर

जैनधर्म एवं श्रमण-संस्कृति को दक्षिण भारत का जैन विधाओं के अनेक विषयों पर महत्त्वपूर्ण योगदान रहा है। भारतीय ज्ञान-विज्ञान के क्षेत्र में जैनाचार्यों का योगदान उनकी विशेषता है। भगवान् ऋषभदेव ने भारतवर्ष में असि मसि कृषी आदि के विकास में योगदान किया है। आदिपुराण में इसका उल्लेख प्राप्त होता है।

इसी प्रकार भारतीय स्वास्थ्य रक्षण में जैनाचार्यों ने अनेक ग्रन्थ लिखकर आयुर्वेद के विकास में अपना योगदान प्रदान किया है। १४ पर्वों में प्राणावाय शास्त्र में अष्टाङ्ग आयुर्वेद का वर्णन उपलब्ध होता है। इसी प्रकार दक्षिण भारत में जैनाचार्यों ने आयुर्वेद के विकास में अपना योगदान दिया है। उनके द्वारा लिखित ग्रन्थों में पुष्पायुर्वेद, विषतन्त्र एवं रसशास्त्र विषयों का वर्णन है। जैनधर्म अहिंसा प्रधान धर्म है। इस सिद्धान्त की निर्मलता रखने के लिए उन्होंने सर्वत्र अपनी मौलिक विचारधारा के अनुसार ही आयुर्वेद विषय का प्रतिपादन किया है। दक्षिण भारत के जैनाचार्यों ने आयुर्वेद के विकास हेतु संस्कृत एवं कन्नड़-भाषा में ग्रन्थ रचना की है। जैनाचार्य पूज्यपाद, समन्तभद्र, उग्रादित्याचार्य, आचार्य मंगराज आदि ऐसे जैनाचार्य हैं, जो बहुश्रुत आचार्य थे। उनका प्रमुख केन्द्र दक्षिण के कारवार जिला होन्नावर तालुका के गैरस के समीप हाडिल्ल में इन्द्रगिरि, चन्द्रगिरि पर्वत ५२ था। रामगिरि पर्वत पर भी उनका निवास था।

रसशास्त्र, पुष्पायुर्वेद, विषतन्त्र एवं चिकित्सा के क्षेत्र में उन जैनाचार्यों का आयुर्वेद के विकास में महत्त्वपूर्ण योगदान रहा है। इन जैनाचार्यों को दक्षिण भारत के राजाओं का आश्रय प्राप्त था।

दक्षिण भारत के इन प्रमुख जैनाचार्यों का आयुर्वेद के विकास में योगदान प्रतिपादन करना इस शोधपत्र का लक्ष्य है।

●

जैन-न्याय के सर्जन दक्षिण भारतीय प्रमुख जैनाचार्य

दक्षिण भारत के जैनाचार्यों का जैन-न्याय के विकास में योगदान

– पं. शान्ति पाटिल, जयपुर

जैनाचार्यों द्वारा रचित वाङ्मय बहुत विशाल और व्यापक है। प्राप्त परम्परा के अनुसार ग्रन्थों का प्रणयन करने वाले सभी आचार्य एक तरह से सर्वज्ञ के वाणी के अनुवादक ही है, क्योंकि ये अपनी ओर से किसी नये तथ्य का प्रतिपादन नहीं करते हैं, मात्र तीर्थङ्कर द्वारा प्रतिपादित तथ्यों को नये रूप और नयी शैली में अभिव्यक्त करते हैं। इसीलिए वे सभी पूर्णरूपेण प्रामाणिक ही है।

यह आगमज्ञान भी प्रत्यक्षज्ञान के समान ही प्रमाणभूत है। जिस प्रकार प्रत्यक्षज्ञान अविसंवादी होने के कारण प्रमाणभूत है, उसी प्रकार आगमज्ञान भी अपने विषय में अविसंवादी होने के कारण प्रमाण ही है। स्वामी समन्तभद्र ने केवलज्ञान व स्याद्वादमय श्रुतज्ञान को समस्त पदार्थों के प्रकाशन में समान रूप से प्रमाण स्वीकार किया है।

जिनागम में न्याय का स्थान

इसी द्वादशांगरूप आगम को चार अनुयोगों में भी विभक्त किया जाता है। शास्त्र के कथन करने की शैली को अनुयोग कहते हैं। ये अनुयोग चार प्रकार के हैं— प्रथमानुयोग, करणानुयोग, चरणानुयोग और द्रव्यानुयोग।

जिसमें तीर्थङ्कर, चक्रवर्ती आदि महान् पुरुषों के चरित्र का निरूपण हो, वह प्रथमानुयोग है। जिसमें गुणस्थान, मार्गणास्थान आदि जीवों के विशेष, कर्मों के विशेष तथा त्रिलोक आदि की रचना का निरूपण हो वह करणानुयोग है। गृहस्थ व मुनिधर्म के आचरण को निरूपित करने वाला चरणानुयोग है। षड्द्रव्य, सप्ततत्त्वादिक का व स्वपर भेदविज्ञानादिक का जिसमें निरूपण हो, वह द्रव्यानुयोग है।

इन चारों अनुयोगों की भी प्रत्येक की अपनी-अपनी व्याख्यान की विशेष पद्धति है, पं० टोडरमल जी ने अपने मोक्षमार्ग प्रकाशक ग्रन्थ में कहा है ....द्रव्यानुयोग में न्यायशास्त्रों की पद्धति मुख्य है। क्योंकि वहाँ निर्णय करने का प्रयोजन है और न्यायशास्त्रों में निर्णय करने का मार्ग दिखाया है। ..... तथा व्याकरण, न्याय, छन्द, कोषादिक शास्त्र व वैद्यक, ज्योतिष, मन्त्रादि शास्त्र भी जिनमत में पाये जाते हैं।'' (मोक्षमार्ग प्रकाशक, पृ. २८६-८७)

इस प्रकार हम देखते हैं कि जिनागम का सबसे महत्त्वपूर्ण अंग द्रव्यानुयोग के अन्तर्गत न्यायशास्त्रों का समावेश होता है, अत: न्यायशास्त्र को जिनागम में विशेष स्थान प्राप्त है।

न्याय का स्वरूप

वस्तु का अस्तित्त्व स्वत: सिद्ध है। ज्ञाता उसे जाने या न जाने, इससे उसके अस्तित्व में कोई अन्तर नहीं

आता। वह ज्ञाता के द्वारा जानी जाती है, तब प्रमेय बन जाती है और ज्ञाता जिससे जानता है, वह ज्ञान यदि सम्यक् अर्थात् निर्णायक हो तो प्रमाण बन जाता है। इसी आधार पर न्यायशास्त्र की परिभाषा निर्धारित की जाती है।

न्याय-भाष्यकार (१/१/१) वात्स्यायन के अनुसार प्रमाण के द्वारा अर्थ का परीक्षण न्याय कहलाता है। उद्योतकर ने प्रमाण-व्यापार के द्वारा किये जाने वाले अर्थाधिगम को न्याय माना है (न्यायवार्तिक)

इसी प्रकार समस्त जैनेतर दर्शनों ने प्रमेय के निर्णय हेतु मात्र प्रमाण की ही अवकल्पना की है, लेकिन अनेकान्त को वस्तु का स्वरूप स्वीकार करने वाले तथा स्याद्वाद को कथनशैली मानने वाले जैनदर्शन ने प्रमेय के अधिगम के लिए प्रमाण के साथ नयों की अवधारणा अनिवार्य मानी है। तत्त्वार्थसूत्र में आचार्य उमास्वामी लिखते हैं— ''प्रमाणनयैरधिगमः।''

अतएव जैनदर्शन के अनुसार न्याय का लक्षण है— ''प्रमाणनयात्मको न्यायः'' अर्थात् न्याय प्रमाण-नयात्मक होताहै। इनमें से वस्तु को समग्रता से जानने वाला प्रमाण है और प्रमाण से ग्रहीत वस्तु के एक अंश को जानने वाला नय है।

न्यायशास्त्र के सर्जक दक्षिण भारत के प्रमुख आचार्य

जैन-न्याय के प्रचार-प्रसार में मुख्यरूप से दक्षिण भारत के आचार्यों का ही महत्त्वपूर्ण योगदान है। आचार्य समन्तभद्र जैन-न्याय के प्रतिष्ठापक आचार्य हैं, तो आचार्य अकलंक ने जैन-न्याय को पल्लवित व पुष्पित किया है। आचार्य विद्यानन्द भी जैन-न्याय को विशेष विस्तार प्रदान करने वाले हैं। आचार्य समन्तभद्र यद्यपि आद्य स्तुतिकार के रूप में प्रसिद्ध हैं, तथापि उनके स्तुति-स्तोत्रों में मात्र अतिशयोक्तिपूर्ण भक्ति ही नहीं है, दार्शनिक मान्यताओं का समावेश भी है। स्तुति में तर्क व युक्ति का प्रयोग सर्वप्रथम आपने ही किया— यह आपकी असाधारण प्रतिभा का द्योतक है।

आपके द्वारा रचित न्याय विषयक ग्रन्थ प्रमाण-पदार्थ अनुपलब्ध है, लेकिन युक्त्यनुशासन व देवागमस्तोत्र (आप्तमीमांसा) में आपने युक्तिपूर्वक महावीर के शासन का मण्डन और विरुद्ध मतों का खण्डन किया है। अतः इनको न्यायशास्त्र की श्रेणी में रखा जा सकता है। आचार्य समन्तभद्र ने प्रमाण का स्वरूप, वस्तु की अनेकान्तिकता, आप्त की वास्तविक पूज्यता आदि के सन्दर्भ में अनेक नये उपादान जैन-साहित्य को प्रदान किये हैं।

दक्षिण के ही मान्यखेट के राजा शुभतुङ्ग के मन्त्री के पुत्र आचार्य अकलङ्क प्रखर तार्किक व दार्शनिक थे। डॉ० नेमिचन्द्र ज्योतिषाचार्य के अनुसार जैन-परम्परा में यदि समन्तभद्र जैन न्याय के दादा हैं तो अकलङ्क पिता हैं। आपके द्वारा रचित सभी शास्त्र दर्शन और न्यायविषयक ही हैं।

आपने मौलिक व टीका ग्रन्थ दोनों की ही रचना की है। आपके मौलिक ग्रन्थों के अन्तर्गत स्वोपज्ञवृत्ति सहित लघीयस्त्रय, सवृत्ति न्यायविनिश्चय, सवृत्ति सिद्धिविनिश्चय, सवृत्ति प्रमाणसंग्रह हैं। टीका ग्रन्थों के अतर्गत तत्त्वार्थवार्तिक सभाष्य तथा अष्टशती-देवागमविवृति आते हैं। इन सभी का मुख्यविषय न्याय ही है।

अकलङ्कदेव की जैनन्याय को सबसे बड़ी देन है— प्रमाणव्यवस्था, जो दिगम्बर-श्वेताम्बर दोनों सम्प्रदायों

को समान रूप से मान्य है। अतएव इनके पश्चातवर्ती अनेक आचार्यों ने उनका यथावत् अनुकरण किया है। कवि धनञ्जय ने तो अपनी नाममाला में लिखा है—

प्रमाणमकलङ्कस्य पूज्यपादस्य लक्षणम्।
धनंजयकवेः काव्यं रत्नत्रयमपश्चिमम्।।

दक्षिण भारत के कर्नाटक प्रान्त के ब्राह्मण परिवार में जन्में नौवीं शताब्दी के आचार्य विद्यानन्द ने प्रमाण व दर्शन-सम्बन्धी ग्रन्थों की रचना करके श्रुत-परम्परा को विशेष गतिशील बनाया। आपके न्याय-सम्बन्धी मौलिक ग्रन्थ हैं— आप्तपरीक्षा-स्वोपज्ञवृत्तिसहित, प्रमाणपरीक्षा, पत्रपरीक्षा, सत्यशासनपरीक्षा तथा टीका ग्रन्थ हैं— अष्टसहस्री, तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक व युक्त्यनुशासनालंकार।

इस प्रकार हम देखते हैं कि जैन न्याय के विकास में दक्षिण भारत के जैन आचार्यों का महत्त्वपूर्ण योगदान है।

तमिल जैन-साहित्य को श्रमणों की देन

– पं. सिंहचन्द्र जैन शास्त्री, चेन्नई

तमिल जैन-साहित्य में श्रमण शब्द जैनियों के लिए ही उपयोग किया गया है। श्रमणों को तमिल में शमणर कहते है। श्रमणों ने तमिलनाडु में तीन तरह के कार्य किये हैं—

(१) जैन तात्त्विक और साहित्यिक विषयों का तमिल-भाषा में विशाल साहित्य का प्रणयन किया।

(२) तमिल-भाषा में व्याकरण, कोष आदि का गद्य तथा प ा-साहित्य का प्रणयन किया।

(३) सम्पूर्ण मानव जाति को सदाचरण के मार्ग पर चलने हेतु अनेक नीति ग्रन्थों का तमिल-भाषा में प्रणयन। श्रमणों की साहित्य सेवा प्राय: तमिल जनता को सन्मार्ग पर लाने की दृष्टि से हुई है। इसके लिए कुछ-कुछ ग्रन्थ उपलब्ध हैं, वे यों हैं— (१) पदिणेन कील कणक्कु, नालडियार, अरणेरिचारं, तिरुपञ्चमूलं आदि है।

(४) तमिल जैन-साहित्य दो श्रेणी में विभाजित है— (१) लघुकाव्य, (२) बृहद्काव्य। इसके अलावा अनेक स्फुट ग्रन्थ भी उपलब्ध हैं, इसका विवरण मूल वृहद् निबन्ध में दिया जायगा।

(५) धर्म मार्ग बताने के लिए श्रमणों ने साहित्यिक क्षेत्र में महत्त्वपूर्ण अर्थगर्भित विषयों को प ा और ग ा के रूप में गद्य किया है। अबोध जनता के लिए ज्ञानवृद्धि के निमित्त अनेक सारगर्भित ग्रन्थों की रचना की है। इस बात को "तेल काप्पियम्" नामक व्याकरण-ग्रन्थ में देख सकते है। यह ग्रन्थ ईस्वी पूर्व प्रथम व द्वितीय शताब्दी का है।

(६) गणित विषयों को मालूम कराने के लिए व जानकारी के लिए गणित पहाड़े और संख्या सम्बन्धित पुस्तकें भी लिखी गयीं। इन पुस्तकों में भी धर्म सम्बन्धित विषय निहित है। उस विषय का तमिल रूप देखिये।

वनमदि मुक्कुडैयान मलरडि तोलुताल
नेल वाणी लक्कम नेञ्जिनिलवरुमे

इसका हिन्दी भाषान्तर ये हैं— "प्रकाशमान त्रिछत्र जिसके ऊपर स्थित हैं। उनके चरणों की उपासना से संख्या लक्षण ज्ञान मन में लक्षित होगा।"

●

जैन-संस्कृति का मुकुट-मणि-कर्णाटक एवं उसकी यशस्विनी कुछ श्राविकाएँ

– प्रो. (डॉ.) श्रीमती विद्यावती जैन, नोयडा

कर्णाटक प्रदेश भारतीय संस्कृति के लिए युगों-युगों से एक त्रिवेणी-संगम के समान रहा है। भारतीय-भूमण्डल के तीर्थयात्री अपनी तीर्थयात्रा के क्रम में यदि उसकी चरण-रज वन्दन करने के लिए वहाँ न पहुँच सकें, तो उनकी तीर्थयात्रा अधूरी ही मानी जायेगी। जैन-संस्कृति, साहित्य एवं इतिहास से भी यदि कर्नाटक को निकाल दिया जाय, जो स्थिति बहुत कुछ वैसी ही होगी, जैसे भारत के इतिहास से मगध एवं विदेह को निकाल दिया जाए। यदि दक्षिण के इतिहास से राष्ट्रकूट, गंग, चेर, चोल, पल्लव एवं चालुक्यों को निकाल दिया जाए, तो स्थिति कुछ वैसी ही होगी, जैसे मगध से नन्दों, मौर्यों एवं गुप्तों तथा दिल्ली एवं गोपाचल से चौहानों एवं तोमरवंशी राजाओं के इतिहास को निकाल दिया जाए।

दक्षिण-भारत के जैन-इतिहास से यदि पावन-नगरी 'श्रवणबेलगोल' को निकाल दिया जाए, तो उसकी स्थिति भी वैसी ही होगी, जैसी वैशाली, चम्पापुरी, मन्दागिरि, राजगृही, उज्जयिनी, कौशाम्बी एवं हस्तिनापुर को जैन-पुराण-साहित्य से निकाल दिया जाए। जैन इतिहास एवं संस्कृति की एकता, अखण्डता तथा सर्वाङ्गीणता के लिए, कर्नाटक की उक्त सभी आयामों की समान रूप से सहभागिता एवं सहयोग रहता आया है।

यही क्यों? भारतीय-इतिहास की निर्माण-सामग्री में से यदि कर्नाटक की शिलालेखीय एवं प्रशस्तिमूलक-सामग्री तथा कलाकृतियों को निकाल दिया जाए, तो स्थिति ठीक वैसी ही होगी, जैसे सम्राट् अशोक एवं सम्राट् खारवेल की शिलालेखीय, पुरातात्त्विक एवं ऐतिहासिक-सम्पदा को भारतीय-इतिहास से निकाल दिया जाए।

इसी प्रकार, मध्यकालीन भारतीय सामाजिक इतिहास में से यदि कर्नाटक की यशस्विनी श्राविकाओं के इतिहास को उपेक्षित कर दिया जाए, तो भारत का सामाजिक इतिहास निश्चय ही विकलांग हो जाएगा।

उक्त तथ्यों से यह स्पष्ट है कि भारत के बहुआयामी इतिहास के लेखन में कर्नाटक का कितना महत्त्वपूर्ण स्थान रहा है? उसके पूर्व मध्यकालीन राजवंशों ने जहाँ अपनी राष्ट्रवादी एवं जनकल्याणी भावनाओं से अपनी-अपनी राज्य-सीमाओं को सुरक्षित रखा और अपने यहाँ के वातावरण को सुशान्त एवं कलात्मक बनाया, वहीं उन्होंने अपनी संस्कृति, सभ्यता, कला एवं साहित्य के विकास के लिए साधकों, चिन्तकों, लेखकों, कलाकारों एवं शिल्पकारों को, बिना किसी भेद-भाव के, सभी प्रकार की साधन-सुविधाएँ उपलब्ध करायी, उनके लिए विद्यापीठें, अध्ययन-शालाएं एवं ग्रन्थागार स्थापितकर उन्होंने जो भी रचनात्मक कार्य किये, वे भारतीय-परम्परा में आदर्श एवं अनुपम उदाहरण हैं। वहाँ के पुरुष-वर्ग ने जो-जो कार्य किये, वे तो इतिहास के अमिट अध्याय हैं ही, वहाँ की महिलाओं के संरचनात्मक कार्य भी अत्यन्त अनुकरणीय एवं आदर्श-प्रेरक रहे हैं। चाहे साहित्य-लेखन के कार्य हों, पाण्डुलिपि की सुरक्षा एवं प्रतिलिपि-सम्बन्धी कार्य हों, मन्दिर एवं

मूर्ति-निर्माण अथवा प्रतिष्ठा-कार्य हों और चाहे प्रशासन-सम्बन्धी कार्य हों, वहाँ की जागृत नारियों ने पुरुषों के समकक्ष ही शाश्वत-मूल्य के कार्य किये हैं।

आज भारत की राजनैतिक पार्टियाँ भले ही महिलाओं के आरक्षण एवं समानाधिकार प्रदान करने के लिए नारे लगाते-लगाते वर्षों तक नारी-समाज को छल-छद्म या शब्दों के चक्रव्यूह में उलझाये रखें; किन्तु कर्नाटक की आदर्श राज्य-प्रणाली ने उसे सातवीं-आठवीं सदी से बिना किसी रोक-टोक के समानाधिकार दे रखें थे। कर्नाटक के सामाजिक इतिहास के निर्माण में योगदान करने वाली ऐसी सैकड़ों सन्नारियाँ हैं, जिनकी इतिहासपरक प्रशस्तियाँ, वहाँ के शिलालेखों, मूर्तिलेखों एवं स्तम्भलेखों में अंकित हैं तथा वहाँ कि किंवदन्तियों, कहावतों एवं लोकगाथाओं में आज भी जीवित हैं; किन्तु यह खेद का विषय है कि अभी तक उसका सर्वाङ्गीण सर्वेक्षण एवं समग्र मूल्यांकन नहीं हो सका है। उपलब्ध सन्दर्भ-सामग्री में से सभी श्राविकाओं का यहाँ परिचय दे पाना तो सम्भव नहीं; किन्तु कुछ (श्राविकाओं) का संक्षिप्त परिचय यहाँ प्रस्तुत करने का प्रयास किया गया है।

जैन-संस्कृति एवं इतिहास के क्षेत्र में उनके बहुआयामी संरचनात्मक योगदानों के कारण उन्होंने जैन समाज को जो गौरव प्रदान किया, वह पिछले लगभग १३०० वर्षों के इतिहास का एक स्वर्णिम अध्याय है, जिसे कभी भी विस्मृत नहीं किया जा सकेगा। आवश्यकता इस बात की है यदि कोई स्वाध्यायशीला विदुषी प्राध्यापिका इस धैर्यसाध्य क्षेत्र में विश्वविद्यालय स्तर का विस्तृत शोधकार्य करे, तो मध्यकालीन जैन महिलाओं के अनेक प्रच्छन्न ऐतिहासिक कार्यों को तो प्रकाश-दान मिलेगा ही, भावी पीढ़ी को भी अपने जीवन को सार्थक बनाने हेतु नयी-नयी प्रेरणाएँ मिल सकेंगी।

●

स्वतन्त्रता संग्राम में दक्षिण भारतीय जैन महिलाओं और पुरुषों का योगदान

– डॉ. ज्योति जैन, खतौली

हम सबके लिए यह गौरव की बात है कि जिन भगवान् बाहुबली के महामस्तकाभिषेक के शुभ अवसर पर विद्वत् संगोष्ठी में सम्मिलित होने का अवसर मिला है, वे भगवान् बाहुबली राष्ट्र स्वातन्त्र्य-सन्देश के संवाहक हैं। अहिंसक युद्ध परस्पर विरोधी बात लगती है, पर इतिहास साक्षी है कि एक ऐसा युद्ध भी हुआ जो पूर्णतः अहिंसक था। भरत- बाहुबली के बीच राज्य विस्तार की सीमा को लेकर युद्ध होने की नौबत आ गयी तब मन्त्रियों का प्रस्ताव मानकर दोनों में मल्ल, जल और दृष्टियुद्ध हुआ, जिसमें बाहुबली विजयी हुए, पर उन्होंने जीत कर भी संसार त्याग कर, आत्मकल्याण के मार्ग को चुना। इसी अहिंसक युद्ध से प्रेरणा लेकर महात्मा गांधी ने अहिंसा के बल पर देश को आजादी दिलायी, जो अपने आप में विश्व का अकेला उदाहरण है। मेरा यह परम सौभाग्य है कि आज भगवान् बाहुबली के चरणों में 'स्वतन्त्रता संग्राम में दक्षिण भारतीय जैन महिलाओं और पुरुषों का योगदान' विषय पर यहाँ बोलने का अवसर मिल रहा है।

मानव संस्कृति के समुन्नयन में जिन महापुरुषों का महनीय योगदान रहा, उनमें तीर्थङ्कर ऋषभदेव अग्रगण्य हैं। उन्हीं के पुत्र भरत के नाम पर हमारे देश का नाम 'भारतवर्ष' पड़ा। ऋषभदेव ने राज्य-व्यवस्था का सूत्रपात किया। आज हमारे देश में जो गणतन्त्र-परम्परा है उसके जनक भी भगवान् महावीर के पिता, पितामह आदि रहे हैं। अनेक शक्तिशाली जैन सम्राट् रहे हैं। अनेक राजाओं के मन्त्री, दीवान, भण्डारी, सामन्त, सरदार आदि भी जैन रहे हैं। मेवाड़ राज्य के दुर्गपाल आशाशाह और देशोद्धारक भामाशाह आदि के अवदान को कैसे विस्मृत किया जा सकता है? दक्षिण-भारत के गंगवंश, कदम्ब, पल्लव, चालुक्य, राष्ट्रकूट, चोल,कलचुरि आदि वंशों के राजाओं के आश्रय में जैनधर्म फला-फूला। दक्षिण-भारत के शक्तिशाली होयसल वंश की स्थापना जैनाचार्य सुदत्त के आशीर्वाद से हुई थी। इसी वंश में पट्ट महादेवी शान्तला जैसी महारानी हुई, जिन्होंने श्रवणबेलगोल में आकर समाधिमरण किया था।

भारत के स्वतन्त्रता संग्राम में सम्पूर्ण भारत के जैन समाज ने महनीय योगदान दिया था। स्वतन्त्रता की इस लड़ाई में जैनियों ने बढ़-चढ़ कर हिस्सा लिया था। अनेक वीरपुरुष शहीद हो गये और हजारों लोगों को जेल की यातनायें सहनी पड़ी। ऐसे भी लोगों का अवदान था, जिन्होंने तन, मन, धन से इस आन्दोलन का समर्थन किया और जेल गये व्यक्तियों के परिवारों के भरण-पोषण की व्यवस्था की। जैन समाज ने जितना आर्थिक सहयोग इस आन्दोलन में दिया शायद ही किसी ने दिया हो। स्वाधीनता की इस लड़ाई में पूरा देश एक लम्बे समय तक संघर्ष करता रहा। दक्षिण-भारत की जैन समाज ने भी इस लड़ाई में महनीय योगदान दिया था। कर्नाटक, आन्ध्र प्रदेश एवं महाराष्ट्र के कुछ हिस्सों को इस लेख में 'दक्षिण-भारत' के रूप में परिभाषित किया जा रहा है।

दक्षिण-भारत के लगभग सात शहीदों ने अपनी आहूति देकर भारत की आजादी का मार्ग प्रशस्त किया। प्रस्तुत आलेख में इन सभी का विशेष परिचय, फोटो एवं स्मारकों के चित्र देने का प्रयास किया गया है। सोलापुर जिले के करकंबगांव के अमर शहीद मोतीचन्द शाह ने फांसी से पूर्व जेल में खून से एक पत्र लिखा था। राज्य के छोटे से ग्राम कड़वी शिवापुर (मुरगुड तहसील) के अमर शहीद वीर
साताप्पा टोपण्णावर राष्ट्रीय तिरंगे के सम्मान की खातिर अंग्रेज आफीसर की गोली के शिकार हो गये। हातकणंगले, जिला सांगली महाराष्ट्र के अण्णा पत्रावले पुलिस गोली से शहीद हो गये। सांगली के एक चौक को उनका नाम दिया गया एवं वहाँ उनका स्टेच्यू लगाया गया है। कोल्हापुर महाराष्ट्र के ठिकपुर्ली ग्राम के भूपाल अण्णाप्पा अणस्कुरे पुलिस प्रताड़ना में शहीद हो गये। अमर शहीद भूपाल पण्डित, अमर शहीद भारमल, अमर शहीद हरिश्चन्द्र देगबोड़ा आदि देश के लिए शहीद हो गये थे। स्वतन्त्रता सेनानी से अध्यात्म की ओर आत्मस्वातन्त्र्य की भावना लिए परमपूज्य आचार्य विद्यानन्दं जी महाराज के अवदान को कैसे विस्मृत किया जा सकता है?

इतिहास साक्षी है कि स्वाधीनता के इस महासमर में महिलाओं ने अपनी सामाजिक सीमाओं को ध्यान में रखते हुए पूरे जोश-खरोश के साथ कदम से कदम मिलाकर राजनैतिक गतिविधियों में हिस्सा लिया था। यह वह समय था जब सामान्यत: महिलाओं का कार्यक्षेत्र घर की चहारदीवारी तक ही सीमित था। फिर भी महिलाओं ने स्वतन्त्रता आन्दोलन में भाग लिया। स्वतन्त्रता की इस लड़ाई में जहाँ प्रत्यक्ष रूप से महिलाएँ सामने आयी वही उससे भी ज्यादा उनका परोक्ष रूप से योगदान मिला, जिसे यह समाज और देश कभी भूला नहीं पायेगा। दक्षिण-भारत की अनेक क्रान्तिकारी जैन महिलाएँ हुई जिन्होंने अपने जीवन को दांव पर लगाकर क्रान्ति की मशाल को जलाए रखा। जून २००१ में रणरांगिणी क्रान्तिकारी महिला राजू ताई से बेलगांव-सांगली कीसीमा पर स्थित कुम्भोज बाहुबली में जब दर्शन किये तो अपने आपको हमने कृतकृत्य माना। दुभाषिएं की मदद से उन्होंने बताया कि कैसे गोवा से हथियार लाकर वे दक्षिण-भारत के क्रान्तिकारियों को देती थीं। पूज्य बापू के आश्रम (वर्धा) में रहने वाली कांचन जैन, सोलापुर की श्रीमती प्रभादेवी शाह, बयाबाई रामचन्द्र जैन, मीराबाई रमणलाल शहा, जिला सांगली की रतनबाई स्वरूपचन्द शाह, विमलाबाई गुलाबचन्द्र शहा, सरस्वतीबाई, पण्डिता सुमतिबेन शाह आदि अनेक महिलाओं ने भारत मां को परतन्त्रता की बेड़ियों से मुक्त कराया, जिनके अवदान से पूरा देश गर्वित है।

दक्षिण-भारत के सभी जैन जेलयात्रियों ने जेल की दारुण यातनायें सहीं। अपना सब कुछ देश के लिए न्योछावर किया और देश को आजादी दिलायी उनकी सूची मात्र ही प्रस्तुत की जा सकेगी, क्योंकि लेख में सब कुछ दे पाना विस्तारभय से सम्भव नहीं है। लेख में दी गयी सभी सामग्री प्रामाणिक है और सभी के दस्तावेज हमारे पास सुरक्षित हैं।

एक और प्रसंग का उल्लेख किये बिना यह लेख (सारांश) पूरा नहीं हो सकता वह है दक्षिण-भारत की जैन संस्था'दक्षिण भारत जैनसभा'। यह संस्था जहां सामाजिक दायित्वों में अग्रणी रही वहीं देश की आजादी की लड़ाई में भी महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई। इस सभा के एक अधिवेशन में सुप्रसिद्ध क्रान्तिकारी अर्जुनलाल सेठी सांगली गये थे जहाँ से वे दो युवकों को अपने साथ ले गये थे जिनमें एक थे देवचन्द जो, आचार्य समन्तभद्र

के नाम से विख्यात हुए और दूसरे थे मोतीचन्द शाह जिन्हें आजादी के आन्दोलन में फांसी की सजा हुई। यह भी महत्त्वपूर्ण प्रसंग है कि अर्जुनलाल सेठी दक्षिण-भारत के बेलूर जेल में ५६ दिन तक निराहार रहे थे। आदि

विशेष ध्यातव्य है कि आजादी के ५५ वर्ष बाद भी आजादी के आन्दोलन में जैन समाज के योगदान का प्रामाणिक आकलन नहीं हो पाया है। हम लोगों ने इस पर कार्य करना प्रारम्भ किया। 'स्वतन्त्रता संग्राम में जैन' (प्रथम खण्ड) प्रकाशित हो गया है जिसमें मध्य प्रदेश, उत्तर प्रदेश और राजस्थान, छत्तीसगढ़ के जैन जेल यात्रियों का परिचय आ गया है। दूसरा खण्ड, जिसमें दक्षिण-भारत कबे स्वतन्त्रता सेनानियों का परिचय दिया जायेगा, पर अनुसन्धान जारी है।

●

आश्चर्यकारी ग्रन्थ सिरि भूवलय

– डॉ. महेन्द्रकुमार जैन 'मनुज', इन्दौर

मंगलं भगवानर्हन्मंगलं भगवान् जिनः।
मंगलं धरसेनार्यो मंगल वृषभेश्वरः।।

सिरिभूवलय आश्चर्यान्वित कर देने वाला तथा आज के वैज्ञानिकों को चुनौतीपूर्ण अद्‌भुत ग्रन्थ है। आठवीं-नवमी शताब्दी में दिगम्बराचार्य कुमुदेन्दु द्वारा लिखा गया यह अपने आप में अनूद्य ग्रन्थ मात्र अंकचक्रों में निबद्ध है। इसमें १ से ६४ तक के अंकों को लिया गया है। एक अंकचक्र में २७ कॉलम खड़े और २७ कॉलम पड़े, इस तरह से कुल ७२९ खाने बनाये गये हैं, उनमें विशेष विधि से अंक लिखे गये हैं। इस तरह के कुल १२९४ अंकचक्र हैं, जो हमें उपलब्ध हैं। अब से पहले तक १२७० अंकचक्रों की जानकारी थी। इन अंकचक्रों से कुल २१,१३४ सांगत्य प ा निःसृत होते हैं। सभी यन्त्रों के १२९४×७२७ = ९,४३,३२६ अक्षर हुए।

इसमें ५९ अध्याय हैं + २९वाँ द्वितीय, श्रुतावतार और मङ्गल प्राभृत— इस तरह ६२ अध्याय कह सकते हैं। ग्रन्थ के सम्पूर्ण उपलब्ध १२९४ अंकचक्रों से अलग-अलग एंगिल से ७०,०९६ अंकचक्र बनेंगे। इनके अक्षर ५,१०, ३०, ००० होंगे और उनसे लगभग ४७, २५, ००० प ा बनेंगे; किन्तु हमारी क्षमता केवल १६,००० अंकचक्र बनाने की है, जिनसे लगभग ९ लाख प ा बनेंगे। इनसे समसत द्वादशांग, ३६३ दर्शनों के सिद्धान्त, ६४ कलाएँ, ७१८ भाषाएँ, विषय— धर्म, विज्ञान व्यवस्थित रूप से पूर्ण विवेचित होगा।

इस ग्रन्थ के रचनाकार आचार्य कुमुदेन्दु हैं। ये बैंगलोर से ३८ मील दूर नन्दी पर्वत के समीप 'यलवल्ली' के निवासी थे। इन्होंने अपना नाम कौमुदीन्दु भी लिखा है। आचार्य कुमुदेन्दु वदलाकार आचार्य वीरसेन के शिष्य थे, ऐसा इन्होंने इस ग्रन्थ में अनेक जगह उल्लेख किया है।

कुन्दकुन्द ज्ञानपीद्द, इन्दौर के शोधार्थिकारी रहते १ अप्रैल २००१ से मैंने इसका कार्यारम्भ किया। चार माह की अल्प अवधि में मैंने इसे पढ़ने की यह अनूद्दी विधि खोज निकालने में सफलता प्राप्त कर ली। वर्तमान में इसका कार्य 'जैन संस्कृति शोध संस्थान, इन्दौर' में गतिमान हैं।

भाषाएँ व लिपियाँ

सिरि भूवलय की रचना-लिपि अंक-लिपि है। इसे लिखने में केवल अंकों का प्रयोग किया गया है, वह भी केवल १ से ६४ तक के अंकों का ही, क्योंकि जैनाचार्यों ने कहा है कि समस्त भाषाओं में से किसी भी भाषा की वर्णमाला में स्वर और व्यञ्जन मूलवर्ण ६४ से अधिक नहीं है। गोम्मटसार, धवला आदि ग्रन्थों में स्पष्ट निर्देश है—

तेत्तीस वेंजगाइं सत्ताबीसा सरा तहा भणिया। चत्तारि य जोगवहा चउसट्ठी मूलवण्णाओ।।

अर्थात् तेतीस व्यञ्जन, सत्ताइस स्वर (९ स्वरों के ह्रस्व, दीर्घ, प्लुत तीन-तीन भेद मिलाकर) तथा चार योगवाह ये मिलाकर ६४ मूल वर्ण होते हैं। सभी भाषाओं के लिए अंक निर्धारित हैं। सिरि भूवलय में १८ महाभाषाओं और ७०० लघु भाषाओं का उल्लेख अनेक स्थलों पर आया है।

इसमें पशु-पक्षियों, देव-नारकियों की भाषाएँ निकल आती हैं। एक अन्य स्थान पर इसमें कहा है कि --सात सौ क्षुल्लक भाषाओं को गुणाकार पद्धति से ६४ अक्षरों के साथ गुणा करने पर सुपर्ण कुमार (गरुड), गन्धर्व, किन्नर, किम्पुरुष, नारक, तिर्यञ्च, भील (पुलिन्द), मनुष्य और देवों की भाषा आ जाती है।

वर्तमान में २८४ देशों की भाषाओं के लिप्यन्तरण साफ्टवेयर बन चुके हैं। अर्थात् अंग्रेजी से निम्नांकित देशों की भाषाओं की लिपियों में अक्षरों को परिवर्तित करने की सुविधा उपलब्ध है। देखना है, हम इनका कितना उपयोग कर पाते हैं। आचार्य कुमुदेन्दु ने सिरिभूवलय की रचना अंकों में की है तथा उसकी रचना-पद्धति चक्रबंध-पद्धति रखी है। इसमें ६० अध्याय हैं तथा प्रत्येक अध्याय को पढ़ने की विधि अलग-अलग है।

इसमें सरस्वती स्तोत्र, ऋषिमण्डल स्तोत्र, चौदहपूर्व, गणित, प्राणावाय, मध्यमपद, णिव्वाणभत्ति, समयसार, प्रवचनसार, तत्त्वार्थसूत्र, तत्त्वार्थाभिगम महाभाष्य, रत्नकरण्डक श्रावकाचार, कर्मदहन विधान, भूतवलीसूत्र, देवागम स्तोत्र, भरत स्वयम्भू स्तोत्र, चूड़ामणि, सर्वार्थसिद्धि, पूज्यपादकृत हितोपदेश, पात्रकेशरी स्तोत्र, कल्याणकारक, चौदहपूर्व गणित, मन्त्रबंभर स्तोत्र, ऋषिमण्डल स्तोत्र, सूर्यप्रज्ञप्ति, चन्द्रप्रज्ञप्ति, त्रिलोकप्रज्ञप्ति, जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति, अंगप्रविष्ठ, अंगबाह्य और कुछ अद्भुत मन्त्रादि हैं।

इसमें पाँच तरह की भगवद्गीता, जयाख्यान महाभारत, शिव-पार्वती गणित, ऋग्वेद, बाल्मीकि रामायण, गायत्री मन्त्र आदि हैं। प्राणावाय मध्यमपद में चमत्कारिक विधियाँ हैं। गणित पर तो यह ग्रन्थ पूर्णतया आधारित ही है।

वैज्ञानिक दृष्टि से भी यह महाग्रन्थ महत्त्वपूर्ण है। इसमें अणुविज्ञान (फिजिक्स), रसायनशास्त्र (केमिस्ट्री), जीवविज्ञान (बायलॉजी), औषधशास्त्र (प्राणव्य और आयुर्वेद), भूगर्भशास्त्र (ज्योलॉजी), ज्योतिषशास्त्र (एस्ट्रोनामी) इत्यादि वर्णित हैं।

कम्प्यूटर में किया गया समस्त कार्य अंकों पर ही आधारित होता है और जो कुछ फीड किया जाता है वह डिजिट (अंकों) में बदल कर (बिनेरी सिस्टम से ०१ आदि में) सुरक्षित रखता है, चाहे वह मैटर किसी भी भाषा में हो, उसे अंकों में ही बदलेगा और जब कम्प्यूटर पुन: खोलते हैं तो कम्प्यूटर अंकों में सुरक्षित उस सारे मैटर को पुन: उन्हीं भाषाओं में बदल कर प्रदर्शित करता है। यही प्रक्रिया इस ग्रन्थ में अपनायी गयी है। फर्क इतना है कि आज के कम्प्यूटर वैज्ञानिक यह कार्य करने में १३-१४ भाषाओं तक ही सीमित है; जबकि अब से लगभग तेरह सौ वर्ष पूर्व रचा ग्रन्थ आज के कम्प्यूटर से सौ गुणित आगे है। यह भी द्वीक कम्प्यूटर की प्रक्रिया से अंकों में लिखा गया और डिकोड कर ७१८ भाषाओं में अनेकों विषय-ग्रन्थ प्राप्त किये जा सकते है।

भगवान् महावीर की वाणी द्वादशांगबद्ध मानी जाती है। द्वादशांग दृष्टिवाद अंग के पाँच भेदों में से चूलिका एक है। चूलिका में आश्चर्यप्रद सामग्री है। इसमें जलगता, स्थलगता, मायागता, रूपगता और आकाशगता के

विवेचन हैं। इस भूवलय ग्रन्थ में एक सन्दर्भ में आकाशगता प्रयोग की विधि आयी है। सिरिभूवलय में एक स्थान पर आया है कि यदि एक मुनिराज २४ घण्टे में २२ घण्टे कार्य करते हैं तो वे १७० वर्ष में इसे पूर्ण कर पायेंगे अर्थात् एक प्रोफेसर दिन में ७-८ घण्टे कार्य करता है तो ५१० वर्ष में इसका कार्य पूर्ण हो पायेगा।

यदि इन्दौर निवासी आदरणीय काका साहब श्री देवकुमासिंह जी कासलीवाल की व्यक्तिगत रुचि इसमें न होती तो इतना कार्य भी कदापि नहीं हो सकता था, अत: इस कार्य को प्रारम्भ करने का पूर्ण श्रेय उन्हें ही जाता है।

●

जैन गणित का वैशिष्ट्य

– डॉ. अनुपम जैन, इन्दौर

बहुर्भिर्विप्रलापैः किं त्रैलोक्ये सचराचरे।
यत्किंचिद्वस्तु तत्सर्व गणितेन् बिना नार्हि।। (ग.सा.सं. १/१६)

मूर्धन्य भारतीय गणितज्ञ आचार्य महावीर (८१४-८१७ ई.) का यह कथन यद्यपि अपेक्षाकृत बाद का है; किन्तु यह ज्ञान के क्षेत्र में गणित की अपरिहार्यता को बहुत सक्षम रूप में व्यक्त करता है। नवीं शताब्दी ई. के इस जैनाचार्य ने पाठ्य पुस्तक शैली में लिखित अपनी विश्वविख्यात कृति 'गणितसार संग्रह' में यह कथन करके परोक्ष रूप से जैनधर्म, दर्शन आदि के क्षेत्र में भी गणित की अतिमहत्त्वपूर्ण स्थिति की ओर इंगित किया है। वास्तविकता तो यह है कि गणित के सम्यक् ज्ञान के बिना जैन-दर्शन को भली प्रकार आत्मसात ही नहीं किया जा सकता। इसी बात को १८वीं शताब्दी ई. के जैन विद्वान् पं. टोडरमल (१७४०.१७६७ ई.) ने 'त्रिलोकसार' ग्रन्थ की पूर्व पीठिका में लिखा है कि --

'बहुरि जे जीव संस्कृतादिक के ज्ञान सहित है; किन्तु गणिताम्वायादिक के ज्ञान के अभाव ते मूल ग्रंथ या संस्कृत टीका विषै प्रवेश न करहुँ, तिव भव्य जीवन काजे इन ग्रंथन की रचना करी है।'

पं. टोडरमलजी का यह कथन इस बात की पूर्णरूपेण पुष्टि करता है कि गणित एवं गणितीय प्रक्रियाओं को सम्यक् रूप से समझे बिना मूल ग्रन्थों एवं आगमों की विषय-वस्तु को ठीक प्रकार से नहीं जाना जा सकता। जैन- शास्त्रों में जिन बहत्तर कलाओं का उल्लेख मिलता है उनमें सर्वप्रथम स्थान लेख का एवं दूसरा गणित का है तथापि आगमों में प्रायः इन कलाओं को 'लेहाइओ गणियप्पहाणाओ' अर्थात् लेखादिक; किन्तु प्रधान कहा गया है। मात्र इतना ही नहीं अपितु सम्पूर्ण जैन वाङ्मय के विषयानुसार विभाजन के क्रम में उसे चार अनुयोगों में निम्नप्रकार विभाजित किया जाता है।

दिगम्बर-परम्परा के अनुसार

१. **प्रथमानुयोग-** तीर्थङ्करों एवं अन्य महापुरुषों के जीवन-चरित्र, पूर्वभवों का विवरण एवं कथा-साहित्य।

२. **करणानुयोग-** लोक का स्वरूप, आकार-प्रकार, कर्म-सिद्धान्त एवं गणित विषयक साहित्य।

३. **चरणानुयोग-** मुनियों एवं श्रावकों की चर्या तथा आचार विषयक साहित्य

४. **द्रव्यानुयोग-** अध्यात्म, आत्मा एवं परमात्मा विषयक दार्शनिक- साहित्य, न्याय एवं अध्यात्म के ग्रन्थ।

श्वेताम्बर-परम्परा के अनुसार

१. **धर्मकथानुयोग-** इसमें तीर्थङ्करों का जीवन, पूर्वभव एवं धार्मिक कथाओं से सम्बद्ध साहित्य।

२. **चरण-करणानुयोग-** आचार एवं गणित विषयक साहित्य।

३. **गणितानुयोग-** खगोल विषयक साहित्य

४. **द्रव्यानुयोग-** अध्यात्म, न्याय, कर्म एवं दर्शन-सम्बन्धी साहित्य।

उक्त विभाजन से स्पष्ट है कि जैनधर्म में गणित को अतिविशिष्ट स्थान दिया गया है। ब्रह्माण्ड के रहस्यों एवं उसके स्वरूप के विवेचन हेतु त्रिलोक विज्ञान (Cosmology, Cosmography, Cosmogony), धार्मिक अनुष्ठानों एवं दीक्षादि हेतु ज्योतिष विषयक ग्रन्थों का सृजन जैनाचार्यों ने किया। जहाँ-जहाँ गणना हो, तुलना हो, वृद्धि या न्यूनता हो वहाँ-वहाँ गणित का समावेश हो ही जाता है। इसी कारण जैनाचार्यों द्वारा प्रणीत पूर्णतः गणितीय अथवा गणितीय सामग्री से समृद्ध दार्शनिक ग्रन्थ जैन भण्डारों में प्रचुरता से उपलब्ध है।

गणित इतिहास के अध्ययन पर दृष्टिपात करने से यह स्पष्ट है कि १८वीं शताब्दी के अन्त में गणित इतिहास का लेखन प्रारम्भ हो गया था; किन्तु जैनधर्म ग्रन्थों में निहित गणितीय ज्ञान की ओर किसी गणितज्ञ का ध्यान आकृष्ट नहीं हुआ। प्रसिद्ध जैनाचार्य श्रीधर (७५० ई. लगभग) द्वारा प्रणीत 'त्रिंशतिका (पाटीगणितसार अथवा गणितसार)' का प्रकाशन सुधाकर द्विवेदी द्वारा १८९९ में अवश्य किया गया था; किन्तु उस समय इसको अजैन कृति के रूप में प्रकाशित किया गया था। २०वीं सदी में प्रारम्भ में मद्रास ओरियण्टल मैन्युस्क्रिप्ट लाइब्रेरी से सम्बद्ध 'एम. रंगाचार्य' को इस भण्डार से प्राप्त आचार्य महावीर द्वारा रचित गणितीय पाण्डुलिपि गणितसार संग्रह की प्राप्ति से भारतीय गणित एक स्वर्णिम पृष्ठ अनावृत्त हुआ। विश्व समुदाय को इस महत्त्वपूर्ण जैन गणितीय कृति की जानकारी सर्वप्रथम १९०८ में प्रकाशित आलेख के माध्यम से हुई तथा १९१२ में मद्रास सरकार द्वारा 'गणितसार संग्रह' का एम. रंगाचार्य द्वारा किये गये अंग्रेजी अनुवाद एवं प्रस्तावना सहित प्रकाशन किया गया। वस्तुतः इस कृति के प्रकाशन के साथ ही विश्व समुदाय का ध्यान भारतीय गणित की उस परम्परा की ओर आकृष्ट हुआ जिसे सम्प्रति 'जैन गणित' या 'जैन स्कूल ऑफ मैथमेटिक्स' की संज्ञा दी जाती है और इस प्रकार विश्व क्षितिज पर 'जैन गणित' की पुनर्स्थापना हुई।

जैन गणित से आशय जैनाचार्यों द्वारा प्रणीत स्वतन्त्र गणितीय ग्रन्थों अथवा जैन आगम एवं टीका साहित्य में उपलब्ध गणितीय सामग्री से है।

प्रस्तुत शोध-पत्र में निम्नांकित बिन्दुओं पर विस्तृत विवेचना प्रस्तुत की जायेगी।

१. जैन साहित्य में गणित एवं प्रमुख जैन गणितज्ञ।

२. जैन गणित के अध्ययन की आवश्यकता एवं उपादेयता।

३. जैन गणित के क्षेत्र में अब तक सम्पन्न शोध-कार्य।

४. जैन गणितीय साहित्य की उपलब्धता/अनुपलब्धता।

५. जैनाचार्यों की विशिष्ट गणितीय उपलब्धियाँ।

आयुर्वेद के विकास में जैन मनीषियों का योगदान

– आचार्य राजकुमार जैन, इटारसी

यह सुविदित है कि जैन मनीषियों, मुनिप्रवरों एवं आचार्यों ने धर्म-दर्शन-अध्यात्म-साहित्य और कला के क्षेत्र में अपने ज्ञान गाम्भीर्य और वैदूष्य के द्वारा भारतीय संस्कृति एवं श्रमण-संस्कृति के स्वरूप को तो विकसित किया ही है, मानवमात्र के लिए कल्याण का मार्ग भी प्रशस्त किया है। उन्होंने आत्महित चिन्तनपूर्वक लोकहित की भावना से जो साहित्य सृजन किया है उसमें उनकी अद्वितीय प्रतिभा की सुस्पष्ट झलक मिलती है। अभी तक विभिन्न विषयों पर जैन मनीषियों द्वारा रचित जो ग्रन्थ प्रकाशित किये गये हैं वह उनके द्वारा रचित विशाल साहित्य का अंशमात्र ही है। अभी भी ऐसे अनेक ग्रन्थ विद्यमान हैं जो विभिन्न मन्दिरों के शास्त्र भण्डारों में रखे हुए हैं। इसके अतिरिक्त ऐसे भी अनेक ग्रन्थ हैं जिनका उल्लेख या सन्दर्भ आचार्यों द्वारा रचित अन्यान्य कृतियों, ग्रन्थों में तो मिलता है; किन्तु वे अभी उपलब्ध नहीं होते।

समग्र जैन वाङ्मय का परिशीलन करने से ज्ञात होता है कि बहुमुखी प्रतिभा, प्रकाण्ड पाण्डित्य और विलक्षण बुद्धि वैभव के धनी जैन मनीषि केवल एक विषय के ही अधिकारी नहीं थे, अपितु विभिन्न विषयों में उनकी साधिकार गति- प्रवृत्ति थी। यही कारण है कि एकाधिक विषयों पर उनके द्वारा रचित ग्रन्थों की जानकारी प्राप्त होती है। जैन मनीषियों को यद्यपि मूलत: अध्यात्म विद्या ही अभीष्ट रही है, तथापि धर्म, दर्शन, न्याय तथा विभिन्न लौकिक विषय भी उनकी ज्ञान परिधि में व्याप्त रहे हैं। यही कारण है कि जिस प्रकार उन्होंने उक्त विषयों को अधिकृत कर विविध उत्कृष्टतम ग्रन्थों की रचना की उसी प्रकार उन्होंने व्याकरण, कोश, काव्य, छन्द, अलंकार, नीतिशास्त्र, आचारशास्त्र, ज्योतिष, आयुर्वेद आदि विषयों पर भी साधिकार लेखनी चला कर विभिन्न ग्रन्थों का प्रणयन किया और अपने ज्ञान, वैदुष्य एवं विलक्षण प्रतिभा का परिचय दिया।

यहाँ यह कहना अप्रासंगिक नहीं होगा कि जैन मनीषियों, आचार्यों एवं विद्वत्प्रवरों द्वारा अन्य विषयों की भाँति आयुर्वेद को भी अधिकृत कर अनेक ग्रन्थों की रचना की गयी। किन्तु वर्तमान में उपलब्ध आयुर्वेद साहित्य का अवलोकन करने पर ज्ञात होता है कि जैन आयुर्वेद की अद्यावधिक विकास यात्रा में जो अनेक उतार-चढ़ाव रूपात्मक परिवर्तन आये हैं उनके परिणामस्वरूप अधिकांश ग्रन्थ कालकवलित होकर लुप्त हो गये हैं। वर्तमान में हमारे समक्ष जैनायुर्वेद-परम्परा का एकमात्र प्रतिनिधि ग्रन्थ "कल्याणकारक" है जिसकी रचना आठवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में दिगम्बराचार्य श्रीमद् उग्रादित्य ने की थी। इस ग्रन्थ में श्री उग्रादित्याचार्य ने उन जैन मनीषियों और उनके द्वारा रचित ग्रन्थों का उल्लेख किया है जो उनके काल में विद्यमान रहे हैं; (किन्तु वर्तमान में उपलब्ध नहीं हैं।) कल्याणकारक ग्रन्थ के पूर्व का या उसके बाद का कोई ऐसा प्रामाणिक ग्रन्थ उपलब्ध नहीं है जिससे जैनायुर्वेद-सम्बन्धी प्रामाणिक आधिकारिक जानकारी प्राप्त हो सके। अत: यह स्पष्ट है कि जैनायुर्वेद की प्राचीन- परम्परा मध्य युग से पूर्व ही लुप्त हो चुकी थी।

जैनधर्म अथवा जिनागम-परम्परा में आयुर्वेद को लौकिक विद्या के रूप में स्वीकार किया गया है और उसे 'प्राणावाय' संज्ञा से व्यवहृत किया गया है। द्वादशांग रूप जिनागम के बारहवें दृष्टिवादांग के पांच भेदों में से

'पूर्व' नामक भेद के चतुर्दश भेद हैं जिनमें बारहवां पूर्व 'प्राणावाय' कहलाता है। इस प्राणावाय पूर्व के अन्तर्गत अष्टाङ्ग युत् सम्पूर्ण आयुर्वेद वर्णित है। आयुर्वेद के आठ अंग हैं— शालाक्य, कायचिकित्सा, भूततन्त्र या भूतविद्या, शल्यतन्त्र, अगदतन्त्र, रसायनतन्त्र, बालरक्षा (कौमारभृत्य) और बीजवर्धन (वाजीकरणतन्त्र)।

'कल्याणकारक' ग्रन्थ में प्राप्त उल्लेख से स्पष्टत: ज्ञात होता है कि मध्य युग से पूर्व के दो मनीषि आचार्यों श्री समन्तभद्र स्वामी (द्वितीय शताब्दी) और श्री पूज्यपाद स्वामी (चतुर्थ शताब्दी) के द्वारा आयुर्वेद के ग्रन्थों की रचना की गयी थी। श्री उग्रादित्याचार्य ने तो स्पष्ट रूप से लिखा है कि श्री समन्तभद्र स्वामी ने अष्टङ्ग से परिपूर्ण जिस आयुर्वेद के ग्रन्थ की रचना की थी उसके आधार पर ही उन्होंने प्रस्तुत 'कल्याणकारक' ग्रन्थ की रचना की है। 'कल्याणकारक' का हिन्दी-भाषा में अनुवाद कर उसे प्रकाशित कराने वाले श्री पं. वर्धमान पार्श्वनाथ शास्त्री ने स्वयं उस ग्रन्थ का अवलोकन किया है। इसका उल्लेख उन्होंने 'कल्याणकारक' की प्रस्तावना में किया है तथा श्री समन्तभद्र स्वामी द्वारा रचित ग्रन्थ 'सिद्धान्त रसायन कल्प' के कुछ श्लोक भी उद्धृत किये हैं।

इसी प्रकार पूज्यपाद स्वामी द्वारा भी आयुर्वेद-सम्बन्धी सर्वाङ्गपूर्ण ग्रन्थ की रचना किये जाने के पर्याप्त प्रमाण उपलब्ध होते हैं। कल्याणकारक में भी उनके द्वारा आयुर्वेद के सर्वाङ्गपूर्ण ग्रन्थ की रचना किये जाने का उल्लेख मिलता है। कन्नड़-भाषा एवं संस्कृति के मनीषि जैनाचार्य जगद्वल सोमनाथ ने स्वयं इस तथ्य की पुष्टि की है कि उन्होंने पूज्यपाद स्वामी द्वारा लिखित 'कल्याणकारक' ग्रन्थ का कन्नड़-भाषा में अनुवाद एवं लिप्यन्तरण किया है। इससे पूज्यपाद स्वामी द्वारा लिखित 'कल्याणकारक' ग्रन्थ का महत्त्व स्वत: स्पष्ट है। इस ग्रन्थ में पीठिका प्रकरण, परिभाषा प्रकरण, षोडश ज्वर चिकित्सा निरूपण प्रकरण आदि का प्रतिपादन विस्तारपूर्वक किया गया है। कन्नड़-भाषा के प्राचीन वैद्यक ग्रन्थों में यह ग्रन्थ सर्वाधिक प्राचीन एवं व्यवस्थित है।

इसके अनन्तर मध्य युग में केवल श्री उग्रादित्य द्वारा रचित 'कल्याणकारक' ग्रन्थ ही प्राप्त होता है जो सर्वाङ्गपूर्ण (अष्टङ्गयुक्त) एवं व्यवस्थित माना जाता है। यह मुद्रित एवं प्रकाशित हो जाने से प्राणावाय (जैनायुर्वेद) सम्बन्धी प्रामाणिक जानकारी सुलभ हो सकी है। इसके अतिरिक्त किसी अन्य सर्वाङ्गपूर्ण आयुर्वेद के ग्रन्थ की रचना का संकेत नहीं मिलने से यह स्पष्ट हो गया है कि मध्य युग में प्राणावाय-परम्परा का ह्रास होता गया और कालान्तर में उसका लोप भी हो गया। यद्यपि इस परम्परा के लुप्त हो जाने के अनेक कारण हो सकते हैं, तथापि कोई एक निश्चित कारण बतला पाना सम्भव नहीं है। इस विषय में जो सन्दर्भ प्राप्त हुए हैं उनसे ज्ञात होता है कि अनेक जैन मनीषियों ने प्राणावाय (जैनायुर्वेद) आधारित ग्रन्थों की रचना की थी जिनमें से अधिकांश उपलब्ध नहीं हैं और जो उपलब्ध हैं वे भी अपने उद्धार की प्रतीक्षा कर रहे हैं। सम्भव है वे भी प्रतीक्षा करते-करते काल-कवलित न हो जावें।

श्री समन्तभद्र स्वामी एवं श्री पूज्यपाद स्वामीद्वारा रचित आयुर्वेद के ग्रन्थ आज उपलब्ध नहीं हैं, यह हमारे लिए दु:खद स्थिति है। यहाँ यह भी उल्लेखनीय है कि दक्षिण भारत में फिर भी ईसा की आठवीं शताब्दी तक प्राणावाय पर आधारित ग्रन्थों की रचना किये जाने के संकेत प्राप्त होते हैं; किन्तु उत्तर भारत में तो प्राणावाय से सम्बन्धित किसी ग्रन्थ की रचना किये जाने की सूचना प्राप्त नहीं हुई है। इससे ऐसा प्रतीत होता

है कि उत्तर भारत में यह परम्परा बहुत पहले ही विलुप्त हो चुकी थी; किन्तु इतना अवश्य है कि ईसा की बारहवीं-तेरहवीं शताब्दी में कुछ मुनिजनों और जैन यतियों के द्वारा आयुर्वेदाधारित ग्रन्थों की रचना की गयी थी; किन्तु वे ग्रन्थ प्राणावाय परम्पराधारित नहीं होकर सामान्य आयुर्वेदाधारित हैं, क्योंकि उनमें प्राणावाय का उल्लेख कहीं भी किसी भी रूप में नहीं मिलता है।

यहाँ यह तथ्य उल्लेखनीय और रेखांकित किये जाने योग्य है कि दक्षिण भारत में रस चिकित्सा के माध्यम से भट्टारकों और जैन यतियों ने आयुर्वेद के विकास में अपना अपूर्व योगदान दिया। उन्होंने प्राणावाय-परम्परा के अन्तर्गत वर्णित रस चिकित्सा को न केवल सुरक्षित रखा अपितु उत्तरोत्तर उसे विकसित भी किया। आज भी उनके द्वारा इस विषय में रचित ग्रन्थ राजस्थान, पंजाब, गुजरात, कर्नाटक, तमिलनाडु आदि प्रान्तों के ग्रन्थागारों में देखने को मिल जाते हैं। उपलब्ध ग्रन्थों का अध्ययन करने से ज्ञात होता है कि उनमें से कुछ ग्रन्थों की रचना मौलिक ग्रन्थ के रूप में है तो कुछ सार संक्षेप के रूप में। कुछ संग्रह ग्रन्थ हैं तो कुछटीका-अनुवाद ग्रन्थ के रूप में उपलब्ध होते हैं। अनेक रचनाएं स्तबक, गुटका, टिप्पणी, टव्वा के रूप में प्राप्त होती है।

इनमें से जो मौलिक रूप से रचित या स्वतन्त्र पद्यमय रचनाएं हैं उनमें नयनसुख द्वारा रचित वैद्यमनोत्सव, कविवर मान द्वारा रचित कवि विनोद और कवि प्रमोद, जिनसमुद्रसूरिकृत वैद्यक-सारोद्धार या वैद्यक-चिन्तामणि, जोगीदासकृत वैद्यकसार, मेघमुनिकृत मेघविनोद, गंगाराम यति द्वारा लिखित यतिनिदान आदि उल्लेखनीय हैं। इसी प्रकार विभिन्न औषध योगों के संग्रह के रूप में मौलिक या स्वतन्त्ररूपेण रचित अनेक गद्यमय रचनाएं भी प्राप्त होती हैं जो अधिकांशत: गुटका रूप में लिपिबद्ध हैं। ये रचनाएं सोलहवीं शताब्दी (१५९२ ई.) से लेकर उन्नीसवीं शताब्दी पूर्वार्द्ध (१८२१ ई.) तक रचित हैं। इससे पूर्व भी जैनाचार्यों द्वारा रचित आयुर्वेद के अनेक ग्रन्थों की सूचना विभिन्न साधनों- माध्यमों से प्राप्त होती है जिनका विवरण यथास्थान दिया गया है जिससे ज्ञात होता है कि जैन-मनीषियों द्वारा रचित आयुर्वेद के ग्रन्थों की संख्या प्रचुर है।

जैन मनीषियों ने आयुर्वेद के जिन ग्रन्थों की रचना की है उनका अवलोकन- अध्ययन करने से ज्ञात होता है कि उनमें अधिकांशत: जैन सिद्धान्तों का अनुकरण तथा धार्मिक नियमों का परिपालन किया गया है जो उनकी मौलिक विशेषता है। ग्रन्थ रचना में व्याकरण-सम्बन्धी नियमों का पालन करते हुए रस, छन्द, अलंकार आदि काव्यांगों का यथासम्भव प्रयोग किया गया है जिससे ग्रन्थकर्ता के वैदूष्य एवं बहुमुखी प्रतिभा का आभास सहज ही हो जाता है। ग्रन्थों में प्रौढ़ एवं प्राञ्जल भाषा का प्रयोग होने से ग्रन्थों की उत्कृष्टता निश्चय ही द्विगुणित हुई है। अत: यह एक सुस्पष्ट तथ्य है कि जिन मनीषियों- विद्वानों- आचार्य प्रवरों द्वारा उन ग्रन्थों की रचना की गयी है वे केवल एक शास्त्रज्ञ या स्वशास्त्र पारङ्गत ही नहीं थे, अपितु अध्यात्म और धर्मशास्त्र के साथ-साथ आयुर्वेद में भी कृताभासी विद्वान् एवं अनुभव से परिपूर्ण थे। अनेक ऐसे जैन मनीषि भी हुए हैं जिन्होंने स्वतन्त्र रूप से तो किसी वैद्यक ग्रन्थ का निर्माण नहीं किया; किन्तु अपने अन्य विषयों के ग्रन्थों में यथाप्रसंग आयुर्वेद-सम्बन्धी अन्यान्य विषयों एवं सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया है। जैसे आचार्य सोमदेवसूरि ने यशस्तिलकचम्पू में विस्तारपूर्वक प्रसंगोपात्तरूपेण आयुर्वेदीय स्वस्थवृत्त, स्वास्थ्य-रक्षा के सिद्धान्तों, नियमों का प्रतिपादन किया है।

इसी प्रकार पं० आशाधर जी ने भी स्वतन्त्र रूप से किसी वैद्यक ग्रन्थ का निर्माण तो नहीं किया; किन्तु आयुर्वेद के एक प्रमुख ग्रन्थ 'अष्टाङ्ग हृदय' पर विद्वत्तापूर्ण टीका लिखकर अपनी विद्वत्ता एवं आयुर्वेद-सम्बन्धी

अपने अगाध ज्ञान का परिचय दिया है। इसी प्रकार अनेक आचार्यों ने भी आयुर्वेद के विभिन्न ग्रन्थों पर ओजपूर्ण एवं विद्वत्तापूर्ण अपनी टीकाएं लिखकर आयुर्वेद के साहित्य की श्रीवृद्धि और आयुर्वेद के विकास में अपने अपूर्व योगदान को रेखांकित किया है। इस प्रकार आयुर्वेद के प्रति या आयुर्वेद के विकास में जैन मनीषियों के योगदान को तीन श्रेणी में रखा जा सकता है— १. एक उनके द्वारा स्वतन्त्र रूप से ग्रन्थ निर्माण के रूप में, २. दूसरा अन्य आचार्यों, मनीषियों द्वारा प्रणीत आयुर्वेद के ग्रन्थों की टीका के रूप में और ३. तीसरा विभिन्न विषयों के रचित ग्रन्थों में प्रसंगोपात्त रूप से आयुर्वेद विषयों- सिद्धान्तों का प्रतिपादन के रूप में।

अत: यह एक निर्विवाद तथ्य है कि आयुर्वेद वाङ्मय के प्रति जैनाचार्यों द्वारा की गयी सेवा उतनी ही महत्त्वपूर्ण है जितनी अन्य साहित्य के प्रति; किन्तु दु:ख इस बात का है कि जैन मनीषियों द्वारा जितने भी वैद्यक ग्रन्थों की रचना की गयी है उसका शतांश भी अभी तक प्रकाश में नहीं आया है। जैनाचार्यों द्वारा लिखित आयुर्वेद के ऐसे ग्रन्थों की संख्या अत्यल्प है जिनका प्रकाशन किया गया है। अब तक जिन ग्रन्थों का प्रकाशन हुआ है उनमें श्री उग्रादित्याचार्य द्वारा प्रणीत 'कल्याणकारक' के अतिरिक्त श्री पूज्यपाद स्वामी के नाम से औषध योगों का संकलन 'वैद्यसार' नामक लघु ग्रन्थ है, जिसका सम्पादन एवं अनुवाद पं. सत्यन्धर जैन द्वारा किया गया है। ऐसा लगता है कि यह ग्रन्थ वस्तुत: श्रीपूज्यपाद स्वामी द्वारा रचित या कथित नहीं है; किन्तु उनके नाम से प्रकाशित किया गया है।

उपर्युक्त ग्रन्थों के अतिरिक्त हर्षकीर्ति सूरि द्वारा विरचित 'योग चिन्तामणि', हस्तिरुचि द्वारा लिखित 'वैद्य बल्लभ', अनन्तदेव सूरिकृत 'रसचिन्तामणि', श्रीकण्ठ सूरिकृत 'हितोपदेश वैद्यक', कविवर हंसराज द्वारा रचित 'हंसराज निदान', कवि विश्राम द्वारा लिखित 'अनुपान मञ्जरी' आदि ग्रन्थों के प्रकाशित होने की सूचना भी प्राप्त हुई है। ये सभी ग्रन्थ संस्कृत-भाषा में निबद्ध है। पद्यमय हिन्दी-भाषा में भी कवि नैनसुख द्वारा रचित 'वैद्य मनोत्सव' और कविवर मेघमुनि द्वारा विरचित 'मेघ विनोद' के प्रकाशित होने की जानकारी प्राप्त हुई है। कन्नड़-भाषा में भी आयुर्वेद के एक ग्रन्थ 'खगेन्द्रमणि दर्पण' जो श्री मंगराज द्वारा रचित है, का प्रकाशन मद्रास विश्वविद्यालय द्वारा कन्नड़ सीरीज के अन्तर्गत प्रकाशित किया गया था। मुनि यशःकीर्ति द्वारा प्राकृत-अपभ्रंश में रचित 'जगत् सुन्दरी प्रयोगमाला' का प्रकाशन भी किया गया था।

इस प्रकार जैन मनीषियों द्वारा रचित आयुर्वेद के ग्रन्थों की संख्या प्रचुर है। आवश्यकता इस बात की है कि आयुर्वेद वाङ्मय की रचना और आयुर्वेद के विकास में उनके योगदान को चिरस्थायी बनाने के प्रति वर्तमान विद्वद् वर्ग अपनी शोधात्मक दृष्टि से उसका समुचित मूल्यांकन करे और विलुप्त या नष्ट हो रही अमूल्य निधि रूप उस विपुल ग्रन्थराशि को कालकवलित होने से बचा ले— यह भी जैन वाङ्मय के प्रति उनकी अमूल्य सेवा होगी।

●

जैन ज्योतिष-परम्परा का वैशिष्ट्य

– डॉ. जयकुमार एन्. उपाध्ये, नयी दिल्ली

जैन ज्योतिष विद्या

मनुष्य स्वभाव से चिन्तनशील एवं अन्वेषक प्राणी है। इस प्रवृत्ति के कारण वह ज्योतिष विद्या के साथ अपने जीवन का सम्बन्ध जोड़ने के लिए प्रयत्नशील है। वह वर्तमान के साथ अपने आगामी जीवन के विद्याओं को जानने की तीव्र इच्छा रखता है। मन-वचन-काय की विविध प्रवृत्तियों का विश्लेषण करने में ज्योतिषशास्त्र का योगदान महनीय है। मन की प्रवृत्ति के कारण मानव कहलाने वाला वह अपने मन के विश्लेषणों को जानकर अपने चित्त-यात्रा के समस्याओं के समाधान के लिए लालायित है। जीवन की समस्त अवस्थाओं का विश्लेषण फलित ज्योतिष के माध्यम से किया जाता है। इस शास्त्र के आधार से जीवन के अनेक रहस्यों का उद्‌घाटन समय से पूर्व सूचक निमित्त से प्राप्त किया जा सकता है।

जैन मान्यता में ग्रह कर्मफल के सूचक बतलाये गये हैं। अत: वे सूचक निमित्त मात्र हैं, कारक निमित्त नहीं हैं। जिस प्रकार ट्रेन का सिग्नल ट्रेन को लाने वाला नहीं होता है, ट्रेन आने की सूचना मात्र देता है। इसी प्रकार निश्चित राशि अंशों में रहने वाले ग्रह व्यक्तियों के कर्मोदय, कर्म का क्षयोपशम अथवा कर्मक्षय की सूचना दे देते हैं।

प्राकृत-भाषा के सुप्रसिद्ध चम्पूकाव्य कुवलयमाला में लिखा है कि "पुव्वकय कम्म व रइयं सुहं च दुक्खं च जायए देहे" अर्थात् पूर्वकृत कर्मों के उदय क्षयोपशम आदि के कारण शरीरधारियों को सुख-दुःख की प्राप्ति होती है। सुख-दुःख को देने वाला ईश्वर या अन्य कोई दिव्य शक्ति नहीं है। जीव के प्रदेश के परिस्पन्द में (हलन-चलन कम्पन) चुम्बक की तरह आकर्षण शक्ति मौजूद है। कर्मोंका यह आकर्षण आस्रव कहलाता है। आस्रव का अर्थ है कर्मों के आने का द्वार। जब मन-वचन-काय की क्रिया, क्रोध, मान, माया, लोभ आदि से आकर्षित हुई तो कार्माण वर्गणाएं जीव के साथ एक क्षेत्रावगाह रूप से ठहर जाती हैं। यही प्रक्रिया जीव के साथ कर्मों का बंध कहलाता है। जीव की कर्मबन्धन सहित अवस्था संसार अवस्था कहलाती है। जीव के साथ बंधने वाले कर्म दो प्रकार के होते हैं, घातियारूप और अघातियारूप। घातिया कर्म जीव के निज गुणों का घात करते हैं अर्थात् उन्हें प्रकट होने नहीं देते हैं और अघातिया कर्म जीवन के बाह्य साधन सामग्री के साथ सम्बन्ध रखते हैं। घातिया कर्म चार प्रकार के हैं— ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय और अन्तराय। इसी प्रकार अघातिया कर्म चार प्रकार के हैं— वेदनीय, आयु, नाम और गोत्र। जैन मान्यता में अट्ठासी ग्रह, अगणित नक्षत्र और अगणित तारिकायें बतलायी गयी हैं, पर इनमें प्रधानमात्र नवग्रह ही हैं और ये ज्ञानावरणादि कर्मों के सूचक हैं।

क्र.	कर्म	सूचकग्रह	प्रकाशवर्ण	प्रतीकरत्न
१.	ज्ञानावरणीय	बृहस्पति	सुवर्ण	पुखराज
२.	दर्शनावरणीय	बुध	हरा	पन्ना

३.	दर्शन मोहनीय	शनि	काला	नीलमणि
४.	चारित्र मोहनीय	राहु	पीला एवं लाल मिश्र	गोमेद
५.	अन्तराय	मंगल	लाल	मूँगा
६.	वेदनीय	शुक्र	चमकता सफेद	हीरा
७.	आयुकर्म	चन्द्रमा	सफेद	मोती
८.	नामकर्म	सूर्य	अरुणिम लाल	माणक
९.	गोत्रकर्म	केतु	काला	लहसुनिया

मनुष्य के विकास में सहायक इच्छाशक्ति, ज्ञानशक्ति और क्रियाशक्ति इन तीनों की सूचना विभिन्न किरणों द्वारा प्राप्त होती है। इस प्रकार जैन चिन्तकों ने ग्रहों के फलसूचक व्यवस्था को निमित्त के रूप में उपस्थित किया है। व्यक्ति अपने यत्नाचार एवं प्रबल पुरुषार्थ के द्वारा ग्रहों के शुभाशुभ सूचक निमित्त से प्राप्त फलित को उत्कर्ष, अपकर्ष और संक्रमण आदि के द्वारा संभल सकता है। जैन-परम्परा के अनुसार प्रथम कुलकर प्रतिश्रुति के समय में जब मनुष्य को सूर्य और चन्द्रमा दिखलायी दिये, तो वे इनसे सशंकित हुए और अपनी शंका दूर करने के लिए उनके पास चले गये। उन्होंने सूर्य, चन्द्रमा-सम्बन्धी ज्योतिष विषयक ज्ञान की शिक्षा दी। द्वितीय कुलकर ने नक्षत्र विषयक शंकाओं का निवारण कर अपने युग के व्यक्तियों को आकाश मण्डल की समस्त जानकारियाँ बतलायी।

जैन ज्योतिष में पञ्चवर्षात्मक युग एवं युगानुसार ग्रह नक्षत्र आदि की आनयनविधि प्रतिपादित है। इस प्रसंग का व्यापक और मौलिक विवेचन धवला ग्रन्थ, ठाणाङ्गसूत्र एवं प्रश्नव्याकरण अंग-आगम में ग्रह नक्षत्र आदि की आनयन विधि प्रतिपादित है। इसप्रकार जैन चिन्तकों ने नक्षत्रों का कुल, उपकुल और कुलोपकुल में विभाजन कर वर्णन किया है। चन्द्रमा के साथ स्पर्श करने वाले एवं उसका वेध करने वाले नक्षत्रों का भी कथन प्राप्त होता है। अतएव इस आलोक में यह कहा जा सकता है कि ग्रहगणित-सम्बन्धी अनेक विशेषतायें जैन ज्योतिष में समाहित है।

भारतीय विज्ञान की प्रत्येक शाखा की उन्नति में इतर धर्मावलम्बियों के साथ कन्धे से कन्धा मिलाकर चलने वालों में जैनाचार्यों का भी महत्त्वपूर्ण स्थान है। अनेक लोकोपयोगी विषयों के निर्माण और अनुसन्धान द्वारा भारतीय विज्ञान के विकास में जैनाचार्यों ने अपने लेखनी का कौशल दिखलाया है। उनकी अमर लेखनी से प्रसूत दिव्य रचनाएं अद्यतन जैनविज्ञान की यश:पताका को फहरा रही हैं।

ज्योतिषशास्त्र का आलोडन करने पर ज्ञात होता है कि जैनाचार्यों द्वारा निर्मित ज्योतिष-ग्रन्थों से भारतीय ज्योतिष में अनेक नवीन तथ्यों का समावेश हुआ है। इनके द्वारा रचित ग्रन्थों में एतद् विषयक सामग्री प्रचुर मात्रा में उपलब्ध है। जैनाचार्यों द्वारा निर्मित ज्योतिष-ग्रन्थों से भारतीय ज्योतिष में अनेक नवीन तथ्यों का समावेश तथा प्राचीन सिद्धान्तों में परिमार्जन हुआ है। सम्भवत: जैन ज्योतिष ग्रन्थों के सहायता के बिना भारतीय ज्योतिष के विकासक्रम को कठिन ही नहीं असम्भव प्रतीत होता है। अद्यतन भारतीय ज्योतिष की विवादास्पद अनेक समस्याएं जैन-ज्योतिष के सहयोग से सुलझायी जा सकती है।

प्रस्तुत आलेख द्वारा ज्योतिष के प्रमुख बिन्दुओं पर विचार करने का लक्ष्य बनाया है जिसका विवरण निम्नानसार है।

१. तीन लोक में प्रकाश व्यवस्था (ज्योति-व्यवस्था जैन ज्योतिष के परिप्रेक्ष्य में)

२. ग्रहरश्मि और कर्म-सिद्धान्त का औचित्य और सम्बन्ध

३. अप्रकाशित ग्रन्थों में 'ज्योतिष करण्डक' ई.पू. ३००, विवाह पटल, अग्घकाण्ड, योनिपाहुड, साणरुय छायादार, नाड़ीदार, निमित्तदार, प्रणष्टलाभादि सुमिणसत्तरिया, सुमिणवियार आदि प्रमुख ग्रन्थ ज्योतिष के मौलिक सिद्धान्तों से गर्भित हैं जिन पर शोध-कार्य होना आवश्यक है।

वर्तमान में ज्योतिष विषय पर शोध-कार्य विश्वविद्यालय स्तर पर मात्र कुछ ही विद्वानों ने कार्य किया है। इनमें से प्रमुख है—

१. डॉ. बिहारीलाल अग्रवाल ने 'गणित और ज्योतिष के विकास में जैनाचार्यों का योगदान' विषय पर कार्य किया है।

२. प्रो. एस.एस. लीस्क ने जैन एस्ट्रानामि पर पंजाब विश्वविद्यालय से कार्य किया है।

३. इस लेख के लेखक डॉ. जयकुमार एन् उपाध्ये ने मोहनलाल सुखाड़िया विश्वविद्यालय, उदयपुर से 'प्राकृत-साहित्य में वर्णित ज्योतिष का आलोचनात्मक परिशीलन' विषय पर कार्य किया है।

४. डॉ. मनोज श्रीमाली द्वारा 'जैन ज्योतिष विद्या एक परिशीलन' विषय पर जैन विश्वभारती लाडनूं से कार्य किया है।

वस्तुत: जैन वाङ्मय में देश के विभिन्न भाषाओं के माध्यम से जैन ज्योतिष विषय पर समय-समय पर लेखन-कार्य किया गया है, जिसका संकलन और सम्पादन का कार्य नगण्य है। डॉ. नेमिचन्द्र शास्त्रीजी ने इस क्षेत्र में अगाध कार्य किया है। उनके बाद इस विषय को किसी ने छूने का प्रयास भी किया नहीं है। वर्तमान में इस विषय पर व्यापक कार्य होना आवश्यक है। गृहस्थाचार और श्रमणाचार में ज्योतिष विषय का उपयोग प्रतिदिन प्रतिक्षण होता है। इस विद्या के सार्थक प्रयोग से लोकजीवन का विकास होकर मोक्षमार्ग प्रशस्त होगा तथा मानव जीवन के विकास के रास्ते पर गढ़ी हुई जटिल समस्याएं, इस विद्या के कुशल प्रयोग से समूल समाप्त हो जायेगी।

●

षड्द्रव्य और उनकी अर्थक्रिया

– डॉ. दामोदर शास्त्री, नई दिल्ली

जैन-दर्शन की मान्यता के अनुसार, इस लोक में जो कुछ भी 'सत्' पदार्थ है, उसे 'द्रव्य' के रूप में जाना जाता है।

षड्द्रव्य

द्रव्य के अतिरिक्त, संसार में किसी का अस्तित्व नहीं है। द्रव्य को पृथक्-पृथक् विशेष गुणों व उपयोगिता की दृष्टि से प्रमुखतया दो वर्गों में विभाजित किया जाता है— जीव और अजीव। इनमें जीव चेतन है और अजीव अचेतन। अजीव को भी पाँच वर्गों में विभाजित किया गया है— पुद्गल, धर्म, अधर्म, आकाश, काल। इस प्रकार द्रव्यों की कुल संख्या छः हो जाती है। प्रत्येक छहों द्रव्य एक दूसरे से अपना पार्थक्य बनाये रखते हैं। ऐसा कभी नहीं होता कि उनमें से एक किसी दूसरे में परिवर्तित हो या अपनी विशेषता को छोड़ दे। यही कारण है कि द्रव्यों की संख्या छः से न तो कभी कम होती है और न ही छः से अधिक। प्रत्येक द्रव्य सहभावी गुण और क्रमभावी पर्यायों से समन्वित होता है। उनमें प्रतिक्षण होने वाले उत्पाद-विनाश के मध्य भी उसका मौलिक अस्तित्व निरवच्छिन्न बना रहता है। सभी द्रव्यों में द्रव्यगत सामान्य विशेषता के साथ-साथ, उसकी (दूसरे से पृथक्) मौलिक विशेषता व सार्थकता भी नियत मानी गयी है। प्रत्येक द्रव्य कथञ्चित् परिणामी है, कथञ्चित् नित्य है, कथञ्चित अनित्य है, अर्थात् अनेकान्तात्मक स्वरूप को आत्मसात् किये हुए है।

अर्थक्रियाकारित्व

स्थूल रूप से अर्थक्रिया का अर्थ है — व्यावहारिक उपयोगिता की दृष्टि से पदार्थ का क्रियान्वित होना। भौतिक पदार्थों में इसे स्पष्टतया समझा जा सकता है। जैसे मिट्टी से घड़े का निर्माण करते हैं, घड़े से पानी लाने व भरने आदि का काम लेते हैं। रूई से धागों का निर्माण करते हैं और धागों को वस्त्र का स्वरूप देते हैं। वस्त्र को पहनने-ओढ़ने व शीत-निवारण आदि के काम में लेते हैं। सोने से विविध आभूषण बनाते हैं और उन्हें विभिन्न अंगों पर धारण करते हैं। इन सब क्रियाओं में, पदार्थ का क्रियान्वित होना स्पष्ट देखा जा सकता है। दार्शनिक क्षेत्र में सामान्यतः 'अर्थक्रिया' से तात्पर्य है — व्यावहारिक उपयोगिता के विषय बनने के क्रम में क्रियान्वित होना। इस दृष्टि से वस्तु का ज्ञान व अनुभूतियों का विषय बनना, प्रयोजनानुसार विविध परिणतियों से युक्तहोना आदि सभी स्थितियाँ 'अर्थक्रिया' में अन्तर्भूत हैं।

जैन आचार्यों ने अर्थक्रिया अर्थक्रियाकारित्व — इन दोनों के सम्बन्ध में सूक्ष्म व मौलिक चिन्तन करते हुए इन्हें व्याख्यायित किया है। जैन-दर्शन की मान्यता के अनुसार, अर्थक्रिया व अर्थक्रियाकारित्व को इस प्रकार परिभाषित किया जाता है —

अपने मौलिक अस्तित्व, सार्थकता व उपयोगिता को निरन्तर बनाये रखते हुए, देश-कालानुरूप सदृश या विसदृश, सूक्ष्म या स्थूल परिणतियों- रूपान्तरणों के माध्यम से क्रियान्वित होना ही पदार्थ की 'अर्थक्रिया' है, और उस क्रिया से सम्पन्न होते रहने की सहज योग्यता 'अर्थक्रियाकारित्व' है।

उक्त अर्थक्रिया सक्रिय-निष्क्रिय, मूर्त-अमूर्त आदि समस्त अस्तित्वयुक्त पदार्थों में अनादिनिधन रूप से, सूक्ष्मतम निरवच्छिन्न आन्तरिक परिणति- परम्पराओं के रूप से प्रवर्तमान रहती है। दूसरे शब्दों में यह 'अर्थक्रिया' अनेकान्तात्मक पदार्थमात्र के अस्तित्व या सत्ता का अविनाभूत अंग है। अस्तित्व-वस्तुत्व और अर्थक्रियाकारित्व— ये दोनों एक ही सिक्के के दो पहलू हैं। इतर दार्शनिकों ने जो सर्वथा नित्य, सर्वथा क्षणिक आदि पदार्थ-स्वरूप माने हैं, उनमें 'अर्थक्रिया' नहीं हो पाती, अतः वे 'असत्' सिद्ध होते हैं- इत्यादि गहन चिन्तन जैन दार्शनिकों की अपनी विशेषता व मौलिकता लिए हुए हैं।

जैन दार्शनिकों ने क्रिया, परिणाम (भाव) व वर्तना— इनमें कुछ अन्तर किया है; किन्तु अर्थक्रिया के प्रसंग में परिणाम आदि को भी 'क्रिया' के रूप में स्वीकार किया है।

प्रत्येक पदार्थ में निहित 'अगुरुलघु' गुण व उसके अविभागी गुणांशों में प्रतिसमय होने वाली षड्विध हानि-वृद्धि का निरूपण भी इस 'अर्थक्रिया' के प्रसंग में किया गया है जिसमें जैन दर्शन की मौलिकता स्पष्ट झलकती है।

●

जैनदर्शन में षड्द्रव्य और उनका अर्थक्रियाकारित्व

– डॉ. धर्मचन्द जैन, जोधपुर

जैनदर्शन का यह मन्तव्य है कि एकान्त नित्य एवं एकान्त क्षणिक पदार्थों में न क्रम से अर्थक्रिया सम्भव है और न ही युगपद्। भट्ट अकलङ्क कहते हैं—

अर्थक्रिया न युज्येत नित्य क्षणिकपक्षयोः।
क्रमाक्रमाभ्यां भावानां सा लक्षणतया मता।। (लघीयस्त्रय, ८)

जैन दर्शनानुसार उत्पाद-व्यय-ध्रौव्यात्मक किं वा नित्यानित्यात्मक पदार्थ में ही अर्थक्रिया सम्भव है। जैनदर्शन में षड्द्रव्य प्रतिपादित हैं— १. जीवास्तिकाय, २. पुद्गलास्तिकाय, ३. धर्मास्तिकाय, ४. अधर्मास्तिकाय, ५. आकाशास्तिकाय और ६. काल। ये छहों द्रव्य गुण एवं पर्यायों से युक्त होते हैं— गुणपर्यायवद् द्रव्यम्। (तत्त्वार्थसूत्र, ५.३७)। ये सभी द्रव्य उत्पादव्ययध्रौव्यात्मक, नित्यानित्यात्मक, सामान्यविशेषात्मक एवं भेदाभेदात्मक होते, इसलिए इनमें अर्थक्रिया घटित होती है। एकान्त नित्य पदार्थ में क्रम से अर्थक्रिया स्वीकार करने पर वह अनित्य सिद्ध होता है तथा युगपद् अर्थक्रिया मानने पर दूसरे ही क्षण उसका स्वभावभेद मानना होगा, जो पुनः उसे अनित्य सिद्ध करता है। क्षणिक पदार्थ के एक ही क्षण रहने के कारण उसमें क्रम नहीं बन सकता तथा युगपद् अर्थक्रिया मानने पर उसमें नानास्वभाव अङ्गीकार करना होगा, जिससे उसकी क्षणिकता दूषित होती है। इसलिए नित्यानित्यात्मक पदार्थ में ही अर्थक्रिया का होना युक्तिसंगत है।

धर्मास्तिकायादि षड्द्रव्यों का उपग्रह/कार्य ही उनकी अर्थक्रिया है। धर्मास्तिकाय जीवों के आगमन, गमन, भाषा, उन्मेष, मनोयोग, वचनयोग और काययोग की प्रवृत्ति में निमित्त बनता है। यह पुद्गल की गति में भी सहायक होता है। यही धर्मास्तिकाय की अर्थक्रिया है। यह अर्थक्रिया धर्मास्तिकाय में सदैव घटित होती रहती है। इसी प्रकार अधर्मास्तिकाय द्रव्य जीव एवं अजीव की स्थिरता में उदासीन निमित्त के रूप में अर्थक्रियावान् होता है। जीव एवं अजीव द्रव्यों को अवकाश देने का कार्य आकाशास्तिकाय का है। धर्मास्तिकायादि द्रव्यों के वर्तन में निमित्त बनना कालद्रव्य की अर्थक्रिया है। यह कालद्रव्य परिणाम, क्रिया, परत्व एवं अपरत्व में भी सहायक होता है। पुद्गलद्रव्य जीवों के शरीर, वाणी, मन, प्राण, सुख-दुःख, जीवन-मरण आदि में सहायक बनकर अर्थक्रियाकारी होता है। जीव एक-दूसरे का उपग्रह करने से अर्थक्रियावान् होते हैं। जीव में ज्ञान, दर्शन, वीर्य आदि गुण भी होते हैं, जो जीव के अर्थक्रियाकारित्व की व्याख्या करते हैं।

●

जैन तत्त्वमीमांसा का वैशिष्ट्य

''ज्ञान और आत्मा में भेदाभेद सम्बन्ध''

– सुश्री डॉ. राजकुमारी जैन, अजमेर

जैनदर्शन ज्ञानमय आत्मा का आराधक है। इस दर्शन के अनुसार ज्ञान और आत्मा दो भिन्न-भिन्न तत्त्व नहीं हैं अपितु कुन्दकुन्दाचार्य के शब्दों में ज्ञान ही आत्मा है और आत्मा ही ज्ञान है। उनके इस सिद्धान्त को पूरी दृढ़ता से प्रतिपादित करते हुए आचार्य अमृतचन्द्र कहते हैं, ''आत्मा ज्ञान है, वह स्वयं ज्ञान ही है तथा वह जानने के अतिरिक्त करता ही क्या है? आत्मा को ज्ञानमय तत्त्व स्वीकार करने का अर्थ यह नहीं है कि आत्मा शुष्क, नीरस, निष्क्रिय, बौद्धिक चेतनामात्र है। इसके विपरीत अपने मूल स्वरूप में आत्मा दर्शन, वीर्य और आनन्द से परिपूर्ण ज्ञानमय तत्त्व है। वस्तुत: ज्ञान, दर्शन, सुख, वीर्यादि, गुण आत्मा के ऐसे अनेक शाश्वत स्वभाव हैं जो परस्पर एक दूसरे की विशेषता होते हुए, एक दूसरे में विद्यमान होते हुए एक अस्तित्व से रचित हैं, एक सत्ता है। आचार्य देवसेन के शब्दों में ज्ञान, दर्शनादि अनेक गुण ही स्वद्रव्य, स्वक्षेत्र, स्वकाल और स्वभाव की अपेक्षा परस्पर एक दूसरे का स्वभाव होते हैं और इसलिए ये अनेक गुण ही आत्मा नामक एक द्रव्य है। आत्मा और उसके ज्ञानादि गुणों में इस तात्त्विक अभेद के होने पर भी इनमें नयात्मक बुद्धि से भेद स्थापित किया जाता है तथा आत्मा और उसके ज्ञान, दर्शनादि विभिन्न गुणों को पृथक्-पृथक् नाम और लक्षण दिये जाते है।

जैन-दर्शन के इस भेदाभेद सम्बन्ध के सिद्धान्त को समझने के लिए हम पहले ज्ञान का क्रमश: दर्शन, वीर्य और सुख से और उसके बाद आत्मा से भेदाभेद सम्बन्ध को समझने का प्रयास करेंगे।

दर्शन और ज्ञान का भेदाभेद सम्बन्ध

जैन-दर्शन के अनुसार समस्त ज्ञान साक्षात् या परम्परा से दर्शनपूर्वक होता है। दर्शन शब्द का अर्थ है देखना, अवलोकन, अवभास (महसूस करना)। किसी पदार्थ के साक्षात्कारपूर्वक होने वाली संवेदनात्मक अनुभूति को दर्शन कहा जाता है। यह दर्शन दृष्य पदार्थ और दृष्टा आत्मा की पृथक्-पृथक् अनुभूति न होकर एक अखण्ड दृश्यानुभूति स्वरूप होता है इसलिए इसे निराकार या निर्विकल्पक अनुभूति तथा अन्तर्चित प्रकाश कहा जाता है। जैसे — त्वचा से अग्नि का संयोग होने पर दृष्टा-चेतना आत्मा और दृश्य-उष्ण पदार्थ की पृथक्-पृथक् अनुभूति नहीं होती अपितु एक अखण्ड दृश्यानुभूति - उष्णानुभूति को महसूस किया जाता है। यह *महसूस करने की प्रक्रिया सामान्य विशेषात्मक पदार्थ के यथावस्थित स्वरूप का ऐसा ग्रहण है जो अपने आप* में वर्णनातीत है, नाम जाति आदि विकल्पों से रहित है तथा कर्ता कर्म के द्वैत से भी रहित है। इसके विपरीत ज्ञान पदार्थ की कर्ता कर्म भाव से युक्त साकार या सविकल्पक चेतना है। ज्ञान का आकार ''मैं उष्ण पदार्थ को जान रहा हूँ'' रूप निश्चयात्मक बुद्धि स्वरूप होता है। इसमें मैं-ज्ञाता, उष्ण पदार्थ- ज्ञेय और जान रहा हूँ ज्ञान तीनों अपने-अपने विशिष्ट स्वरूप में ज्ञात होते हैं। ज्ञान कर्ता और कर्म के द्वैत से युक्त होने के कारण बहिर्चित प्रकाश कहलाता है। ज्ञान और दर्शन में यह शाब्दिक और लाक्षणिक भेद होने पर भी ये पृथक्-पृथक् तत्त्व न

होकर एक अखण्ड ज्ञानदर्शनमय सत्ता है।

दूसरे शब्दों में ज्ञान की ज्ञानरूपता उसमें दर्शनरूपता का सद्भाव होने पर ही तथा दर्शन की दर्शनरूपता उसके ज्ञानमय होने पर ही सम्भव है तथा ज्ञान रहित दर्शन और दर्शन रहित ज्ञान की सत्ता कभी नहीं होती। जैसे— ''मैं उष्ण पदार्थ को जान रहा हूँ'' यह स्पर्शन मतिज्ञान त्वचा से उष्ण पदार्थ कबे अचक्षु दर्शन से सम्पन्न निश्चयात्मक अनुभूति है। त्वचा से उष्ण पदार्थ का दर्शन, संवेदन, अवभास या महसूस करते हुए ही व्यक्ति उस पदार्थ को शीतल स्पर्श, रंग, गन्ध आदि अन्य गुणों से विलक्षण उष्ण स्पर्श रूप विशिष्ट स्वरूप में पहचानता है तथा इस दर्शन के अभाव में यह समझ पाना पूर्णतया असम्भव है कि उष्णपना क्या होता है, किस विशिष्ट स्वरूप को उष्ण कहा जाता है। इसी प्रकार किसी पदार्थ के प्रति व्यक्ति को ''यह अग्नि है'' यह ज्ञान तभी हो सकता है जबकि उसे विभिन्न इन्द्रियों से पदार्थ के भसुर रूप, उष्ण स्पर्श आदि गुणों की संवेदनाएं प्राप्त हो तथा वह इन संवेदनाओं से युक्त होकर पदार्थ को पृथ्वी, जलादि से विलक्षण अग्नि रूप विशिष्ट स्वरूप में पहचान सके। इस प्रकार मतिज्ञान मात्र ज्ञान न होकर ज्ञानदर्शनमय अनुभूति है। उसमें अपने विाय के प्रति वस्तुस्थिति ऐसी ही है'' यह अनुभूति, प्रतीति या विश्वास दर्शन से परिपूर्ण होने पर ही होताहै तथा दर्शन से रहित बुध्याकार ज्ञान न होकर मानसिक कल्पनामात्र है।

ज्ञान और वीर्य में भेदाभेद सम्बन्ध

वीर्य शब्द का अर्थ है शक्ति। आत्मा का वीर्य गुण उसकी संकल्प शक्ति तथा कार्य सम्पादन की सामर्थ्य और प्रवृत्ति का परिचायक है। प्रत्येक आत्मा में स्वभावत: अनन्तवीर्यशक्ति विद्यमान है जो संसारी अवस्था में वीर्यान्तराय कर्म से आवृत्त होकर मन्द हो जाती है। इस अवस्था में जीव की वीर्य शक्ति जितनी मात्रा में प्रकट होती है वह उसी के अनुरूप विभिन्न शारीरिक, मानसिक, बौद्धिक, आध्यात्मिक आदि क्रियाओं का सम्पादन कर पाता है। जैसे— पृथ्वी कायिक आदि एकेन्द्रिय जीवों में वीर्य शक्ति बहुत कम मात्रा में प्रकट होती है इसलिए वे मात्र कर्मोदयजनित सुख-दुःख का ही भोग कर पाते है। इसके विपरीत द्विइन्द्रिय से लेकर संज्ञी पञ्चेन्द्रिय जीवों के इस गुण की उत्कृष्ट अभिव्यक्ति होने के कारण वह इष्ट प्राप्ति और अनिष्ट परिहार हेतु पुरुषार्थरत होने की क्षमता से सम्पन्न होते हैं। जिस जीव के वीर्यान्तराय कर्म का जितना प्रखर क्षयोपशम होता है वह उतना ही अधिक उर्जावान् होता है और उसमें खतरों का सामना करने, विपरीत परिस्थितियों में धैर्य बनाये रखने और उन्हें अपने अनुकूल बनाने हेतु संघर्ष करने की क्षमता उतनी ही अधिक होती है। जीव के समक्ष विभिन्न समस्याओं, इच्छाओं, आवश्यकताओं आदि का सद्भाव उसकी अपूर्णता का परिचायक है तथा इसलिए इच्छाओं की तृप्ति तथा समस्याओं के समाधान हेतु किया जाने वाला समस्त पुरुषार्थ आत्मा के वीर्य गुण की निम्नस्तरीय अभिव्यक्ति है। आत्मा के वीर्य गुण की सर्वोत्कृष्ट अभिव्यक्ति ज्ञान चेतना के रूप में होती है। इस स्तर पर विद्यमान आत्मा का आत्मबल सीमाहीन होता है। उसकी समस्त आवश्यकताएं समाप्त हो जाती है। विश्व के किसी भी पदार्थ, किसी भी घटना में उसके लिए समस्या बनने की सामर्थ्य शेष नहीं रहती तथा वह *विश्व के प्रत्येक पदार्थ को एक साथ विषय बनाता हुआ सर्वज्ञ, सर्वदर्शी होता है।*

वीर्य आत्मा की कर्तृत्व शक्ति का परिचायक है तथा इस शक्ति की अभिव्यक्ति कार्य सम्पादन के ज्ञानपूर्वक ही सम्भव होती है। जैसे खतरों का सामना करने की सामर्थ्य रूप वीर्यरूपता में यह संज्ञानात्मक तथा भावनात्मक

पक्ष अनिवार्यतया विद्यमान होता है कि यह परिस्थिति हमारे जीवन और सुख शान्ति के लिए खतरा होने के कारण अवांछनीय है और इसलिए इसका इस विधि से निराकरण आवश्यक है तथा मुझमें इसका सामना करके इसका निराकरण करने की क्षमता विद्यमान है। इस एक अखण्ड ज्ञानदर्शनवीर्यमय सत्ता में नयात्मक बुद्धि द्वारा विश्लेषणपूर्वक निश्चयात्मक, भावनात्मक और शक्त्यात्मक पक्ष में भेद स्थापित करके उन्हें क्रमशः ज्ञान, दर्शन और वीर्य रूप पृथक्-पृथक् नाम दिये जाते है, ज्ञान को स्वार्थ व्यवसायात्मक रूप से, दर्शन को स्वार्थ संवेदनात्मक रूप से और वीर्य को क्रियात्मिका शक्ति रूप से परिभाषित किया जाता है। ज्ञान, दर्शन और वीर्य में मात्र नाम और लक्षण की अपेक्षा ही भेद नहीं है अपितु इनके कारण भी भिन्न-भिन्न है। आत्मा में ज्ञान शक्ति का सद्भाव ज्ञानावरणीय कर्म के, दर्शन शक्ति का सद्भाव दर्शनावरणीय कर्म के तथावीर्य शक्ति के सद्भाव वीर्यान्तराय कर्म के क्षय अथवा क्षयोपशमपूर्वक होता है। ज्ञान, दर्शन औरवीर्य में इन भेदों के कारण ये आत्मा के तीन अलग गुण हैं तथा ज्ञान के विशिष्ट स्वरूप से वीर्य का तथा वीर्य के विशिष्ट स्वरूप से उसके ज्ञान गुण का विशिष्ट स्वरूप निर्धारित नहीं होता। जैसे एक बुद्धिमान और विद्वान् व्यक्ति आलसी और कायर भी हो सकता है तथा कर्मठ और साहसी भी हो सकता है। वह विभिन्न क्रियाओं के सम्पादन के संज्ञानात्मक पक्ष को भली प्रकार जानते हुए भी कार्य सम्पादन के प्रति उदासीन भी हो सकता है और उत्साही भी हो सकता है। दोनों ही स्थितियों में वीर्य ज्ञान की ही विशेषता होता हुआ विद्यमान होता है। जब व्यक्ति किसी कार्य के सम्पादन की प्रक्रिया को जानने के साथ ही स्वयं की उस कार्य को सम्पन्न करने की शक्ति का भी अनुभव करता है तो उसका ज्ञान वीर्यमय ज्ञान है तथा जब वह अपने अन्दर इस शक्ति के अभाव को महसूस करता है तो उसका ज्ञान वीर्यहीन ज्ञान है। जिस प्रकार वीर्य का विशेष स्तर आत्मा के ज्ञान गुण की विशेषता होता हुआ विद्यमान होता है उसी प्रकार उसके ज्ञान का विशिष्ट स्वरूप उसकी क्रियात्मिका शक्ति की विशेषता होता हुआ ही विद्यमान होता है। जैसे एक मन्द बुद्धि और बुद्धिमान दोनों ही व्यक्ति समान रूप से कर्मठ और संघर्षशील हो सकते हैं, उनमें समस्याओं का समाधान करने का हौसला समान रूप से विद्यमान हो सकता है, लेकिन उनके इस विषयक ज्ञान का वैशिष्ट्य उनकी कार्यशैली के वैशिष्ट्य को निर्धारित करता है। हम क्या कर रहे हैं, उसके क्या परिणाम होंगे तथा हम अपने अभीष्ट लक्ष्यों को किस प्रकार प्राप्त करें, प्रयत्न में विद्यमान यह संज्ञानात्मकता यदि मिथ्या तथा निम्नस्तरीय होती है तो इसके अनुरूप कार्य करके व्यक्ति समस्याओं को समाप्त करने के स्थान पर और उलझा देता है तथा यदि यह यथार्थ और उत्कृष्ट होती है तो वह परिस्थितियों पर नियन्त्रण स्थापित करने तथा इष्ट प्राप्ति और अनिष्ट परिहार करने में सक्षम होता है।

बाह्य जगत् में विभिन्न कार्यों के सम्पादन के स्तर पर ही ज्ञान और वीर्य परस्पर विशेषण-विशेष्य भाव से युक्त नहीं होते अपितु ज्ञानार्जन की प्रक्रिया का सद्भाव भी इन गुणों की परस्पर अन्तर्व्याप्ति रूप एक अस्तित्वरूपता के कारण सम्भव हो पाता है। आत्मा एक उपयोगात्मक तत्त्व है। सदैव किसी न किसी पदार्थ को विषय बनाकर उसे जानने देखने के लिए उद्यम करना और जानने देखने की क्रिया करना उसका शाश्वत स्वभाव है। वह जब जिस पदार्थ पर, पदार्थ के जिस पक्ष पर ध्यान केन्द्रित करके उसे जानने देखने हेतु पुरुषार्थ करता है तब अपनी ज्ञान शक्ति के विकास की मात्रा के अनुसार उसे जानता है। इस प्रकार आत्मा के उपयोगात्मक स्वरूप में दो विशेषताएं गर्भित हैं — जानने देखने हेतु उद्यम रूप वीर्यरूपता तथा जानने देखने की क्रिया रूप ज्ञानदर्शनरूपता। आत्मा को जानने देखने हेतु पुरुषार्थ एक ज्ञान रहित क्रिया न होकर ज्ञानमय क्रिया है। वीर्यवान्

आत्मा अपनी तत्त्वमीमांसीय और मूल्यमीमांसीय दृष्टि और समझ के स्तर के अनुसार अपने ज्ञानार्जन हेतु पुरुषार्थ का विशिष्ट स्वरूप स्वयं निर्धारित करता है। यदि वह देहात्मवादी तथा स्वार्थवादी सुखवादी है तथा उसके लिए भौतिक सुखों की प्राप्ति ही परम मूल्य है तो वह अपनी ज्ञानदर्शनवीर्य शक्ति का उपयोग भोग्य पदार्थों को प्राप्त करने और भोगने हेतु करता है तथा शेष पदार्थों को, उसके कार्यों से अन्य व्यक्तियों पर पड़ने वाले प्रभावों आदि को जानने के प्रति उसमें उदासीनता का भाव होता हैं यदि व्यक्ति सर्वार्थवादी है तो वह व्यापक हित को दृष्टि में रखते हुए ज्ञानार्जन की प्रक्रिया में प्रवृत्त होता है तथा विषय बन रहे पदार्थ को व्यापक परिप्रेक्ष्य में देखता है। एक देहात्मवादी के समस्त लक्ष्य बाहरी जगत् की उपलब्धियों तक ही सीमित होते है लेकिन एक अध्यात्मवादी के लिए अपने ज्ञान-दर्शन-सुख-वीर्यगुणों की उत्कृष्टतम पर्यायों की प्राप्ति ही परम मूल्य है। उसने गुरुमुख से आत्मा का शरीर से भिन्न, पूर्णरूपेण स्वाधीन, अनन्तज्ञानादि गुणों का जो ज्ञान प्राप्त किया है उस ज्ञान को अपना आचरण बनाने के लिए वह सतत् पुरुषार्थरत होता हैं। इस लक्ष्य की प्राप्ति को ही व्यापकतम सन्दर्भ में जानने देखने हेतु पुरुषार्थ करता है ..... । इसप्रकार आत्मा के ज्ञानदर्शन गुण वीर्यरूपता से सम्पन्न होकर ही तथा वीर्यगुण ज्ञानदर्शन रूपता से सम्पन्न होकर ही विद्यमान होते है तथा ज्ञान रहित वीर्य और वीर्य रहित ज्ञान की सत्ता कभी नहीं होती।

ज्ञान और सुख में भेदाभेद सम्बन्ध

ज्ञानमय आत्मा एक शुष्क, नीरस बौद्धिक तत्त्व मात्र नहीं है बल्कि वह आनन्दमय चेतना भी हैं। आत्मा अपने ज्ञान, दर्शन और वीर्य गुणों से क्रमशः ज्ञाता, दृष्टा और कर्ता होने के साथ ही साथ सुख गुण स्वरूप होने के कारण भोक्ता भी है। सदैव किसी न किसी विषय में रस लेना, उसे भोगते हुए सुखानुभूति स्वरूप होना आत्मा का शाश्वत स्वभाव है। ज्ञान का दर्शन और वीर्य के समान ही सुख से भी भेदाभेद सम्बन्ध है ज्ञान और सुख आत्मा के दो भिन्न-भिन्न गुण है, क्योंकि इनके नाम, लक्षणादि भिन्न-भिन्न हैं। ज्ञान विषय प्रकाशक होता है जबकि सुख आल्हादात्मक अनुभूति है। ज्ञानोत्पत्ति का कारण ज्ञानावरणीय और वीर्यान्तराय कर्म का क्षयोपशम या क्षय है जबकि संसारी अवस्था में सुख की अनुभूति सातावेदनीय कर्म के उदय से तथा मुक्तावस्था में ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय और अन्तराय कर्म के क्षयपूर्वक होती है। ज्ञान और सुख में यह भेद होने पर भी ये आत्मा के ऐसे दो स्वभाव हैं जो परस्पर अपृथक् हैं। सुख 'मैं सुखी हूँ' रूप से ज्ञानस्वरूप होता होकर ही विद्यमान होता है तथा अज्ञात सुख की सत्ता नहीं होती। साथ ही ज्ञान की सुखरूपता को प्राप्त करता हैं।

संसारी जीव मोह, राग, द्वेष के वशीभूत होकर पञ्चेन्द्रियों के विषयों में आसक्त होता है तथा उन्हें जानने, प्राप्त करने और भोगने हेतु अपनी ज्ञानशक्ति का उपयोग करता है। इन्द्रिय सुख के स्तर पर व्यक्ति तात्त्विक रूप से बाह्य पदार्थों को न भोगकर अपनी विषयानुभूति को भोगता है। जो व्यक्ति मधुर संगीत के श्रवण को उपादेय और काँटे के स्पर्श को हेय समझता है वह इस हेय उपादेय बुद्धि के कारण मधुर संगीत के श्रोतृज प्रत्यक्ष में रस लेते हुए, उसे भोगते हुए सुखानुभूति स्वरूप होता है, जबकि काँटे की स्पर्शानुभूति उसे कष्टकारक प्रतीत होती हैं इस प्रकार हेय उपादेय बुद्धि से युक्त इन्द्रिय ज्ञान ही दुःखात्मक या सुखात्मक होता है तथा ज्ञान से स्वतन्त्र सुख की उपलब्धि नहीं होती। अमृतचन्द्राचार्य भौतिक सुख की ज्ञानात्मकता और हेयरूपता को प्रतिपादित करते हुए कहते हैं — सशरीरी अवस्था में भी शरीर सुख का साधन न होकर आत्मा का

ज्ञानदर्शनवीर्यात्मक स्वभाव ही निश्चय से सुख का कारण है। इस अवस्था में जीव मिथ्यात्व के प्रबल उदय के वशीभूत होने पर नशे में धुत्त व्यक्ति के समान असमीचीन प्रवृत्ति करता है। वह 'यह विषय मुझे इष्ट है' इस आसक्त भाव से युक्त होकर इन्द्रियों के विषयों की ओर दौड़ने रूप अपने ज्ञानदर्शन वीर्यमय स्वभाव में परिणमन करता हुआ स्वयमेव सुखत्व को प्राप्त करता है। आत्मा की यह भौतिक सुख में आसक्ति तथा लीनता उसके ज्ञानदर्शनवीर्यगुणों की निम्नतम पर्याय है।

एक सम्यग्दृष्टि व्यक्ति बाह्य पदार्थों प्रति हेय उपादेय बुद्धि से युक्त होकर प्रवृत्त नहीं होता, बल्कि उसके लिए अपने चैतन्य स्वरूप में अवस्थिति और चेतना का पूर्ण विकास ही उपादेय है। बाह्य पदार्थ उसके लिए न त्याज्य होते हैं, न ग्राह्य होते हैं। इसके विपरीत वे विशुद्ध रूप से उसके ज्ञान का विषय होते हैं। वह मात्र उनके तथ्यात्मक स्वरूप को जानता है, लेकिन वह उनको भोगते हुए सुखी या दुःखी नहीं होता। सम्यग्दृष्टि व्यक्ति अपनी चेतना के विषयात्मक पक्ष में रस नहीं लेता बल्कि वह अपनी चेतना के ज्ञानदर्शन सुखवीर्यमय विषयीरूपता को भोगता हुआ आनन्दमय सत्ता है।

सुख आत्मा का स्वभाव है। यह आत्मा में कहीं बाहर से नहीं आता बल्कि आत्मा का सद्भाव मात्र ही आनन्दमय है। आत्मा का यह सुख गुण उसमें अन्य गुणों से निरपेक्ष रूप से अवस्थित नहीं है बल्कि यह आत्मा के ज्ञानदर्शनवीर्यात्मक स्वरूप की विशेषता है। भौतिक सुख की अनुभूति आत्मा के इस स्वरूप की बहुत निम्नस्तरीय अभिव्यक्ति है। जैसे-जैसे आत्मा अपने ज्ञानादि स्वरूपमय चेतना की उत्कृष्टतर अवस्थाओं को प्राप्त करता जाता है, उसके सुख में वृद्धि होती जाती है तथा इन गुणों के पूर्ण विकास से वह अनन्त आनन्दरूपता प्राप्त करता है। अमृतचन्द्रस्वामी कहते है, "दर्शन और ज्ञान को वीर्य तीक्ष्ण करता है, दर्शन और ज्ञान की तीक्ष्णता से निराकुलता उत्पन्न होती है। यह निराकुलता ही सुखस्वरूप है तथा हे देव! आप इस सुख में गहन रूप से निमग्न हैं। इसप्रकार ज्ञान का दर्शन और वीर्य के समान ही सुख से भी तादात्म्य सम्बन्ध है। ज्ञान ही सुख स्वरूप होता है तथा सुख ज्ञानमय होकर ही विद्यमान होता है। इन दोनों गुणों में यह विशेषण विशेष्य भाव विद्यमान होने के साथ ही इनमें नाम, लक्षण, प्रयोजन की अपेक्षा भेद भी है।

ज्ञान और आत्मा में भेदाभेद सम्बन्ध

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि आत्मा का ज्ञान गुण दर्शन, वीर्य और सुखात्मक स्वभाव से परिपूर्ण है। ज्ञान में आत्मा के दर्शन, वीर्यादि विशेष गुण ही विद्यमान नहीं है बल्कि आत्मा के अस्तित्व, वस्तुत्व, द्रव्यत्व, प्रमेयत्व, अगुरुलघुत्व और प्रदेशत्व जैसे समस्त सामान्य गुण भी ज्ञान का स्वभाव हैं। ये सभी गुण ज्ञान में विद्यमान होकर उसे संवेदनात्मकता, प्रवृत्यात्मकता, सत्स्वरूपता आदि स्वभाव प्रदान करते है तथा विषय प्रकाशक रूप विशिष्ट स्वरूप में ज्ञान के सद्भाव को सम्भव बनाते हैं। साथ ही ज्ञान भी आत्मा के दर्शन, वीर्यादि समस्त गुणों में रहते हुए, उन सभी को ज्ञानरूपता प्रदान करते हुए उनके संवेदनात्मकता, क्रियाशीलता आदि रूप विशिष्ट स्वरूप को सम्भव बना रहा है तथा इन गुणों में ज्ञानरूपता का अभाव होने पर इनका सद्भाव भी असम्भव हैं। जैसे — वीर्य स्वयं के प्रति 'मैं इस कार्य का सम्पादन कर रहा हूँ' रूप निश्चयात्मक बुद्धि स्वरूप होता हुआ ही अपने क्रियात्मक अनुभूति रूप विशिष्ट स्वरूप में अवस्थित होता है। इस प्रकार आत्मा सम्पूर्णतः एक-अनेकात्मक, भेद-अभेदात्मक तत्त्व है। आत्मा का स्वरूप उसके ज्ञान, दर्शनादि समस्त गुण हैं और उसके

प्रत्येक गुण का स्वरूप सम्पूर्ण आत्मा अर्थात् आत्मा के समस्त गुण हैं, इसलिए तात्त्विक रूप से आत्मा और उसके ज्ञानादि गुणों में कोई अन्तर नहीं है। इस अपेक्षा से जो सत्ता आत्मा है, वही ज्ञान भी है, वही दर्शन भी है .....। एक चेतन सत्ता के विभिन्न स्वभावों में तात्त्विक रूप से अभेद होने पर भी उनमें नयात्मक बुद्धि द्वारा भेद स्थापित किया जाता है तथा एक स्वभाव को प्रधान और अन्य को गौण करते हुए उस स्वभाव का एक विशेष नाम और लक्षण दिया जाता हैं। इन अनेक स्वभावों के नाम लक्षणादि की अपेक्षा भेदात्मक पक्ष को गुण तथा इनके तात्त्विक रूप से अभेदात्मक पक्ष को गुणी कहा जाता है। आत्मा-गुणी और ज्ञान-गुण में शाब्दिक और लाक्षणिक रूप से भेद किया जाना सम्भव होने पर भी तात्त्विक रूप से ये पृथक्-पृथक् सत्ता न होकर एक अभिन्न सत्ता है।

जैन-दर्शन ज्ञानमय आत्मा का आराधक है। इस दर्शन के अनुसार आत्मा अनन्त दर्शन, अनन्त वीर्य और अनन्त सुख से परिपूर्ण तथा सर्वज्ञत्व शक्ति से युक्त ज्ञानमय तत्त्व है। अपने इस स्वरूपके कारण आत्मा मुक्तावस्था में सर्वज्ञ होता है। संसारी अवस्था में उसका यह ज्ञानमय स्वरूप मोह, राग, द्वेषादि विकारों से युक्त होकर अल्प ज्ञान रूप में परिणमित हो रहा है। जैन साधना पद्धति इन दोषों को समाप्त कर अपने पूर्ण विकसित और सर्वगुण सम्पन्न ज्ञानमय स्वरूप की प्राप्ति का उपाय बताती है तथा यह दावा करती है कि आत्मा इस साधना पद्धति को अंगीकार कर अपने अनन्त दर्शन, अनन्त वीर्य और अनन्त सुख से सम्पन्न अनन्त ज्ञानमय शुद्ध स्वरूप को प्राप्त कर सकता है।

●

जैनधर्म के मूलतत्त्व और व्यावहारिक वेदान्त

– स्वामी ब्रह्मेशानन्दजी, चण्डीगढ़

वेदान्त प्राचीन होते हुए भी व्यावहारिक जीवन में स्वामी विवेकानन्द प्रतिपादित वेदान्त का सिद्धान्त नवीनतम है। वस्तुत: यह कहना ही उचित होगा कि स्वामी विवेकानन्द ने पुरातन व्यावहारिक वेदान्त की आधुनिक युग के अनुरूप एक नयी व्याख्या भर की है। उपर्युक्त विश्लेषण से यह भी स्पष्ट हो जायेगा कि जैनधर्म का परम्परागत हिन्दू धर्म से व्यावहारिक एवं सैद्धान्तिक मतभेद होते हुए भी व्यावहारिक वेदान्त के साथ उसकी समानताएं अधिक और मतभेद कम हैं। स्वामी विवेकानन्द की वेदान्त-सम्बन्धी परिभाषा अत्यन्त व्यापक है। उनके अनुसार धर्म का अर्थ वेदान्त ही है और वेदान्त के इस व्यापक दायरे में सभी धर्मों का समावेश हो जाता है। इस व्यापक परिभाषा को स्वीकार न करने पर भी, जैसाकि हम कह चुके हैं, जैनधर्म और वेदान्त में काफी समानताएँ हैं। यही नहीं, दोनों की पद्धतियाँ एक-दूसरे की परिपूरक हो सकती हैं जैसाकि होना ही चाहिए। वेदान्त जैनधर्म से कुछ सीख सकता है और जैनधर्म भी वेदान्त से, अपनी मौलिकता बनाये रखते हुए, लाभ उठा सकता है।

उदाहरण के लिए व्यावहारिक वेदान्त के 'शिव ज्ञान से जीव सेवा' के सिद्धान्त को जैनधर्म आसानी से आत्मसात कर सकता है, क्योंकि आत्मा के चैतन्य, नित्य-शुद्ध-बुद्ध स्वरूप में तो वह विश्वास करता ही है। दूसरी ओर आधुनिक व्यावहारिक वेदान्तवादी जैनधर्म में तप पर दिये गये महत्त्व से लाभ उठा सकते हैं। क्षमापना एवं नवकार मन्त्र का भी अधिक व्यापक उपयोग जैनेतर वेदान्ती भी कर सकते हैं। संवत्सरी के दिन सभी जैन संसार के समस्त प्राणियों से क्षमायाचना करते हैं तथा स्वयं भी सभी को यह कहकर क्षमा करते हैं :

खम्मामि सव्व जीवेसु, सव्वेजीवा खमन्तु मे।
मित्ति मे सव्व भूदेसु, वेरं मज्झं ण केणवि।।

"अर्थात् मैं सब जीवों को क्षमा करता हूँ। सब जीव मुझे क्षमा करें। मेरी सभी से मैत्री है, किसी से भी बैर नहीं है।" जैन धर्म का णमोकार मन्त्र भी एक अति पवित्र, सुन्दर एवं उदार मन्त्र है, जिसमें संसार के समस्त एवं सिद्ध महामनाओं को प्रणाम किया गया है। वेदान्तियों को ऐसे शुभ मन्त्र को स्वीकार करने में क्या आपत्ति हो सकती है?

सच्चा धर्म मतभेद नहीं सिखाता। वह प्राणियों को एक दूसरे के निकट लाता है। वेदान्त और जैनधर्म दोनों का ही उद्देश्य यही है। यही कारण है कि भारत में जैनधर्म और आधुनिक नव वेदान्तवादियों के बीच सदा-सर्वदा मैत्री एवं सद्भाव बना रहा है और निरन्तर बढ़ता जा रहा है। इन्हीं सब बिन्दुओं पर इस आलेख में विस्तार में विचार किया गया है।

●

जैन समुदाय भारत और विदेशों में : एक जनसंख्यात्मक अध्ययन

– डॉ. प्रकाशचन्द्र जैन, नई दिल्ली

प्रस्तुत लेख में भारत और विदेशों में रह रहे जैन समुदाय से सम्बन्धित कतिपय पक्षों का एक समाज शास्त्रीय अध्ययन प्रस्तुत किया गया है। इन पक्षों में प्रमुख है जनसंख्यात्मक परिवर्तन, आर्थिक स्थिति, जैनों की अल्पसंख्यक समुदाय होने की मांग और जैन समुदाय के बारे में नृतत्वशास्त्रीय/समाजशास्त्रीयअध्ययनों का लगभग अभाव। इन पक्षों के अतिरिक्त विदेशों में बसे जैनों का एक जनसंख्यात्मक विवरण भी लेख में प्रस्तुत किया गया है।

जैनधर्म भारत के प्राचीनतम धर्मों में से एक है। यह श्रमण-परम्परा का वाहक है जो वैदिक-परम्परा से न केवल भिन्न है अपितु प्राचीनतर भी मानी जाती है। एक सामाजिक आन्दोलन के रूप में जैनधर्म ने जन्म-आधारित जाति-व्यवस्था, जाति-व्यवस्था में ब्राह्मण वर्चस्व, पशुयज्ञ, दासता, महिलाओं की द्वितीय दर्जे की स्थिति और राजनीतिक एकसत्तावाद जैसी अनेक प्रथाओं का विरोध किया था। आश्चर्य नहीं कि जैनधर्म का भारतीय संस्कृति पर गहरा प्रभाव पड़ा है।

वर्तमान में जैन समुदाय एक अल्पसंख्यक समुदाय है। सन् २००१ की जनगणना में जैनों की कुल जनसंख्या करीब ४२ लाख आंकी गयी थी। जैन मुख्यत: भारत के पश्चिमी भागों में केन्द्रित हैं— विशेष रूप से महाराष्ट्र, गुजरात, राजस्थान, मध्यप्रदेश, कर्नाटक, दिल्ली और पश्चिमी उत्तर प्रदेश में। एक अनुमान के अनुसार जैनों में ८० प्रतिशत श्वेताम्बर और २० प्रतिशत दिगम्बर हैं। लगभग ७५ प्रतिशत जैन शहरों में रहते हैं। पुरुषों की तुलना में महिलाओं का अनुपात १००० : ९४० है जो कि एक चिन्ता का विषय है। यौन अनुपात की विषमता विवाह-सम्बन्धी अनेक समस्याओं को जन्म दे रही है। जैनों में साक्षरता का प्रतिशत ९५ है।

जैनों के सामने एक और चिन्ता का विषय है उनकी घटती हुई जन्मदर जो १९९१ की जनगणना में मात्र ४.४२ प्रतिशत आंकी गयी थी। २००१ की जनगणना के अनुसार जैनों में बच्चों की जनसंख्या का भाग (०-६ वर्ष की आयु समूह में) मात्र १०.६ प्रतिशत था जो कि अन्य समुदायों की तुलना में न केवल बहुत कम है बल्कि जैनों में कम जन्मदर का भी परिचायक है। हालांकि २००१ के आंकड़ों के अनुसार जैनों की कुल जनसंख्या में १९९१-२००१ के दशक में २६ प्रतिशत की दर से वृद्धि हुई है, विशेषज्ञों की राय में यह वृद्धि जन्मदर में बढ़ोत्तरी के कारण न होकर जनगणना के समय जैनों के अपनों को हिन्दू न लिखवाने के कारण हुई है अर्थात् इस बार की जनगणना में अधिकांश जैनों ने अपने को हिन्दू न कहकर जैन के रूप में संगणना में शामिल करवाया है। घटती हुई जन्मदर का मुख्यकारण यह है कि जैन समुदाय एक समृद्ध मध्यवर्गीय समुदाय बन चुका है। अत: लोग स्वत: ही कम बच्चे पैदा करते हैं। जनसंख्याविदों के मत से अगले कुछ दशकों में जैन

समुदाय पहले "जनसंख्या ठहराव" के दौर से गुजरेगा और बाद में "जनसंख्या ह्रास" के दौर से।

भारत में जैनों की जनसंख्या जहाँ एक ओर धीमी गति से बढ़ रही है वहीं उत्प्रवास के कारण विदेशों में उनकी संख्या काफी बढ़ रही है। आज अनुमानत: लगभग २ लाख जैन विदेशों में प्रवास कर रहे हैं। यों तो अल्पसंख्या में जैन व्यापारी प्राचीनकाल से ही विदेशों में जाते और वहाँ बसते रहे हैं, मगर १९वीं शताब्दी के अन्त से इस प्रक्रिया में काफी बढ़त हुई है। बीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में एक बड़ी संख्या में जैनों का उत्प्रवास हुआ। इस उत्प्रवास के दौरान एक ओर जैन जहाँ पूर्वी अफ्रीकी देशों जैसे— केन्या, उगाण्डा, तंजानिया, सूडान, इथियोपिया, जांमविया आदि में गये हैं, वहीं दूसरी ओर वे अमरीका, केनेडा, ब्रिटेन, वैलजियम, आस्ट्रेलिया, न्यूजीलैण्ड आदि देशों में भी बस गये हैं। पिछले तीन दशकों से ईरान की खाड़ी के देशों में भी आ-जा रहे हैं। केन्या, इंग्लैण्ड, अमरीका और केनेडा में तो जैन मन्दिरों का निर्माण भी हो चुका है। प्राय: सभी देशों में दर्जनों की संख्या में जैन सामाजिक-सांस्कृतिक संगठन हैं जो जैनधर्म के सिद्धान्तों और विशेष रूप से शाकाहार के प्रचार-प्रसार में कार्यरत है।

हालांकि जैनधर्म और जैन-दर्शन-सम्बन्धी विविध विषयों पर अनेक प्रकार के अध्ययन हुए हैं और हो रहे हैं। समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण से जैन समुदाय के विभिन्न पक्षों पर बहुत ही कम अध्ययन हुए हैं। यहाँ यह बताना अप्रासंगिक नहीं होगा कि प्रथम समाजशास्त्रीय अध्ययन का श्रेय जर्मन समाजशास्त्री मैक्स वेबर को जाता है जिन्होंने रिलीजन ऑफ इण्डिया नामक अपनी पुस्तक के एक आधे अध्याय में जैनधर्म और समुदाय की सारगर्भित व्याख्या की है। यह पुस्तक १९५० के दशक में अंग्रेजी में अनुवादित हुई थी। इन्हीं दिनों एक भारतीय समाजशास्त्री प्रोफेसर विलास आदिनाथ संगवे की महत्त्वपूर्ण पुस्तक "जैन समुदाय : एक सामाजिक सर्वेक्षण" प्रकाश में आयी। १९७१ में बलवन्त नेवासकर ने जैनों और क्वेकरों का एक तुलनात्मक अध्ययन किया। एक लम्बे अन्तराल के पश्चात् १९८८-८९ से ऑक्सफोर्ड, कैम्ब्रिज और हारवर्ड विश्वविद्यालयों से सम्बद्ध अनेक विद्वान् जैन समुदाय और धर्म का नृतत्वशास्त्रीय अध्ययन कर रहे हैं जिनमें पॉल डुंडास, फोकर्ट, जॉन कोर्ट, कैरोलाइनहम्फ्री, जेम्स लेडलॉ, माइकेल कैरिथर, मार्कुस बैंक्स, प्रो० पद्मनाभ जैनी आदि उल्लेखनीय हैं। सम्भवत: इन्हीं की प्रेरणास्वरूप कुछ भारतीय समाजशास्त्री जैसे नरेन्द्र सिंघी, मुकुन्द लाठ, रवीन्द्र जैन, रानू जैन और इन पंक्तियों का लेखक (प्रो० प्रकाशचन्द जैन) भी इस दिशा में प्रयत्नशील हैं। फिर भी यहाँ यह कहना अतिशयोक्ति नहीं होगी कि जैन समुदाय भारत का समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण से सबसे कम अनुसन्धानित समुदाय है। कहना नहीं होगा कि जैन समुदाय के विभिन्न पक्षों के समाजशास्त्रीय अध्ययनों की महती आवश्यकता है तभी हमें जैन समुदाय में होने वाले महत्त्वपूर्ण परिवर्तनों की जानकारी होगी।

●

जैन पत्रकारिता : दशा और दिशा

– अखिल बंसल, जयपुर

जैन समाज की समस्त गतिविधियों का लेखा-जोखा व्यवस्थित ढंग से समाज तक पहुँचाना जैनत्व की संस्कृति का संरक्षण व उसके संवर्द्धन में योगदान देना जैन पत्रकारिता के दायरे में आता है। जिस प्रकार वक्ता अपने भाषण से, पण्डित अपने प्रवचन से, लेखक अपने लेखन से, कवि अपनी कविता से जनमानस को प्रभावित करने में सक्षम होते हैं उसी प्रकार पत्रकार या सम्पादक अपनी पत्र-पत्रिका के माध्यम से वैचारिक क्रान्ति करने में सक्षम होता है। पत्रकार सामाजिक जीवन में प्राणवायु का संचार कर उसमें जीवन्तता प्रदान करता है।

किसी भी पत्र-पत्रिका के प्रकाशन के पूर्व उसका प्रकाशक पत्र की प्रभावी रीति-नीति तैयार करता है और उसे कुशल सम्पादक के हाथ में संचालन हेतु सौंप देता है। पत्र-पत्रिका का भविष्य उसी रीति-नीति पर ही टिका होता है। पत्र की रीति-नीति किस प्रकार की हो इस सम्बन्ध में मथुरा से प्रकाशित 'जैन सन्देश' के यशस्वी सम्पादक स्व० पण्डित कैलाशचन्दजी शास्त्री, वाराणसी ने लिखा था— 'मेरी दृष्टि से जैन पत्र-पत्रिकाओं की रीति-नीति में जैन दृष्टिकोण का भी संरक्षण होना चाहिए। यदि हम जैनत्व की कोई गहन मानवीय भूमिका मानते हैं और जैन सिद्धान्तों की रक्षा करना चाहते हैं तो सबसे पहले हमें उनकी रक्षा अपनी लेखन शैली से ही करनी चाहिए; अर्थात् लेखनी में सच्चाई हो, ईमानदारी हो, महज कटुक्तियाँ और कोरी आक्षेपात्मक भाषा न हो।

भारतवर्ष में पत्रकारिता का शुभारम्भ सन् १७८० में कलकत्ता के 'हिक्की गजट' से माना जाता है। हैदराबाद के बैंकटलाल ओझा द्वारा सम्पादित 'हिन्दी समाचारपत्र सूची भाग-१' का प्रकाशन सन् १९५० में हुआ जिसमें लगभग १०० जैन पत्र-पत्रिकाओं का विवरण समाविष्ट है। उक्त विवरण के अनुसार गुजराती में प्रकाशित 'जैन दिवाकर' सबसे प्राचीन जैन पत्र है जो अहमदाबाद से मासिक पत्र के रूप में सन् १८७५ में छगनलाल उम्मेदचन्द द्वारा प्रकाशित किया गया यह पत्र १९ वर्षों तक चला। इसके बाद सन् १८७६ में केशवलाल शिवराम द्वारा गुजराती में ही 'जैन सुधारस' का प्रकाशन प्रारम्भ हुआ जो मात्र एक वर्ष तक ही चल पाया।

सन् १८८० में प्रयाग से प्रकाशित 'जैन पत्रिका' को हिन्दी-भाषा की प्रथम जैन पत्रिका होने का गौरव प्राप्त है। इसके नाम का उल्लेख तो कई रिपोर्टों में प्रकाशित है पर अन्य विशेष जानकारी उपलब्ध नहीं है। सन् १८८४ में ब्र. जियालालजी, फर्रुखनगर (हरियाणा) द्वारा 'जैन' (हिन्दी) और 'जियालाल प्रकाश' का प्रकाशन (उर्दू) प्रारम्भ किया गया। इसी काल में अ.भा.दि. जैन शास्त्री परिषद् के मुख पत्र के रूप में सोलापुर (महाराष्ट्र) से 'जैन बोधक' का प्रकाशन हिन्दी और मराठी में रावजी सखाराम दोशी, गोरेलाल शास्त्री और पन्नालालजी सोनी के सम्पादकत्व में पाक्षिक रूप से किया गया, आगे चलकर यह पत्र केवल मराठी में ही प्रकाशित होता रहा।

जैन पत्रकारिता का यह प्रारम्भिक काल था। इस काल में 'जैन गजट' और 'जैन मित्र' जैसे हिन्दी समाचार- पत्रों का प्रकाशन प्रारम्भ हुआ। ये दोनों पत्र प्रकाशन के क्षेत्र में अब भी निरन्तरता बनाये हुए हैं। इस

युग के ख्यातिनाम पत्रों में 'जैन हितैषी' का नाम भी उल्लेखनीय है जिसके संस्थापक व सम्पादक पं. पन्नालालजी बाकलीवाल थे। बुलन्दशहर से ब्र. शीतलप्रसादजी द्वारा सम्पादित 'सनातन जैन' तथा बम्बई से प्रकाशित साप्ताहिक 'जैन प्रकाश' की भी अपनी विशिष्ट भूमिका थी।

स्वतन्त्रता पूर्व के ख्यातिनाम पत्रकारों में पं. पन्नालालजी बाकलीवाल, पं. नाथूरामजी प्रेमी, पं. जुगलकिशोरजी मुख्तार, बाबू कामताप्रसाद जैन, पं. दरबारीलाल जी सत्यभक्त, डॉ. ज्योतिप्रसाद जैन, पं. कैलाशचन्दजी शास्त्री, ब्र. शीतलप्रसाद, डॉ. हीरालाल, डॉ. ए.एन. उपाध्ये, पं. के. भुजबलि शास्त्री, पं. चैनसुखदासजी न्यायतीर्थ तथा पं. परमेष्ठीदासजी आदि प्रमुख थे।

इतिहासविद् डॉ. ज्योतिप्रसाद जैन अपने लेख 'मेरी पत्रकारिता के पचास वर्ष' में पं. जुगलकिशोरजी मुख्तार की प्रशंसा निम्न शब्दों में करते हैं -- 'पण्डित जुगलकिशोरजी मुख्तार मेरी दृष्टि में अपने युग के और अपने ढंग के अद्वितीय एकनिष्ठ खोजी शोधी साहित्यान्वेषक समालोचक थे। उन जैसा प्रखर सम्पादकाचार्य जैन समाज में शायद अब तक अन्य नहीं हुआ।

आज जनसंचार माध्यमों के कारण पत्रकारिता का क्षेत्र लोकप्रियता के प्रथम पायदान पर प्रतिष्ठापित हो चुका है। अनेक विश्वविद्यालयों में जनसंचार एवं पत्रकारिता के विभिन्न पाठ्यक्रम चल रहे हैं जिनसे प्रशिक्षित होकर आए लोग इस पेशे से जुड़कर अपार ख्याति अर्जित कर रहे हैं। पहले न तो कोई प्रशिक्षण की व्यवस्था थी और न इसे कमाई का साधन ही बनाया गया था। सम्पादन कला क्या होती है, इससे किसी का कोई सरोकार नहीं था। सम्पादन की कार्यशैली क्या और कैसी हो, इस सम्बन्ध में सूरत से प्रकाशित 'जैन मित्र' लिखता है— 'सम्पादक का कार्य केवल बाहर से आए हुए लेखों का संग्रह कर, छाप कर प्रकाशित कर देने मात्र का ही नहीं है वरन् उसका कार्य देश, जाति, धर्म, मान, मर्यादा, राज्य नीति पर प्रतिसमय बुद्धि दौड़ती हुई रखकर अतुल परिश्रम करने का है। उसके ऊपर उक्त सब बातों का भार है। अत: जिस पुरुष में इतने भार उठाने का बल है वही सच्चा सम्पादक कहा जा सकता है।

डॉ. संजीव भानावत ने अपने शोध ग्रन्थ 'सांस्कृतिक चेतना और जैन पत्रकारिता' में पत्रकारिता के इतिहास को तीन खण्डों में विभाजित किया है --

(१) प्रथम युग सन् १८८० से १९००

(२) द्वितीय युग सन् १९०१ से १९४७

(३) तृतीय युग सन् १९४८ से आज तक

प्रथम युग (सन् १८८० से १९०० तक)

इस काल में प्रकाशित जैन गजट, जैन मित्र, जैन बोधक, जैन दिवाकर, जैन पत्रिका, जैन हितैषी तथा सनातन जैन जैसी पत्र-पत्रिकाएं प्रमुख हैं।

द्वितीय युग (सन् १९०१ से १९४७ तक)

इस युग में दिगम्बर जैन, श्रीजैन सिद्धान्त भास्कर, जैन प्रकाश, प्रगति आणि जिनविजय, अहिंसा, जैन जगत्, जैन प्रभात, वीर, जैन प्रदीप, संगम, जैन सन्देश, जिनवाणी, सनातन जैन, जैन महिलादर्श, आत्मधर्म,

जैन प्रचारक, वीरवाणी, महावीर सन्देश, श्वेताम्बर जैन तथा अनेकान्त जैसे पत्रों का उदय हुआ।

तृतीय युग (सन् १९४८ से आज तक)

इस युग में अहिंसावाणी, श्रमण, जैन भारती, सन्मति, कथालोक, सन्मति सन्देश, तीर्थङ्कर, सन्मति वाणी, शाश्वत धर्म, अणुव्रत, दिशाबोध, जिनभाषित, तित्थयर, वीतराग वाणी, तीर्थङ्कर वाणी, वीतराग विज्ञान, जैनपथ प्रदर्शक, अर्हत्वचन, शोधादर्श, समन्वय वाणी, अहिंसा महाकुम्भ, श्रमणोपासक, श्राविका, श्री अमर भारती, वीर निकलंक, धर्ममंगल तथा सम्यग्ज्ञान जैसी शताधिक पत्र-पत्रिकाएं अस्तित्व में आई।

वर्तमान जैन पत्रकारिता स्वरूप और समीक्षा

आज जैन पत्रकारिता का लगभग १२५ वर्ष का लम्बा इतिहास है। अपने अल्प साधनों और सीमित क्षेत्र में रहकर मानव मूल्यों की प्रतिष्ठापना में उसका महत्त्वपूर्ण योगदान रहा है। वर्तमान में जैन समाज की विभिन्न भाषा- भाषी लगभग ४५० जैन पत्र-पत्रिकाएं अस्तित्व में हैं। जैन गजट, जैन मित्र, जैन बोधक तो शताधिक वर्ष प्राचीन जैन समाचारपत्र हैं ही जिनका गौरवशाली इतिहास रहा है। वीर, जैन सन्देश, जैन जगत्, जैन प्रचारक, जिनवाणी, जैन प्रकाश, अहिंसा वाणी तथा अनेकान्त भी दीर्घजीवी पत्र-पत्रिकाएं हैं जिनका प्रकाशन निरन्तर जारी है। वर्तमान में शोधादर्श, तीर्थङ्कर, दिशाबोध, जिनभाषित, अणुव्रत, सन्मति सन्देश, श्रमण, प्राकृत विद्या, धर्म मंगल, पार्श्व ज्योति, वीतराग वाणी, समन्वय वाणी तथा अर्हत् वचन जैसी पत्र-पत्रिकाएं समाज को उनकी मानसिक खुराक देने में पूर्णतः समर्थ हैं। वर्तमान में दिगम्बर जैन समाज की ही शताधिक पत्रिकाएं प्रकाशित हो रही हैं जिन्हें दो भागों में विभाजित किया जा सकता है— (१) संस्थागत, (२) व्यक्तिगत।

निष्कर्ष

जैन समाचार पत्र-पत्रिकाओं को चिन्तनशील लेखक वर्ग तैयार करने की ओर ध्यान देना आज के समय की आवश्यकता है। स्तरीय पत्र-पत्रिकाओं का प्रकाशन पाठक वर्ग को आकर्षित कर सकता है। पाठक वर्ग का विस्तार उद्योगपतियों को विज्ञापन देने को आकर्षित करेगा, जिससे जैन समाचार-पत्रों को आर्थिक संकट से मुक्ति मिल सकेगी। बालवर्ग, युवावर्ग तथा महिलावर्ग की पत्रिकाएं समाज में नैतिक जागरण का कार्य बखूबी कर सकती हैं। पत्रकारों को शिक्षण-प्रशिक्षण के द्वारा कुशल पत्रकारों की श्रेणी में लाया जा सकता है। मीडिया प्रचार-प्रसार का सशक्त माध्यम है। समाज यदि इस दिशा में प्रयत्न कर अपना चैनल प्रारम्भ करे और उसमें सामाजिक गतिविधियों के साथ सन्तों/विद्वानों के प्रभावी प्रवचन, जैन कथानकों पर आधारित लोकप्रिय सीरियलों का निर्माण कर उनका प्रसारण करे तो नयी पीढ़ी में संस्कार दृढ़ होंगे, जिससे एक स्वस्थ समाज का निर्माण किया जा सकता है।

●

जैन पुस्तकालयों के विकास के उपाय एवं दिशा-निर्देश

– डॉ. संजीव सर्राफ

जैनागमों में शिक्षा एवं ज्ञान के बारे में विस्तृत चर्चाएं मिलती है–

जेण तच्चं विबुज्झेज्ज, जेण चित्तं णिरुज्झदि।
जेण अत्ता विसुज्झेज्ज, तं णाणं जिणसासणे।।

जिनवाणी में उसी को ज्ञान कहा गया है जिससे तत्त्वों का बोध होता है, जिससे चित्त का निरोध होता है तथा जिससे आत्मा विशुद्ध होती है, यह आध्यात्मिक शिक्षा का स्वरूप है।

जैनागमों में आचार्य, उपाध्याय एवं श्रमण-श्रमणियों को विद्या प्रदान करने का अधिकार दिया गया। आचार्य श्रुतज्ञान के प्रकाशक होते है। कहा है—

जह दीवा दीवसमं, पईप्पए सो य दीप्पए दीवो।
दीवसमा आयरिया, दिप्पंति अप्पं च परं च दीवंति।।

प्राचीनकाल में जब पुस्तकों का प्रचलन नहीं था तब स्वाध्याय किया जाता था। उस समय ज्ञान को कण्ठस्थ रखनेका प्रचलन था। शिष्य गुरुओं से शास्त्र श्रवण कर उन्हें अपनी स्मृति में संजोकर रखते थे। जैन आचार्यों ने स्वाध्याय के निम्न पांच अंगों का विस्तृत विवेचन किया है। वाचना, पृच्छना, अनुप्रेक्षा, आम्नाय और धर्मोपदेश।

आज जो जैन-साहित्य उपलब्ध है वह सब भगवान् महावीर की उपदेश-परम्परा से सम्बन्धित है, उनके निर्वाण के बाद उनके गणधरों के संगठित प्रयासों से जैन-साहित्य के ग्रन्थों पाण्डुलिपियों के संग्रहण का भी कार्य होता रहा। भगवान् महावीर के प्रधान गणधर गौतम इन्द्रभूति थे। उन्होंने भगवान् महावीर के उपदेशों को अवधारण करके बारह अंगों व चौदह पूर्व के रूप में निबद्ध किया। जो इन अंगों और पूर्वों का परगामी होता था, उसे श्रुतकेवली कहा जाता था। भगवान् महावीर के निर्वाण के पश्चात् तीन केवलज्ञानी हुए और उनके पश्चात् पांच श्रुतकेवली हुए जिनमें से अन्तिम श्रुतकेवली भद्रबाहु थे। पाटलिपुत्र में भद्रबाहु स्वामी की अनुपस्थिति में जो अंग साहित्य संकलित किया गया, दूसरे पक्ष ने उसे स्वीकार नहीं किया, यहीं से जैन संघ में श्वेताम्बर समुदाय का जन्म हुआ और साहित्य जुदा-जुदा हो गया।

जिनवाणी मोक्ष की सीढ़ी है। हमारे आचार्यों ने यहाँ तक कहा है कि जिनवाणी की पूजा साक्षात् जिनेन्द्र की पूजा है, परन्तु दुर्भाग्य से जैन धर्मावलम्बी मध्यकाल से लेकर अभी तक इस सत्य तथ्य से कम परिचित एवं कम प्रभावित रहे इसलिए जैन-ग्रन्थों में निहित विश्व के सर्वश्रेष्ठ ज्ञान-विज्ञान का ठोस व्यापक शोधपूर्ण ज्ञान स्वयं भी नहीं रखते है तथा इसका प्रचार-प्रसार विश्व मंच तथा विश्व स्तर पर नहीं करते, कराते हैं।

जैन पुस्तकालयों के वर्तमान स्वरूप में पाठक को सूचनाओं के संग्रह में कई कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है, क्योंकि जैन पुस्तकालय न तो व्यवस्थित है और न ही अन्तर्राष्ट्रीय मानकों का पालन कर रहे है। इन कठिनाइयों को दूर करने के लिए प्रौद्योगिकी का सहारा लिया जाना चाहिए, जो कि आज उपलब्ध है। इसलिए वर्तमान की आवश्यकता है तथा युग की मांग है कि जैन-साहित्य में निहित समस्त सिद्धान्तों का व्यापक शोधपूर्ण अध्ययन-अध्यापन, प्रचार-प्रसार हो। एतदर्थ जैन पुस्तकालयों के विकास की नितान्त आवश्यकता है, क्योंकि मनुष्य को प्राप्त होने वाली सूचनाओं का सबसे बड़ा माध्यम पुस्तकें तथा पुस्तकालय है।

अभी तक जिस संगठित व शक्तिशाली स्वरूप को धारण कर जैनधर्म राष्ट्रीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय स्तर पर प्रतिष्ठा प्राप्त कर रहा है वह सर्वगुणग्राही है; किन्तु जैनधर्म आधारित पुस्तकालयों की स्थिति, उनकी भूमिका, उनके कार्य तथा उनकी सेवाओं को देखकर ऐसे लगता है कि पुस्तकालयों के रख-रखाव, प्रबन्धन, व्यवस्थापन, उनके भवन, अध्ययन कक्ष तथा अन्य ज्ञान-विज्ञान विषयक सुविधाओं का अभाव पुस्तकालय की अवधारणा के अनुकूल नहीं बैठते है फिर भी प्राचीन हस्तलिखित संग्रहालयों एवं शोध प्रतिष्ठानों की महत्ता निःसन्देह निर्विवाद है।

जैन पुस्तकालयों के विकास हेतु उपाय एवं दिशा-निर्देश

वर्तमान की स्थितियों को देखते हुए जैन पुस्तकालय के विकास के क्या उपाय हो तथा उसके लिए कौन से दिशा-निर्देश तय किये जाये इस पर विचार करना चाहिए। वर्तमान समय में सूचना प्रौद्योगिकी के महत्त्व को देखते हुए जैन पुस्तकालयों के विकास के लिए निम्नलिखित उपायों एवं दिशा-निर्देशों को अपनाना होगा ताकि उनका समुचित विकास हो सके तथा जिनवाणी को आगामी पीढ़ियों के लिए सुरक्षित रखा जा सके।

१. जैन पुस्तकालय अद्यतन सामग्री भी क्रय करें जिससे पुस्तकालय विकसित हो सके।

२. जैन पुस्तकालय में योग्य पुस्तकालय विज्ञान की उपाधि धारक तथा सूचना तकनीकी की जानकारीयुक्त विशेषज्ञ उचित मानदेय पर नियुक्त किया जाये।

३. जैन-साहित्य का सूचीकरण अन्तर्राष्ट्रीय मानकों के अनुसार किया जाये ताकि भविष्य में उसे इण्टरनेट पर उपलब्ध कराया जा सके।

४. विश्व के अन्य पुस्तकालयों के साथ भी जैन पुस्तकालयों का सूचना आदान-प्रदान का सम्बन्ध होना चाहिए।

५. जैन पुस्तकों के प्रकाशन में भी अन्तर्राष्ट्रीय पुस्तक क्रमांक आदि का प्रयोग किया जाये ताकि उसे विश्व पटल पर लाया जा सके।

६. जैन पुस्तकालय जैन पत्रिकाओं व अन्य सामयिक पत्रिकाओं में प्रकाशित जैनधर्म से सम्बन्धित लेखों की एक समसामयिक सूची प्रकाशित करे।

७. जैन पुस्तकालय संघ कीस्थापना की जाये जिसके सदस्य जैन विद्वान्, जैन पुस्तकालयाध्यक्ष, जैन प्रकाशक व जिनवाणी को समर्पित व्यक्ति हो।

८. जैन पुस्तकालयों में सूचना तकनीकी का उपयोग करके उनकी नेटवर्किंग पर विचार किया जाये।

९. जैन पुस्तकालयों के लिए एक आधुनिक डिजिटल लैब की आवश्यकता है जो कि ग्रन्थों के संरक्षण के लिए प्रभावी भूमिका अदा कर सके इसके लिए निम्नलिखित उपकरणों की आवश्यकता होगी।

* डिजिटल कैमरा/स्कैनर, * कम्प्यूटर, * प्रिण्टर, * आवश्यक साफ्टवेयर, * सी.डी./डी.वी.डी.

१०. जैन-साहित्य के फुलटेक्स्ट डाटाबेस का निर्माण किया जाये ताकि उसे विश्व के किसी भी कोने से प्राप्त किया जा सके।

११. अधिकांश जैन-साहित्य अभी तक आम जनता की पहुँच से परे है उसे सरल भाषा में सर्वसुलभ कराया जाये।

१२. जैन पुस्तकालय अनुवाद के माध्यम से जैन-ग्रन्थों को अन्य भाषाओं में भी अनुवादित करें ताकि अन्य देश के नागरिक भी जैन-साहित्य से अवगत हो सके।

१३. बच्चों में जैन-साहित्य को लोकप्रिय बनाने के लिए एनीमेशन फिल्में व कामिक्स प्रभावी भूमिका निभा सकती है।

१४. आज जैन पाठशालाओं का ह्रास हो रहा है अतः जैन पाठशालाओं में आधुनिक तकनीकों का प्रयोग किया जाये।

जैन-साहित्य सम्पूर्ण राष्ट्र में अनेक संस्थाओं में फैला हुआ है इसलिए जैन पुस्तकालय के विकास के लिए यह आवश्यक है कि सम्पूर्ण जैन-साहित्य की एक संघ सूची और सार्वभौमिक ग्रन्थ-सूची नियन्त्रण के तहत सम्पूर्ण जैन-साहित्य का सूचीकरण किया जाय, इस प्रक्रिया से विश्व को सम्पूर्ण जैन-साहित्य और उसके प्राप्तिस्थल की जानकारी सुलभ हो जायेगी। पूरे देश में कम से कम एक स्थान ऐसा होना चाहिए जिसमें विश्व में प्रकाशित सम्पूर्ण जैन-साहित्य सुलभ हो जाय। इसके लिए एक जैन-साहित्य संग्रहण के प्रोजेक्ट को मूर्तरूप देना होगा।

आज जब वैश्वीकरण एवं भूमण्डलीकरण की भावना से विश्व एक गांव के रूप में बदल रहा है, यह आवश्यक है कि हम जैन पुस्तकालयों को सार्वभौम ज्ञान के नानाविध विषय-ग्रन्थों से परिपूर्ण करें। जैन पुस्तकालयों की यह भूमिका भी अपनी परिधि से बाहर निकालकर व्यापक दृष्टिकोण प्रदान करने में मदद करेगी।

●

Jaina Kings in India

- Prof. Satya Ranjan Banerjee

From the pages of Indian history, we know that there were some Jaina kings in the past. From hoary antiquity down to the 15th century A.D. there were some Jaina kings who ruled for sometime in the annals of Indian history.

In the pre-Vedic and Vedic history, the Tirthaṅkaras were the rulers. But they have all renounced the world, owing to the impermanent nature of life leaving aside the kingdom to their sons and grandsons. The Ṛṣabhadeva was the first Tīrthaṅka who ruled this world for many years and introduced the agriculture system and other aspects connected with it. All other Tīrthaṅkaras, from Ajit to Nami, i.e. from the second to the twenty first, equally ruled India and made some progress of the country. But as their history is not yet clear to us, we do not know their contributions a rulers.

During the late Vedic period (i.e. from 1000-600 B.C., i.e., from the period of the Brāhmaṇas, Āraṇyakas and the Upaniṣads) came three Tīrthaṅkaras, such as, Ariṣṭanemī (1000 B.C.), Pārsvanātha (817 B.C.) and Mahāvīra (599-527 B.C.). The social and political conditions of India in those days were somewhat trirbulent. In fact, we do not know anything about Ariṣṭanemi except the fact that he was a relative to Kṛṣṇa who is considered a historical puran belonging to 1000 B.C., and so also Ariṣṭanemi. It is said that Pārśvanātha was the real reformer of Jainism and Mahāvīra gave a final shape to it. It is from Mahāvīra that we know the history of Jainism uninterruptedly.

In the 4th century B.C. at the time of Maurya Chandragupta (324-300 B.C.), there was a femine for twelve years which made a group of people led by Bhadrabahu migrated to the south, particularly to Śravaṇa-Belagola (Mysore) which had established Jainism in the south. The Maurya Chandragupta, it is said by the Jains, was a Jaina and died in the south.

Aśoka (273-236 B.C.), The grandson of Chandragupta, succeeded to the throne of Paṭliputra, Even though the Jains say that Aśoka was a Jaina, There was no significant achievement ofJainism in his time.

So for the history of Jainism in Based on some facts which we will have to ransack from the pages o history and which are overlaid with contovesialand contradictory views. But the real Jaina king was kharavela who ruled in the 3d, 2nd century B.C. in Orissa.

In the second century B.C. even though king samprati, a grandson of Aśoka, was responsible for the spread of Jainism to Malwa, The Jaina sage Kālakācārya was also equally responsible to spread Jainism in Malwa in the first century B.C. In the same second century B.C. a group of Jaina community migrated to Mathura and Ujjagini. In Mathura we have some ruins of a Jaina strine and a small number of inscriptions engraved on Jaina images. Ujjayini was also a stronghold of Jainism.

In the 5th century A.D. in the classical Age, he second council at Valabhi was held in 454 or 467 A.D. under, the able guidance of Devardhigaṇi Kṣmāśramaṇa to codify the Jaina cononical texts at the time of king Dhruvasena I of the Maitraka dynasty of Valabhi who extolled as a Jaina convert. Though history adoubts it, but the Jaina tradition asserts it.

In the 6th and 7th centuries A.D. the Gaṅga kings of Mysore, through not Jains, were very much attached to Jainism. In a similar way, the Kodamba rulers of Vaijayantī, showed unusual respect to Jainism. The Chaulukya's of Bādāmi did not show much respect to Jainism, but Pulakesin II (610-11-642 A.D.) favoured much to Jainism.

In the tenth century A.D., Cāmuṇḍarāya, the student of Digambara Nemicandra, who was the minister and general of the Gaṅga princes Mahāsiṃha (dies in 974 A.D.) and Rācamalla or Rājamalla II (974-984 A.D.) ereded the famous colossal statue of Gommaṭa in Śravaṇabelagola (Mysore) in about 980 A.D.

In the 12th century, Jayasiṃha who was a convert Jaina, ruled Gujarat from 1159 to 1172 A.D. During his reign there were two kings named Jayasiṃha (1093-1143 A.D.) and Kumārapāla (1143-1174 A.D.). Jayasiṃha was the Choulukya king Jayasiṃha Siddharāja.

In the 13th century in the history of Gujarāt the name Mahāmātya Vastupāla, through a time minister, practically ruled Gujarat at that time like a king and in his literary circles there were Jaina poets and Sādhus who contributed so much that Vastupāla became famous as a king.

In this way, the contributions of the Jain kings to the growth of Jainism is described in this paper.

●

प्रस्तावित कार्यक्रम

प्रथम दिवस : 28 दिसम्बर, 2005 बुधवार

विषय : **वन्दे तीर्थंकरम् और श्रमण संस्कृति**

प्रातः 8 बजे से सम्मेलन हेतु विद्वानों का पंजीयन एवं पारस्परिक परिचय

प्रातः 11 बजे से 1 बजे दोपहर – विद्वत् सम्मेलन उद्घाटन सत्र

दोपहर 2.30 से 5 बजे – शोध आलेख प्रस्तुतिकरण सत्र

रात्रि 7.30 से 10 बजे – शोध आलेख प्रस्तुतिकरण सत्र

द्वितीय दिवस : 29 दिसम्बर, 2005 वीरवार

विषय : **श्रुतकेवली भद्रबाहु और प्रमुख जैनाचार्यों का अवदान**

प्रातः 8 बजे से 11 बजे – चतुर्विंशति जिनाभिषेक और सर्वतोभद्र पूजन

दोपहर 1.30 से 5 बजे – शोध आलेख प्रस्तुतिकरण सत्र

रात्रि 7.30 से 10 बजे – शोध आलेख प्रस्तुतिकरण सत्र

तृतीय दिवस : 30 दिसम्बर, 2005 शुक्रवार

विषय : **भगवान् बाहुबली प्रणति और जैना कला वैभव**

प्रातः 8 बजे से 11 बजे – चन्द्रगिरि-दर्शन एवं शिलालेख-अध्ययन

दोपहर 1.30 से 5 बजे – शोध आलेख प्रस्तुतिकरण सत्र

रात्रि 7.30 से 10 बजे – शोध आलेख प्रस्तुतिकरण सत्र

चतुर्थ दिवस : 31 दिसम्बर, 2005 शनिवार

विषय : ब्राह्मी लिपि और प्राकृत-अपभ्रंश श्रुतार्चन

प्रातः 8 बजे से 11 बजे – जैन विदुषी अधिवेशन सत्र

दोपहर 1.30 से 3 बजे – अवशिष्ट शोध आलेख प्रस्तुतिकरण सत्र

दोपहर 3 से 5 बजे – विद्वत् सत्कार एवं समापन सत्र

पंचम दिवस : 1 जनवरी, 2006 रविवार

विषय : आगम, अध्यात्म और सिद्धान्त

प्रातः 8 बजे से 11 बजे – जैन पण्डित अधिवेशन सत्र

उद्घाटन, व्याख्यान एवं संवाद सत्र

दोपहर 1.30 से 5 बजे – तीन प्रवचनकार वरिष्ठ पण्डितों के विशिष्ट व्याख्यान

रात्रि 7.30 से 10 बजे – पण्डित सत्कार एवं समापन सत्र

अखिल भारतीय जैन विद्वत् सम्मेलन

पावन प्रसंग : 4 फरवरी से 19 फरवरी 2006 तक समायोजित होने वाले विश्वप्रसिद्ध अतिशयकारी गोम्मटेश्वर बाहुबली भगवान् की पावन प्रतिमा का बारह वर्षीय महामस्तकाभिषेक महोत्सव के भव्य आयोजन के पूर्व आयोजित हो रहे अनेक आयोजनों की श्रृंखला में जैन विद्या सम्बन्धी ज्ञान यज्ञ का पंचदिवसीय महत्त्वपूर्ण अकादमिक आयोजन।

उद्देश्य : श्रमण संस्कृति, तीर्थंकर परम्परा, जैनाचार्यों की महती श्रुतसेवा, अहिंसा और शान्ति के अग्रदूत भगवान् ऋषभदेव, चक्रवर्ती भरत, तपस्वी सम्राट् बाहुबली, श्रुतकेवली भद्रबाहु के साथ–साथ जैनदर्शन, साहित्य, संस्कृति और कला का भारतीय संस्कृति को विशेष योगदान, निस्पृही साधक दिगम्बर जैन आचार्यों और समाजसेवी, सदाचारी जैन श्रावकों के बहुमूल्य अवदान पर व्याख्यान, शोध आलेख–वाचन और तत्त्वचर्चा आदि के माध्यम से सम्पूर्ण देश के बहुश्रुत जैन विद्वानों, विदुषियों, अन्यान्य मनीषियों और पण्डितों द्वारा एक ही मंच पर मिलकर उजागर करना।

प्रतिभागी : देश–विदेश के मूर्धन्य श्रुतसेवा में समर्पित शताधिक जैन विद्वान्, साहित्यकार, पत्रकार, प्रवचनकार, प्रतिष्ठाचार्य, पण्डितवर्ग, विदुषी महिलाओं और अन्यान्य शोध–अध्येताओं का विशाल समुदाय।

विशेष आकर्षण : सम्मेलन के उद्घाटन एवं समापन तथा अकादमिक सत्रों के प्रमुख अतिथियों, अध्यक्षों एवं संयोजकों के रूप में देश के लब्धप्रतिष्ठित मनीषियों, साहित्यप्रेमियों और राजनेताओं के उद्बोधनों का लाभ तथा श्रवणबेलगोला में विराजित तपस्वी दिगम्बर जैन श्रमण संघों और भट्टारकों के पावन दर्शन और तीर्थ वन्दना का सुअवसर।

पुण्यार्जन सुयोग : विश्व में सर्वोत्तम कलाकृति गोम्मटेश बाहुबली के दर्शन, भारतीय इतिहास की धरोहर चन्द्रगिरि में सुरक्षित प्राचीन शिलालेखों और मन्दिरों का अवलोकन तथा श्री जैन मठ में सुरक्षित ताड़पत्रीय प्राचीन जैन शास्त्रों एवं दुर्लभ रत्न प्रतिमाओं के दर्शन आदि।

जैन पुस्तक प्रदर्शनी : शताधिक मनीषियों द्वारा प्रकाशित हजारों जैन विद्या सम्बन्धी विशाल साहित्य की प्रदर्शनी एवं उनका प्रत्यक्ष अवलोकन। सम्मेलन में सम्मिलित हो रहे विद्वानों की परिचय पुस्तिका एवं इन द्वारा प्रस्तुत होने वाले शोध आलेखों की सार–संक्षेप पुस्तिका का लोकार्पण।